कृष्ण की आत्मकथा
प्रलय
मनु शर्मा

प्रलय

मुझे देखना हो तो तूफानी सिंधु की उत्ताल तरंगों में देखो। हिमालय के उत्तुंग शिखर पर मेरी शीतलता का अनुभव करो। सहस्रों सूर्यों का समवेत ताप मेरा ही ताप है। एक साथ सहस्रों ज्वालामुखियों का विस्फोट मेरा ही विस्फोट है। शंकर के तृतीय नेत्र की प्रलयंकर ज्वाला मेरी ही ज्वाला है। शिव के तांडव में हूँ; प्रलय में मैं हूँ, लय में मैं हूँ, विलय में मैं हूँ। प्रलय के वात्याचक्र का नर्तन मेरा ही नर्तन है। जीवन और मृत्यु मेरा ही विवर्तन है। ब्रह्मांड में मैं हूँ, ब्रह्मांड मुझमें है। संसार की सारी क्रियमाण शक्ति मेरी भुजाओं में है। मेरे पगों की गति धरती की गति है। आप किसे शापित करेंगे, मेरे शरीर को? यह तो शापित है ही—बहुतों द्वारा शापित है; और जिस दिन मैंने यह शरीर धारण किया था उसी दिन यह मृत्यु से शापित हो गया था।

कृष्ण के अनगिनत आयाम हैं। दूसरे उपन्यासों में कृष्ण के किसी विशिष्ट आयाम को लिया गया है किंतु आठ खंडों में विभक्त इस औपन्यासिक शृंखला 'कृष्ण की आत्मकथा' में कृष्ण को उनकी संपूर्णता और समग्रता में उकेरने का सफल प्रयास किया गया है। किसी भी भाषा में कृष्णचरित को लेकर इतना विशाल और प्रशस्त कैनवस का प्रयोग नहीं किया गया है।

यथार्थ कहा जाए तो 'कृष्ण की आत्मकथा' एक उपनिषदीय कृति है।

'कृष्ण की आत्मकथा'

शृंखला के आठों ग्रंथ

- नारद की भविष्यवाणी
- दुरभिसंधि
- द्वारका की स्थापना
- लाक्षागृह
- खांडव दाह
- राजसूय यज्ञ
- संघर्ष
- प्रलय
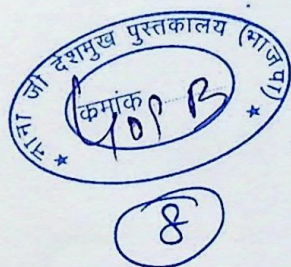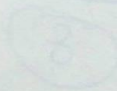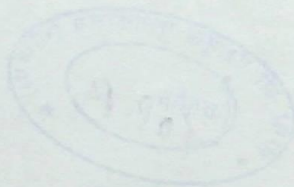
कृष्ण की आत्मकथा -८

प्रलय

मनु शर्मा
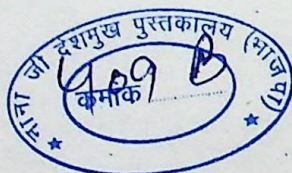
प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
४/१९ आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२
संस्करण • २०१५

मूल्य • तीन सौ रुपए (प्रति खंड)
दो हजार चार सौ रुपए
(आठ खंडों का सैट)
मुद्रक • नरुला प्रिंटर्स, दिल्ली

PRALAYA (Krishna Ki Atmakatha Vol. VIII)
novel by Manu Sharma
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
Vol. VIII Rs. 300.00 ISBN 978-93-5186-508-7
Set of Eight Vols. Rs. 2400.00 ISBN 978-93-5186-509-4

आत्मकथ्य

मुझे देखना हो तो तूफानी सिंधु की उत्ताल तरंगों में देखो। हिमालय के उत्तुंग शिखर पर मेरी शीतलता का अनुभव करो। सहस्रों सूर्यों का समवेत ताप मेरा ही ताप है। एक साथ सहस्रों ज्वालामुखियों का विस्फोट मेरा ही विस्फोट है। शंकर के तृतीय नेत्र की प्रलयंकर ज्वाला मेरी ही ज्वाला है। शिव का तांडव मैं हूँ; प्रलय में मैं हूँ, लय में मैं हूँ, विलय में मैं हूँ। प्रलय के वात्याचक्र का नर्तन मेरा ही नर्तन है। जीवन और मृत्यु मेरा ही विवर्तन है। ब्रह्मांड में मैं हूँ, ब्रह्मांड मुझमें है। संसार की सारी क्रियमाण शक्ति मेरी भुजाओं में है। मेरे पगों की गति धरती की गति है। आप किसे शापित करेंगे, मेरे शरीर को? यह तो शापित है ही—बहुतों द्वारा शापित है; और जिस दिन मैंने यह शरीर धारण किया था उसी दिन यह मृत्यु से शापित हो गया था।

एक

हस्तिनापुर जाते हुए पता चला कि सात्यकि द्वारका में बैठा है। मैंने बहुत अनुमान लगाया। दुर्वासा के शाप के धुएँ से मेरे मन की आँखें कड़ुवाने लगीं। किंतु ऋषि के शाप पर हमारा क्या वश! जो होना है, वह होकर रहेगा। फिर उसपर अधिक सोचना क्या! जब मैं कालिय के फन पर वंशी बजा सकता हूँ तब मुझे इस महानाश की संभावना पर भी वंशी बजानी चाहिए। चिंताहीन होकर मरना चिंतित होकर जीने से लाख गुना अच्छा है। बुद्धि ने ही मन को सँभाला और उसे तनाव की कसी डोर से धरती पर उतारा। तब वह प्रकृति के साथ नाच उठा। आकाश के नाचते मेघ तथा नदियों के उमड़ते यौवन ने उसमें उन्माद भरा और वंशी बजाने लगा। प्रकृति के इस महोत्सव में मैं भी सम्मिलित हो गया।

रास्ते में मैंने कई स्थानों पर देखा कि आदिवासी स्त्रियाँ गाते हुए अन्न की रोपाई कर रही हैं। उन्हें कोई आकांक्षा नहीं, इसलिए कोई चिंता नहीं, भय नहीं। वे हमारे रथों के पहियों को गुरते देखकर मुसकराती हुई खड़ी हो जाती थीं। ऐसी निर्दोष मुसकराहट मेरे पास नहीं। यह तो उन्होंने अपने चारों ओर बिखरी प्रकृति से ली है। जीवन भर मुसकराते रहने के बाद भी मेरी मुसकराहट में ऐसी उन्मुक्तता नहीं—और न वैसी निश्चिंतता थी। मेरी मुसकराहट तो बहुधा बुद्धिजन्य होती थी—ऊपर से ओढ़ी हुई। उनकी मुसकराहट भीतर से निकली थी; जैसे पर्वत के हृदय से फूटकर कोई झरना निकले।

तब क्यों नहीं मैं भी उन्हीं आदिवासियों के साथ हो जाऊँ, नाचूँ, गाऊँ, उत्सव मनाऊँ? पर मन बोल पड़ा—'यह तुम क्या सोचने लगे? जन्म के पूर्व से ही मनुष्य अपने कर्मों की शृंखला से आबद्ध है। पर संसार की दृष्टि हमारे कर्मों पर कम और उसके प्राप्त फल पर अधिक होती है। इसीलिए लोग कहते हैं कि जन्म के साथ मनुष्य का भाग्य उसके कपाल पर लिख दिया जाता है। वस्तुतः वह भाग्य नहीं, उसका कर्मफल है। परमात्मा ने हर व्यक्ति को किसी विशेष कर्म के लिए

बनाया है। तुम्हें भी कुछ कर्मों का लंबा दायित्व मिला है। तुम अपना कर्म करो, वे आदिवासी स्त्रियाँ अपना कर्म कर रही हैं।'

जब मैं द्वारका पहुँचा, हर बार की तरह मेरी अगवानी हुई; पर इस अगवानी में प्रसन्नता से अधिक जिज्ञासा थी। हर व्यक्ति यह जानना चाहता था कि संजय से क्या बातें हुईं? क्या पांडवों को उनका राज्यभाग सरलता से मिल जाएगा?

मेरा उत्तर होता—"हम जहाँ खड़े थे वहीं खड़े हैं। इससे अधिक मेरे पास कहने को कुछ नहीं है।" आपको विश्वास नहीं होगा कि मेरी प्रतीक्षा कर रहे सात्यकि ने भी अपनी समस्या व्यक्त करने के पहले इसी प्रकार के प्रश्न पूछे। जबकि मेरी जिज्ञासा उसके आगमन को लेकर अधिक थी।

वहाँ से सात्यकि मेरे साथ हो गया। उसने बताया—"कृतवर्मा के सेनापति की हत्या हो गई।"

"यह कैसे हुआ?"

"यही तो कुछ ज्ञात नहीं है। एक प्रभात उसका शव उद्यान में पड़ा पाया गया; पर तन पर कहीं चोट का निशान नहीं था। उसका शरीर नीला अवश्य पड़ गया था।"

"हो सकता है, उसे साँप ने काटा हो।" मैंने कहा।

"पर लोग इसपर विश्वास ही नहीं कर रहे हैं। प्रचार तो यह हो रहा है कि यह कृत्य वृष्णियों का है और सेनापति की हत्या में मेरा हाथ है।"

ज्ञातव्य है कि कृतवर्मा अंधक था और सात्यकि वृष्णि। दोनों में अनबन भी थी। इसी आधार पर इस अफवाह को बड़ी हवा मिली।

मैंने मुसकराते हुए सात्यकि से कहा, "तब तो उसे सर्प से अधिक संदेह के सर्प ने काटा है—और यह भी हो सकता है कि दुर्वासा के शाप का विष रेंगने लगा हो।"

"आपका अनुमान सत्य ही है; पर उसकी हत्या के कारण का तो पता चलना चाहिए।" सात्यकि बोला, "मुझे तो लगता है कि उसकी हत्या के पीछे कृतवर्मा के पुत्र हृदीक का हाथ है; क्योंकि उससे उसकी कभी नहीं पटती थी।"

"यदि इस हत्या के मूल में हृदीक है तब उसने ही विष देने की योजना बनाई होगी।"

"सुना है, इसके पहले की संध्या को हृदीक ने एक भोज दिया था, जिसमें सेनापति भी था।"

"तब तो मेरी आशंका और भी पुष्ट होती है। तब तुम्हें अपने गुप्तचरों से

वास्तविकता का प्रचार कराना चाहिए।'' मैंने सात्यकि से कहा, ''लोगों के संदेह की दृष्टि तुम्हारी ओर से मुड़ जाएगी।''

''आप क्या समझते हैं, हम लोगों ने वैसा किया नहीं!'' उसने बताया—''पर लोगों के मस्तिष्क पर दुर्वासा का शाप ही छाया है।''

''छाने दो। संदेह की कोई ओषधि नहीं है।'' मैंने कहा, ''यह तो एक-न-एक दिन होना ही है। दुर्वासा के शाप की चिनगारी ठंडी नहीं पड़ेगी। वह कभी-न-कभी भभकेगी ही।''

''फिर हमें क्या करना चाहिए?'' सात्यकि ने पूछा।

''हमें सावधान रहना चाहिए और हर यादव वर्ग को सावधान करना चाहिए।'' मैंने कहा, ''और कहना चाहिए कि आपके मन में उठा सारा संदेह किसी और कारण नहीं, केवल दुर्वासा के शाप के कारण है।''

''यह तो एक स्थायी बात हुई।'' सात्यकि बोला, ''हृदीक तो खुल्लम-खुल्ला कह रहा है कि उस निर्दोष की हत्या सात्यकि ने कराई है। इसपर हमें क्या करना चाहिए?''

''उससे इसका प्रमाण पूछना चाहिए।''

''आप स्थिति समझ नहीं पा रहे हैं। कृतवर्मा भी यही कह रहा है। जब पिता-पुत्र दोनों प्रचार कर रहे हैं तब कौन प्रमाण माँगेगा? अब यदि कल वह हमपर चढ़ाई कर बैठे तो हम एक अनिवार्य और अनिच्छित युद्ध की चपेट में आ जाएँगे।''

''तब एक काम करो।'' मैंने सात्यकि को सलाह दी—''तुम जाकर प्रचारित करवा दो कि मैं द्वारकाधीश के यहाँ गया था। उनका कहना है कि मैं यदि किसीको मुशल दूँगा तो वह कृतवर्मा को ही। जब उस मुशल से यादवों का नाश ही होना है तो वृष्णि क्या, अंधक क्या! तो उसका मस्तिष्क तुम्हारी ओर से हटकर मेरी ओर लग जाएगा और तुम एक संभावित युद्ध से बच जाओगे। इसका खयाल रखो कि हम एक भयंकर युद्ध के निकट हैं। हमें उसके लिए सारी शक्ति सँजोकर रखनी चाहिए।''

सात्यकि मेरा संदर्भ समझ गया। उसने पूछा, ''क्या आप समझते हैं कि पांडवों और कौरवों में युद्ध अनिवार्य है? आपने लोगों से इस विषय में कहा है कि हम जहाँ पहले खड़े थे वहीं आज भी खड़े हैं।''

मैं मुसकराया। मैंने कहा, ''सत्य यही है कि मैं पहले जहाँ खड़ा था, आज भी वहीं खड़ा हूँ। एक बिंदु पर खड़े होकर हम पहले जो कुछ देख रहे थे, आज

भी वही देख रहे हैं।''

सात्यकि चुप हो गया।

मैंने उससे कहा, ''यदि हमारी कूटनीति सफल हो गई तब कृतवर्मा मेरे यहाँ आएगा—और तब मैं उसे समझाने की चेष्टा करूँगा।''

सात्यकि उसी समय लौटने को तैयार हो गया; क्योंकि उसे आशंका थी कि उसकी अनुपस्थिति में अंधक कहीं चढ़ाई न कर दें। उसका सोचना था कि हमपर किया गया आक्रमण ही हृदीक के पापों को ढक सकता है।

दो-तीन दिन और बीत गए।

अचानक एक दिन प्रात: छंदक ने सूचना दी—''अर्जुन के आने का समाचार है।''

''यह मुझे मालूम है।'' मैंने कहा।

''पर यह न मालूम होगा कि दुर्योधन भी अपनी सेना के साथ द्वारका की सीमा पर खड़ा है।''

मैं समझ तो गया, पर थोड़ा विचलित भी हुआ। मैं बोला, ''ऐसा न हो कि दोनों एक ही दिशा में प्रवेश करें। तब तो मार्ग में ही साँप और नेवले का सामना हो जाएगा।''

''हो जाने दीजिए। जो होना है, वही होगा।''

''यह क्या कहते हो? जानबूझकर अग्नि और घृत को निकट आने दे रहे हो! तुरंत दूत भिजवाकर अर्जुन का मार्ग बदलो।''

''उसका रास्ता लंबा हो जाएगा, अर्जुन के पहुँचने के पहले ही दुर्योधन आ जाएगा। तब दुर्योधन अपनी प्रथम प्रस्तुति का लाभ लेना चाहेगा। इससे अर्जुन की हानि हो सकती है; क्योंकि दोनों युद्ध का निमंत्रण लेकर आ रहे हैं। संभव है, अपराह्न तक आ भी जाएँ।''

''तब तो, छंदक, तुम्हें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ेगी।''

''वह क्या?''

''पहले तुम अर्जुन का मार्ग बदलने के लिए शीघ्र धावकों को भेजकर आओ, तब बताता हूँ।''

छंदक चला गया।

उसके जाने के बाद मैं फिर नियति की भूमिका पर विचार करने लगा। मुझे लगा कि कौरवों और पांडवों के मध्य न खड़े रह पाने के लिए नियति ने विवश कर दिया है। अब यह विवशता मेरे लिए चुनौती बन गई है।

आज मुझे स्वयं को बाँटना पड़ेगा। अर्जुन के पक्ष में सदा से होते हुए भी मुझे दुर्योधन के पक्ष में दिखाई देना पड़ेगा। कितना कठिन कार्य है यह! मैं व्यक्तित्व को बाँट सकता हूँ, पर मन को कैसे बाँट दूँ? शून्य की तरह उसे बाँटा नहीं जा सकता। वह तो जिधर जाएगा, पूरा-का-पूरा जाएगा।

उसी समय सत्यभामा ने प्रवेश किया। बोली, ''क्या बात है, एकांत में चुपचाप बैठे हो? कुछ व्यग्र-से लगते हो। एकांत में व्यग्रता बढ़ जाती है।''

''और वही एकांत उसका समाधान भी देता है।'' मैंने कहा, ''अँधेरे में ही प्रकाश की किरण खोजी जा सकती है। प्रकाश में प्रकाश को खोजने की सार्थकता क्या है!''

''इस खोज में मैं आपकी कोई सहायता कर सकती हूँ?''

''यह भी नियति की ही कृपा है कि तुम सहायक बनकर आ गईं।'' फिर मैंने उसे अर्जुन एवं दुर्योधन की योजनाओं से अवगत कराया और कहा, ''उन लोगों के अपराह्न तक आने की संभावना है। दोनों कुछ ही समय के अंतर से पधारेंगे; पर मैं दोनों से साथ ही मिलना चाहता हूँ।''

''तब दोनों को अतिथिभवन में ठहरा दिया जाएगा और जब आप चाहेंगे, दोनों को एक ही समय बुला लिया जाएगा।''

''नहीं-नहीं, ऐसा मत करना।''

मेरी वर्जना से वह सकते में आ गई।

''अरे, दोनों मेरे सम्मानित अतिथि हैं। एक मेरा बहनोई है और दूसरा मेरा समधी। एकदम निकट संबंधी हैं दोनों। अर्जुन से संबंध तो पुराना भी हो चुका है; पर दुर्योधन का तो नया है। यदि तुम इनसे मुझे मिलने से रोकोगी तो दोनों क्या कहेंगे!''

''तब ऐसा क्या किया जाए कि दोनों से आप साथ ही मिलें?'' सत्यभामा ने पूछा।

तब मैंने उसे अपनी योजना बताई और कहा, ''इसे छंदक के अतिरिक्त और किसीसे मत कहना—अपनी सहेलियों से भी नहीं; अन्यथा पूरा नाटक व्यर्थ हो जाएगा।''

''तो फिर छंदक को ही क्यों बताया जाए?''

''वह भी इस नाटक का पात्र है और तुम्हें भी अपनी भूमिका करनी होगी।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''मैं तो मुख्य अभिनेता हूँ और तुम दोनों सह अभिनेता।'' फिर मैंने अपनी योजना का विस्तार किया और कहा, ''पहले तो तुम

प्रचारित कर दो कि आज मैं अस्वस्थ हूँ। किसीसे मिलना नहीं चाहूँगा।''

''अभी से ही?'' सत्यभामा बोली, ''अरे, वे अपराह्न में आने वाले हैं। आप भोजन आदि के लिए तो बाहर जाएँगे ही।''

''यदि मैं कक्ष से बाहर-भीतर करूँगा तो मेरी अस्वस्थता लोगों को एक बहाना लगेगी।''

''फिर आज आप भोजन भी नहीं करेंगे?''

''यदि तुम चाहो तो यहीं करा देना।'' मैंने कहा, ''फिर मैं लेट जाऊँगा। उनके आने का तुरंत समाचार देना।''

मैंने सत्यभामा को विशेष निर्देश दिया कि उन्हें अतिथिभवन के विशिष्ट कक्ष में ठहराया जाए और उनका स्वागत-सत्कार भी उच्च कोटि का किया जाए। मैंने यह भी कहा कि जब भी वे आना चाहें, मेरे कक्ष में सीधे ले आना।

''अभी आपने कहा कि मैं दोनों से साथ मिलना चाहता हूँ; यदि दोनों आगे-पीछे आएँ तो?''

''आने देना, इसकी चिंता तुम मत करो।'' मैं मुसकराने लगा। वह मेरा मुख देखती रही। मैं कहता गया—''तुम्हें बस इतना कहना होगा कि महाराज आज अस्वस्थ हैं। अभी-अभी नींद लग गई है। आप बैठें, वे थोड़ी ही देर में जाग जाएँगे।''

''तब दो मंचक भी मैं यहाँ लगवा दूँ!''

''किसलिए?''

''उनके बैठने के लिए।''

''इसका तात्पर्य है कि तुम उन्हें पहले से बता देना चाहती हो कि मुझे उनके आने की सूचना मिल चुकी है और मैंने उनके बैठने आदि की व्यवस्था कर ली है।''

''तब वे बैठेंगे कहाँ?''

''बैठनेवाला अपनी जगह स्वयं ढूँढ़ लेगा।''

☐

सारी योजना बन गई। सत्यभामा ने छंदक को अच्छी तरह समझा दिया। मेरी अस्वस्थता का समाचार सुनते ही महामात्य ने अपनी सेवा अर्पित करने की इच्छा व्यक्त करते हुए वैद्यराज को बुलाने का प्रस्ताव रखा। छंदक ने यह कहकर मना कर दिया कि रोग की जब तक भयानकता न हो तब तक एकाध दिन ओषधि नहीं लेनी चाहिए।

अपराह्न के बाद ही मुझे सूचना मिली कि दुर्योधन आया है। पूर्ण वैभव और सम्मान के साथ उसकी अगवानी की गई।

जब उसे उसके लिए निर्दिष्ट कक्ष में ले जाया जाने लगा तब उसने पहला प्रश्न किया—"अभी अर्जुन पहुँचा है या नहीं?"

"अर्जुन तो अभी नहीं पधारे हैं; हाँ, उनके आने की सूचना अवश्य है।" छंदक कुछ सोचते हुए बोला, "अब तक तो उन्हें आ जाना चाहिए।"

इस जानकारी से वह बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़े गर्व से बोला, "छंदक, यह बाजी भी मेरे हाथ रही। अब तुम मुझे यथाशीघ्र कन्हैया से मिलवाओ।"

"महाराज तो अस्वस्थ हैं। वह अंतःपुर के अपने कक्ष में विश्राम कर रहे हैं।"

"आप मुझे वहीं ले चलिए। मैं कोई पराया थोड़े ही हूँ। मैं अपनी बेटी के यहाँ आया हूँ।" इतना कहते ही वह छंदक को लेकर अंतःपुर की ओर बढ़ चला। अहं से भरी उसकी चाल ने तो प्रहरियों पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे रास्ता छोड़ते चले गए।

यों तो मैं जाग ही रहा था। दुर्योधन के आने की आहट मुझे लग गई। मैंने आँखें मूँद लीं। छंदक ने भी उसके प्रवेश के पूर्व मुझे संकेत देने के लिए दुर्योधन को सावधान किया—"देखिए, महाराज अभी-अभी सोए हैं। उन्हें कृपा कर जगाइएगा नहीं। वे स्वयं ही कुछ क्षणों के बाद जाग जाएँगे।"

दुर्योधन आकर सीधे मेरे पर्यंक पर सिरहाने बैठ गया। थोड़ी देर बाद मैंने करवट ली। मेरी पीठ उसकी तरफ हो गई। इस अवसर पर उसने हलके से खाँसकर अपनी उपस्थिति का अनुभव कराया। मेरी नींद वास्तविक तो थी नहीं, जो टूट जाती। वह जो लगी थी, लगी ही रह गई।

मैं मन-ही-मन अर्जुन के विलंब करने पर कुड़बुड़ाता रहा; पर मेरे आक्रोश की अवधि लंबी नहीं रही। थोड़ी ही देर बाद वह आ गया। आते ही उसने दुर्योधन को नमस्कार किया। उसका उत्तर दुर्योधन ने दिया कि नहीं दिया, या दिया भी तो कैसे दिया, यह मुझे नहीं मालूम।

अर्जुन पर्यंक के पैताने उधर बैठा जिधर मेरा मुख था। वह धीरे-धीरे मेरे पैर भी दबाने लगा। मेरे सिरहाने अहं का हिमालय था और पैताने विनम्रता की गंगा।

मैं अब भी सो रहा था। मैंने अचानक आँखें खोलीं और चकित होने का भाव प्रदर्शित किया—"अरे, तुम हो! मैं तो समझ रहा था कि कोई सेवक है।"

"आप मुझे भी सेवक ही समझिए।" उसने बड़े विनीतभाव से कहा।

फिर बातें शुरू हुईं। मैंने उससे बिना पूर्व सूचना के अकारण आने का कारण पूछा।

''पूर्व सूचना न देने के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ; पर अकारण नहीं आया हूँ।'' अर्जुन ने मुसकराते हुए कहा, ''आपने ही एक दिन कहा था कि कोई भी कार्य अकारण नहीं होता।'' फिर वह और धीरे से बोला, ''मैं संभावित युद्ध में सहायता के लिए महाराज युधिष्ठिर का आग्रह लेकर आया हूँ।''

अब जैसे दुर्योधन से रहा नहीं गया। वह बोल पड़ा—''मैं भी इसी निमित्त आया हूँ और अर्जुन से पहले आया हूँ। इसलिए आपकी सहायता माँगने का प्रथम अधिकारी हूँ।''

''तो क्या आप दोनों के बीच युद्ध होगा?'' मैंने नितांत गंभीर आवाज में अपनी चिंता व्यक्त की।

अर्जुन चुप ही रहा। पर दुर्योधन बोल पड़ा—''जो स्थिति है, उसमें अवश्य होगा।''

''क्या शांति की कोई संभावना नहीं? यह युद्ध किसीके लिए हितकर नहीं होगा।'' इस क्रम में संजय की बातों की मैंने चर्चा की।

''संजय पितामह और पिताजी का प्रतिनिधि था, हमारा नहीं।'' दुर्योधन ने कहा, ''उसने बूढ़ी, दुर्बल और असहाय मानसिकता को आपके सामने रखा। वे लोग उस अतीत से जुड़े थे, जो मर चुका है। हमारा तो अभी भविष्य है। हमें अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए लड़ना है।''

''भविष्य आपके हाथ में है कहाँ!'' मैंने कहा, ''जो आपके हाथ में नहीं है, उसकी सुरक्षा के लिए युद्ध करेंगे!'' मुझे हँसी आ गई—''आप केवल वर्तमान के भोक्ता हैं—और वह वर्तमान, जो क्षण-क्षण में अतीत होता जा रहा है और अनचीन्हे, अनजाने भविष्य के प्रकोष्ठ से आ रहा है।''

मैंने सोचा, इससे अधिक बातें करना भी ठीक नहीं। मैं उसके अहंकार को ठेस लगाना नहीं चाहता था।

मैंने कहा, ''समझाना हमारा काम है। अब जैसा आप लोग उचित समझें।''

''इस समय हम समझने और समझाने की स्थिति में नहीं हैं।'' दुर्योधन बोला, ''हम विशेष प्रयोजन से आए हैं।''

''प्रयोजन तो आपने पहले ही कह दिया है। मैंने सुन भी लिया है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''तब इसमें देर क्या, द्वारकाधीश?'' दुर्योधन की आतुरता और बढ़ी—

"मुझे वचन दीजिए, मैं पहले आया हूँ।"

मैंने कहा, "देर इसलिए हो रही है, हस्तिनापुर के युवराज, कि मैं कौरवों और पांडवों के मध्य में हूँ। संयोग देखिए, इस समय भी मेरी वही स्थिति है। एक ओर आप हैं और दूसरी ओर अर्जुन। बीच में मैं लेटा हूँ। मैं स्वयं से युद्ध कर रहा हूँ—किसी और से नहीं, अपने से। औरों से युद्ध करना उतना कठिन नहीं है जितना अपने से। जीवन में पहली बार मुझे स्वयं को विभाजित करना पड़ रहा है।"

दोनों की जिज्ञासा एकदम मेरी आकृति से चिपक गई। वे नहीं समझ पा रहे थे कि मैं क्या करने जा रहा हूँ। अब मैंने अपने को स्पष्ट किया—"मैं यदि स्वयं को बाँटूँ तो एक भाग में मेरी चतुरंगिणी सेना होगी, मेरी सारी सैन्य-संपदा होगी, मेरा आयुध भंडार होगा और दूसरे भाग में मैं अकेला होऊँगा।

"मेरा यह भी संकल्प है कि मैं अकेला रहकर भी युद्ध नहीं करूँगा। अस्त्र नहीं उठाऊँगा।"

तब दुर्योधन ने हँसते हुए कहा, "यदि कोई आप पर प्रहार करे तो?"

"तब भी नहीं।"

अब दुर्योधन गंभीर हुआ और मन-ही-मन प्रसन्न भी। फिर बोला, "स्वयं किए ये दोनों भाग आप अपने मन से हमें देंगे कि हमें स्वयं चुनना होगा?"

"आप लोगों को चुनना होगा।"

"तब पहले चुनने का अधिकार मुझे होना चाहिए।" दुर्योधन बोला, "क्योंकि पहले मैं आया हूँ।"

"पर मैंने तो पहले अर्जुन को देखा है।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "जब मेरी आँखें खुलीं तब भी अर्जुन ही मेरे सामने था।"

"वह तो हमेशा आपके सामने रहता है।" दुर्योधन थोड़ा झुंझलाया—"यदि आपकी आँखें बंद भी रहतीं, तो भी वही आपको दिखाई देता।"

दुर्योधन ने कहा तो सत्य ही था। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। केवल मुसकराकर रह गया।

वह बोलता गया—"हम दोनों का आप पर समान अधिकार है। यह सत्य है कि अर्जुन से आपकी निकटता है; पर यह भी सत्य है कि मुझसे आपकी और भी निकटता है—और वह भी नई-नई। मैं आपका समधी हूँ। मैंने अपनी दुहिता आपके पुत्र को ब्याही है। आप हमारे पूज्य हैं।"

मन में आया कि कह दूँ कि पूज्य मैं हूँ और सिर पर सवार हैं आप; पर मैंने बात बढ़ानी नहीं चाही। मैंने दूसरा आधार खोजा। मैं बोला, "बराबर के इस दावे में

भी अर्जुन आपसे छोटा है। आपका छोटा भाई है। छोटे भाई को माँगने का अधिकार पहले होता है।''

''आप कोई-न-कोई तर्क तो निकाल ही लेंगे। जैसी आपकी इच्छा।'' दुर्योधन के स्वर में पहले से अधिक रुक्षता थी। उसने बड़ी सजगता बरती थी मुझसे मिलने के लिए। उसे अपने सारे प्रयत्नों पर पानी फिरता दिखाई दिया।

मैंने भी मौका देखा। मैंने अर्जुन से पूछा, ''बोलो, क्या चाहते हो? अकेला निरस्त्र मुझे या मेरी सारी सैन्य-संपदा को?''

अर्जुन बड़ी प्रसन्नता से बोला, ''मैं तो केवल आपको चाहता हूँ।''

इतना सुनते ही दुर्योधन अपनी खुशी को रोक नहीं पाया। वह ताली पीटकर हँस पड़ा—''यह हुई न बात!''

मैंने फिर जोर दिया—''अच्छी तरह समझ लिया है न? मैं न तो तुम्हारी ओर से लड़ूँगा और न युद्ध में अस्त्र ही उठाऊँगा।''

दुर्योधन को लगा कि मैं अर्जुन का निर्णय बदलने के लिए जोर दे रहा हूँ। वह झुँझलाया—''जब एक बात हो चुकी तब आप बार-बार क्यों जोर दे रहे हैं?''

''नहीं-नहीं, मैं जोर नहीं दे रहा था। मैं तो अर्जुन को अपना निश्चय पुनः समझा रहा था।''

''यह आपका मित्र है। क्या इतना भी नहीं समझता कि इसे समझाने की बार-बार आवश्यकता पड़ती है?''

''अच्छा तो अब आप बोलिए।'' मैंने दुर्योधन से कहा।

''मेरे बोलने के लिए अब बच ही क्या गया है!'' उसने मुसकराते हुए कहा, ''आपका एक भाग अर्जुन ने ले ही लिया है। अब दूसरा मुझे लेना ही पड़ेगा। आपकी सारी सैन्य-संपदा अब मेरी सहायता में रहेगी।''

इस निर्णय के बाद दुर्योधन अब क्षण भर के लिए भी नहीं रुका। मैंने उसे बहुत रोकने की चेष्टा की, तब उसने कहा, ''मुझे अभी कई जगह जाना है। मेरा एक-एक क्षण उपयोगी है।''

''क्या उसमें से कुछ क्षण आप भैया को नहीं देंगे?'' मैंने कहा, ''वे आपके पुराने मित्र हैं और गुरु भी।''

अब वह ठिठका। वह बोला, ''जब आपने याद दिला ही दिया तब तो मिलना ही पड़ेगा।'' उसने बड़ी प्रसन्नता से कहा, ''पर मुझे छोड़कर वे जाएँगे कहाँ!''

मैंने तुरंत छंदक को बुलाया और कहा कि हमारे समधीजी को भैया से

मिलवाओ। यों तो मैं जानता ही था कि भैया क्या उत्तर देंगे; फिर भी मैंने छंदक को इसलिए लगाया था कि भैया से हुई बातचीत और उनकी मुद्राओं की अविकल जानकारी मुझे प्राप्त हो सके।

अर्जुन मेरे पास बैठा ही रह गया। मैंने उससे मुसकराते हुए कहा, "तुमने मुझे अपने ही गले में बाँध लिया। अब तुम्हें हर जगह मुझे सलाह देनी होगी। जब तुम यहाँ तक आए हो तो तुम भी भैया से मिलने जाना। मैं तुम्हें भी छंदक के साथ ही भेजूँगा। पर अभी नहीं, दुर्योधन के चले जाने के बाद।"

इसके बाद मैंने फिर आँखें बंद कर लीं और वास्तव में सो गया। मेरी यह नींद बड़ी निश्िंचतता की थी।

अर्जुन वहाँ से उठा। अंत:पुर में था ही, वहाँ से मेरी पत्नियों के बीच चला गया। उनसे वह काफी खुला था, बातचीत करने में भी और परिहास में भी। उन्होंने सामूहिक जिज्ञासा की कि क्या हुआ आज?

अर्जुन ने सारा वृत्तांत सुनाया।

अपने पति के इस विभाजन पर वे चकित रह गईं। फिर उन्होंने अर्जुन से पूछा, "आपने द्वारकाधीश को ही क्यों स्वीकार किया?"

"क्योंकि उनके मिल जाने से आप सभी मिल जाएँगी।"

सबकी सब मुसकराती हुई झेंप गईं।

जब मैं सोकर उठा, संध्या हो चली थी। छंदक और अर्जुन इस समय मेरे ही कक्ष में थे। छंदक बोल उठा—"संध्या समय सोना शास्त्र-वर्जित है।"

"पर रुग्ण के लिए नहीं।"

इतना सुनते ही छंदक ठहाका मारकर हँस पड़ा। मुझे भी हँसी आ गई। अर्जुन सोचता रह गया कि एक सामान्य सी बात पर इतनी हँसी।

फिर मैंने दुर्योधन के बारे में छंदक से जानना चाहा।

उसने बताया—"वे तो चले गए।"

"बिना मुझसे मिले हुए!"

"भैया से मिलने के बाद उनकी प्रसन्नता कुछ कम हो गई; क्योंकि जैसा उन्होंने सोचा था, बात वैसी बनी नहीं।" छंदक बोलता रहा—"आपके कक्ष से निकलने के बाद तो वे बड़े प्रसन्न थे। उनके पैर धरती पर पड़ नहीं रहे थे। उन्होंने मुझसे यहाँ तक कहा कि मैं बाजी हारते-हारते जीत गया। पर भैया के यहाँ उनकी मन:स्थिति एक अप्रत्याशित गंभीरता में डूब गई।"

"क्यों, ऐसा क्या हुआ?"

"भैया ने टका सा उत्तर दिया।" छंदक बोला, "जब दुर्योधन ने उनसे युद्ध में सहयोग का आग्रह किया तो उन्होंने कहा, 'मैं शांति का समर्थक हूँ, युद्ध का नहीं; क्योंकि युद्धों का मेरा अनुभव बड़ा कटु है। उसमें कोई जीतता नहीं। हारते किसी-न-किसी रूप में दोनों हैं। मेरे मित्र, तुम शांति की संभावनाओं की खोज करो। इस कार्य में मैं तुम्हारा पूरा साथ दूँगा।' "

" 'जब शांति की सभी संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तभी तो युद्ध होता है।' दुर्योधन बोला।

"भैया ने बड़ा अच्छा उत्तर दिया—'तुम्हें शांति की संभावनाओं पर युद्ध नहीं वरन् युद्ध की संभावनाओं पर शांति खोजनी है।'

"वह चुप हो गया। उसने धीरे से पूछा, 'मान लीजिए कि शांति न हो सकी, युद्ध ही हुआ, तब आपकी भूमिका क्या होगी?'

" 'मैं स्वयं शांति की खोज में तीर्थयात्रा पर चला जाऊँगा।' भैया ने कहा।

" 'तो हम आपसे कोई उम्मीद न रखें!' उसने बड़े कातर स्वर में कहा।

" 'खोटे सिक्के से जितनी उम्मीद रखी जा सकती है, उतनी तुम मुझसे भी रख सकते हो।' इतना कहकर भैया बड़ी बेरुखाई से उठकर चले गए। दुर्योधन भी उनके भवन से बाहर निकल आया। मन-ही-मन बड़बड़ाने लगा—'इन्हींके जाने पर मैंने सांब का विवाह लक्ष्मणा से किया था। यदि मुझे पता होता कि इसका यही परिणाम होगा तो मेरी गदा इनके ही विरुद्ध उठ जाती और देख लिया जाता संभावित परिणाम को।' "

'इसका तात्पर्य है कि दुर्योधन युद्ध के उन्माद में है।' मैंने सोचा, 'ऐसी स्थिति में कच्चे धागे से लटकती शांति की संभावना का क्या होगा? इस स्थिति में मेरा संधि प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाना क्या उचित होगा?'

मुझे गंभीर देखकर भी अर्जुन बिलकुल गंभीर नहीं था।

मैंने पूछा, "सब सुनते हुए भी तुम एकदम निश्‍चिंत हो?"

"सारी चिंता तो मैंने आप पर छोड़ दी है।" अर्जुन ने मुसकराते हुए कहा, "मुझे सोचना क्या है! जिधर आप ले जाएँगे उधर जीवन-रथ जाएगा। सारथि तो आप ही हैं, मैं तो मात्र रथी हूँ।"

उसकी निश्‍चिंतता और अव्यग्रता देखकर मुझे हँसी भी आई और झुँझलाहट भी हुई। एक ओर कौरव समर्थन जुटाने में लगे हैं और दूसरी ओर चिंताहीन यह अलमस्त बैठा है।

मैंने कहा, "दुर्योधन को तो यहाँ से जाने की इतनी शीघ्रता थी, तुम्हें और

कहीं युद्ध का निमंत्रण लेकर जाना है या नहीं?''

''इसकी चिंता भी आप ही करें।'' अर्जुन मुसकराता रहा।

मैं कुछ बोल नहीं पाया। उसे लेकर अलिंद में चला गया। संध्या समाप्त हो गई थी। बादलों से आच्छादित आकाश से कालिमा बरस रही थी। किसीको कुछ सूझ नहीं रहा था; पर अर्जुन को केवल मैं दिखाई दे रहा था।

□

गुप्तचरों का कहना था कि इस घटना की हस्तिनापुर में गंभीर प्रतिक्रिया हुई। कौरवों की चांडाल चौकड़ी ने अपनी जीत पर खुशियाँ मनाईं; पर जब महाराज धृतराष्ट्र को यह समाचार ज्ञात हुआ तो वे बहुत प्रसन्न नहीं हुए। उनका सोचना था कि जब अभी द्वारकाधीश को संधिवार्त्ता के लिए बुलाया गया है तब वहाँ युद्ध का निमंत्रण लेकर दुर्योधन को जाना नहीं चाहिए था।

गुप्तचर ने बताया—''उन्होंने यही बात अपने पुत्र दुर्योधन से भी कही—'भले ही तुम द्वारका में जीतकर आया हुआ समझो, पर तुम्हारे उतावलेपन ने बड़ी भूल की है। अब संधिवार्त्ता के लिए आने पर कृष्ण कहेंगे कि आप लोगों में स्वयं संधि और शांति के प्रति कोई चिंता नहीं है। युद्ध ही आपका अभीष्ट है और आप वही चाहते हैं। तब हमारी संधिवार्त्ता का क्या महत्त्व रह जाएगा? हम उनसे क्या कहेंगे?'

'' 'उनको यहाँ आने की आवश्यकता ही क्या है?' दुर्योधन बोला।

''इतना सुनते ही महाराज धृतराष्ट्र झल्ला उठे। उन्होंने कहा, 'वे स्वयं नहीं आ रहे हैं। उन्हें संजय द्वारा हमने आमंत्रित किया है। इस समय उनका व्यक्तित्व आर्यावर्त्त में सिरमौर है। सभी उन्हें देवता की तरह पूजते हैं।'

'' 'लोग पूजते होंगे; पर मेरा तो वह शत्रु है।'

'' 'शत्रु हैं, तभी उन्होंने अपना सारा सैन्य बल तुम्हें दे दिया। और जिसे तुम अपना परम मित्र समझते थे, उसने क्या कहा! उसने भी तो शांति की बात कही और कहा कि यदि युद्ध हुआ तो मैं शांति की खोज में तीर्थयात्रा पर चला जाऊँगा।' ''

गुप्तचरों के इस समाचार ने मुझे फिर अंधकार में शांति संभावना की एक किरण थमाई। मैं सोचने लगा, मेरा हस्तिनापुर जाना शायद कोई रंग लाए।

पर गुप्तचरों की सूचना अभी पूरी नहीं हुई थी। उसी गुप्तचर ने अपनी बात आगे बढ़ाई—''इस संदर्भ में महाराज ने दूसरे दिन अमात्य मंडल की बैठक बुलाई। उसमें दुर्योधन भी उपस्थित था। पहले महाराज ने सारी स्थिति स्पष्ट की।

पितामह ने भी महाराज के तर्क का समर्थन किया। उनका भी कहना था—'एक ओर आप संधिवार्त्ता चलाएँ और दूसरी ओर युद्ध के लिए सहयोग माँगें, इसका क्या अर्थ है? यह तो सीधे-सीधे मूर्ख बनाना हुआ। द्वारकाधीश ने भी क्या सोचा होगा! हमने विधिवत् उन्हें संधिवार्त्ता के लिए आमंत्रित किया है। अब यदि वे आएँ और कहने लगें कि मैंने अपना सारा सैन्य बल दे दिया है दुर्योधन को युद्ध के लिए, अब संधिवार्त्ता कैसी? तब हम क्या करेंगे?' ''

"फिर तो लोग चुप हो गए होंगे?'' मैंने गुप्तचर से पूछा।

"नहीं। दुर्योधन तत्क्षण बोला, 'जो कुछ करना होगा, मैं करूँगा। आप इसकी चिंता न करें।'

" 'तुम्हारे कर्मों का फल तो हम भोग ही रहे हैं। उन्हीं कर्मों का फल है कि हस्तिनापुर युद्ध के द्वार तक आ गया।'

" 'यह मेरे कर्मों का फल नहीं, आपके लाड़ले पांडवों के कर्मों का फल है।'

" 'उन्हींके कर्मों का फल है कि आज तुम धरती पर हो, नहीं तो तुम्हारा पता नहीं चलता। काम्यक वन में गंधर्व तो तुम्हें उड़ा ही ले गए थे।' ''

गुप्तचर ने बताया—"इतना सुनते ही दुर्योधन काँपने लगा। उसने अंड-बंड भी कुछ बका, जिसकी जानकारी मुझे नहीं है। शायद उसी स्थिति में महाराज ने अमात्य मंडल की बैठक समाप्त कर दी और दुर्योधन अग्निबाण की तरह वहाँ से छूटकर सीधे शकुनि से मिला।''

मेरे मुख से निकला—"इतना होने पर भी महाराज का पुत्र-प्रेम खंडित नहीं होगा।''

"नहीं, महाराज! कुछ भी हो सकता है।'' गुप्तचर बोला, "आज धृतराष्ट्र महाराज बहुत चिंतित हैं।''

"यह तुम्हें कैसे मालूम?''

"उन्होंने इसकी स्पष्ट चर्चा महामात्य विदुरजी से की थी। उन्होंने नींद न आने का कारण बताते हुए उनसे नीति और कर्म की विस्तार से चर्चा की थी। उन्होंने यह भी बताया कि नींद उसे नहीं आती जिसका सबल विरोध होता है या जिसका सबकुछ हर लिया जाता है। कामी और चोर को भी अनिद्रा का रोग हो जाता है।

"सुना है, कई दिनों तक महाराज महामात्य को बुलाकर बातें करते रहे। उस समय तो उनकी बातों से उन्हें बड़ी शांति मिली थी। उन्होंने यही निश्चय

किया था कि द्वारकाधीश की बात बड़ी शांति से सुनी जाए।''

''यदि ऐसी बात है तो मेरा जाना आवश्यक है।'' मैंने कहा, ''हो सकता है, उस दुर्बुद्धि (दुर्योधन) में भी कोई चेतना जाग्रत हो जाए।''

''पर ऐसी मुझे आशा नहीं है।'' गुप्तचर ने छूटते ही कहा।

''तुम इतने निराश क्यों हो?''

''निराश हूँ दुर्योधन की प्रकृति और उसकी मंशा से।'' इसी संदर्भ में उसने बताया—''अमात्य मंडल की बैठक में एक बात और हुई थी, जिसे मैं बताना भूल गया था। एक क्षण ऐसा भी आया, जब पितामह ने दुर्योधन से जोर देकर कहा, 'यह तुम्हारा जो आक्रोश है, वह कुछ नहीं वरन् तुम्हारा वह अहंकार है, जो तुम्हें विश्वास दिला रहा है कि द्वारका में तुम बाजी मारकर आए हो; जबकि बाजी तुम्हारे हाथ से निकल गई है। युद्ध आरंभ होने के पूर्व ही तुम द्वारका में युद्ध हार आए। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पाकर विजय पा ली; क्योंकि जीत उधर ही होगी जिधर श्रीकृष्ण होंगे।' ''

गुप्तचर का कहना था—''इसपर दुर्योधन एकदम बिगड़ गया। उसने कहा, 'पितामह, मैं आपके मन, मस्तिष्क और मंशा को अच्छी तरह जानता हूँ। आप कभी हमारा भला सोच ही नहीं सकते।' ''

इतना कहकर गुप्तचर चला गया। हम लोग उसी अलिंद में खड़े रहे। अब वर्षा तेज हो गई थी। वर्षा के झोंके हम लोगों को भिगो रहे थे। हवा का पागलपन कक्ष के कई दीपदानों की ज्योति उड़ा ले गया था। अँधेरा और गाढ़ा हो गया था।

मैंने अर्जुन से कहा, ''ऐसा गाढ़ा अँधेरा मुझे अतीत में ढकेल देता है। मुझे वृंदावन की रासलीला और राधा याद आती है। इस समय भी मुझे ऐसा लग रहा है कि अँधेरे में भी राधा मुझे खोजते हुए भटक रही है। इस अंधकार में तुम्हें कैसा लगता है?''

''मुझे बादलों की गड़गड़ाहट में युद्ध की ध्वनि ही सुनाई देती है—चिड़िया की आँख की तरह।'' अर्जुन ने कहा।

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, ''बड़ा पुराना प्रसंग तुमने छेड़ा है—अपनी लक्ष्य परीक्षा के समय का।''

अर्जुन की यह विशेषता थी कि जो निश्चय कर लेता था, वही करता था। उसकी दृष्टि सदा अपने लक्ष्य पर रहती थी। इसीसे वह कभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हुआ।

इसके दूसरे या तीसरे दिन मैंने उपप्लव्य चलने की योजना बनाई। अर्जुन अभी द्वारका में ही था। सोचा, हम दोनों साथ चलेंगे। वर्षा के दिन हैं। मार्ग कठिन

और लंबा होगा। फिर आरण्यक प्रदेश से गुजरना था। सैनिकों के अतिरिक्त किसी और को भी साथ रखना उचित था।

पांडवों में मेरी सबसे अधिक अंतरंगता अर्जुन से ही थी। फिर वह मेरा बहनोई भी था। हममें हास-परिहास भी खूब होता था। मेरा ईश्वरत्व जब लोगों के सिर चढ़ता था तो लोग हम दोनों को नर-नारायण की संगति कहते थे।

उपप्लव्य चलने की योजना हमने जरा विस्तार से बनाई; क्योंकि उधर से ही मुझे संधिवार्त्ता के लिए हस्तिनापुर जाना था। लंबे समय तक मुझे द्वारका से दूर रहना पड़ेगा। इसलिए मैंने भैया से मिलकर उनसे अनुमति लेना उचित समझा।

वहाँ जाने के लिए मैंने अर्जुन को साथ लिया; पर वह भैया से मिलने में बड़ा संकोच करता था। सुभद्रा-हरण के समय की भैया की रुद्रता की विभीषिका उसके मन से गई नहीं थी। इस समय भी वह वहाँ जाना नहीं चाहता था।

मैंने कहा, ''बात आई-गई और पुरानी हो गई। उनका सारा आक्रोश तो मुझपर था। तुम तो माध्यम मात्र थे। और जब से तुम आए हो, उनसे मिले भी नहीं हो।''

''मिला तो था।'' उसने कहा, ''एक दिन मार्ग में भेंट हो गई थी। प्रणाम-अभिवादन हो चुका है।''

''यह भी कोई मिलना हुआ!'' मैंने कहा और उसे रथ पर बैठाकर भैया के आवास पर गया।

दूर से रेवती भाभी ने देखा और तुरंत आवास से निकलकर अर्जुन की अगवानी करते हुए बोलीं, ''पूरा नाटक रचकर मेरी ननद को ले गए। अब क्या करने आए हो?''

''सोचता हूँ, इस बार आपको ले चलूँ।''

''मुझे ले चलना इतना सरल नहीं है।'' उन्होंने हँसते हुए कहा, ''मैंने तो जिसे अपने योग्य समझा, उसे ही अपने घर ले आई।'' उन्होंने भी बड़ी योग्यता से एक पुराने संदर्भ पर अँगुली धर दी।

मिलते ही अर्जुन ने भैया के चरण छुए।

बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने आशीर्वाद दिया। फिर बोले, ''आज कैसे चले, अर्जुन?''

वह कुछ कहे, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—''संभावित युद्ध में ये सहयोग पाने की आकांक्षा से आए हैं।''

''तुमने बड़ी देर कर दी।'' भैया मुसकराए—''तुमसे कई दिनों पूर्व दुर्योधन

आया था। उससे जो मैंने कहा, वही उत्तर तुम्हारे लिए भी है। मैं शांति में सहयोग करता हूँ, युद्ध में नहीं।''

''मैं शांति के लिए किए जा रहे प्रयत्न में भी आपका आकांक्षी हूँ।'' अर्जुन ने पूरी शालीनता और गंभीरता से कहा।

''मैं केवल आशीर्वाद दे सकता हूँ—और कर ही क्या सकता हूँ; क्योंकि शांति दोनों के चाहने पर होती है।''

''और युद्ध एक के चाहने पर भी हो जाता है।'' भैया की गंभीरता मैंने और गाढ़ी की।

''यही दुर्भाग्य है मनुष्य का। यदि शांति की तरह युद्ध भी दोनों के चाहने पर होता तो संसार में उसकी संख्या सौ में से मात्र एक-दो रह जाती—और वह भी अखाड़े के मल्लयुद्ध की तरह दर्शनीय होता।''

भैया कभी-कभी बहुत गहरी बात अत्यंत सहज ढंग से कह जाते थे।

चलते समय अर्जुन ने फिर उनके चरण छुए और कहा, ''आशीर्वाद ही हमारा संबल है।''

योजना तो आज के ही चलने की थी, पर मेघों ने ऐसी धमा-चौकड़ी मचाई और मौसम की प्रकृति ऐसी बदली कि आज रुक जाना पड़ा। फिर अर्जुन का ऐसा लगाव था कि द्वारका में आने के बाद वह जाने का नाम ही नहीं लेता था। हर व्यक्ति संभावित युद्ध से चिंतित था; पर उसकी आकृति पर चिंता की एक रेखा भी नहीं दिखती थी। जब कोई इस विषय में उससे कुछ पूछता था, तब उसका सीधा उत्तर होता—''मैंने सारी चिंता द्वारकाधीश को दे दी है। अब मैं मुक्त हूँ।''

□

जितना हम लोगों ने सोचा था, मार्ग उससे अधिक खराब हो गया था। कई पहाड़ी नदियाँ ऐसी पैदा हो गई थीं, जिनका ज्ञान मुझे इसके पूर्व था ही नहीं। निश्चित मार्ग भी मुझे बदलना पड़ा। आदिवासियों ने एक सीधा रास्ता बताया, जो कृतवर्मा के राज्य से होकर जाता था। अर्जुन ने भी उसी मार्ग का समर्थन किया। उसे क्या मालूम था कि यह रास्ता और भी कठिन है, आग के बीच से होकर जाता है। इसीलिए मैंने अर्जुन को डाँटा भी और कहा कि रास्ता बताना तुम्हारा काम नहीं है। फिर मैंने उसे वे सारे संदर्भ बताए, जिनके कारण मैं कृतवर्मा की राज्य की सीमा से होकर जाना नहीं चाहता था।

किंतु जाना ही पड़ा। मैं सीधे राजभवन में गया।

कृतवर्मा तो मुझे देखते ही हक्का-बक्का हो गया और उसी आवेश में

बोला, ''क्या मेरे सेनापति की हत्या करा देने के बाद भी आपको शांति नहीं मिली ?''

''इतनी जल्दी किसी पर आरोप लगाने के पहले आपको सोचना चाहिए।''

''क्या सोचूँ! सभी जानते हैं कि अब इस धरती पर वृष्णियों के अतिरिक्त कोई भी यादव नहीं रह जाएगा।''

''यही तो लोग गलत जानते हैं।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''एक दिन ऐसा आएगा जब यदु, वृष्णि, अंधक—कोई नहीं बचेगा। इसके लिए सारे यादव शापित हैं, कोई विशेष वर्ग नहीं।''

''वे तो बच जाएँगे, जिनके पास मुशल है!''

मैं जोर से हँसा—''मुझे तो लगता है कि मेरे शस्त्रागार में बंदी वह मुशल ही अफवाह बनकर यादवों का नाश कर देगा!''

''तब उस मुशल की भूमिका क्या होगी?'' कृतवर्मा बोला।

''संपूर्ण यादव जाति का विनाश!'' मैंने कहा और वह गंभीर हो गया।

पर उसके मन का काँटा निकल नहीं पा रहा था। उसने पूछा, ''तो अपने पास मुशल रखने से आपको क्या लाभ है?''

''कोई लाभ नहीं।'' मैंने कहा, ''यदि आप चाहें तो मैं उसे आपके पास रख दूँ।''

''आप मेरे यहाँ भिजवा दीजिए।''

''इस समय तो यह संभव नहीं है; क्योंकि मैं उपप्लव्य जा रहा हूँ।'' मैंने तुरंत बात बदली—''अर्जुन भी आपके पास एक विशेष प्रयोजन से आया है। वह संभावित युद्ध में आपके सहयोग का सादर प्रार्थी है।''

ऐसा लगा जैसे उसे सबकुछ ज्ञात है। वह बड़ी गंभीरता से बोला, ''आपने विलंब कर दिया। जिसे मुझे वचन देना था, उसे दे चुका हूँ।''

''तब आप हमें आशीर्वाद दीजिए।''

''यह गुण मुझमें नहीं है।'' कृतवर्मा बोला, ''हस्तिनापुर के पितामह ही ऐसा कर सकते हैं—मन किसीके साथ, तन किसीके साथ और आशीर्वाद किसीके साथ।''

मुझे हँसी आ रही थी, पर मैं गंभीर ही रहा। मुझे लगा कि पितामह की प्रकृति का ज्ञान सबको है। अर्जुन भी चुप ही रहा।

चलते समय मैंने कृतवर्मा को अपना कार्यक्रम बताया—''मैं उपप्लव्य से हस्तिनापुर जाऊँगा। इसमें काफी समय लग सकता है। आप घबराइएगा नहीं। वहाँ

से लौटकर मैं मुशल आपके यहाँ भिजवा दूँगा।''

इसपर कृतवर्मा मुसकराया—''तुम ठहरे छलिया! तुम्हारा विश्वास नहीं। कौन जाने तुम वास्तविक मुशल भेजोगे या उसकी अनुकृति।''

मैं नाटकीय हँसी हँसा। बोला, ''इस अविश्वास की तो मेरे पास कोई ओषधि नहीं।'' फिर मैंने कहा, ''जो मुझमें विश्वास करते हैं, उन्हींको मेरा विश्वास प्राप्त होता है।''

कृतवर्मा का न तो मैं विश्वास बदल सकता था और न मानसिकता; क्योंकि यह उसके मन का परिणाम नहीं था। यह तो था दुर्वासा के शाप का परिणाम, जिसे समान रूप से उसे भी भोगना था और मुझे भी। दूसरी बात यह थी कि वह मुझे सात्यकि का मित्र और अपना शत्रु समझता था। इस स्थायी संबंध को बातों से बदलना कठिन था।

मैं तो इसलिए उससे मिला था कि उसके क्षेत्र से जा रहा था। यों ही निकल जाता तो वह अन्यथा लेता, सूचना तो उसे मिलती ही।

किसी तरह प्रकृति की विभिन्न मुद्राओं का सामना करता हुआ मेरा सारथि दारुक पूरी सजगता से रथ सँभाले था और रथ पर मेरे साथ बैठा था अर्जुन। बातों के क्रम में मैंने उससे वह बात पूछी, जिसके संबंध में जिज्ञासा मेरे मन में बार-बार उठी थी और हर बार मैं इधर-उधर की चर्चाओं में उलझ गया था।

मैंने उससे पूछा, ''अच्छा, यह बताओ, अर्जुन! जिस समय मैंने अपना विभाजन किया था और पहले माँग लेने का तुम्हें अवसर भी दिया था, तब तुमने मुझे ही क्यों माँगा?''

अर्जुन मुसकराया। बोला, ''मैं आपको खोना नहीं चाहता था।''

''केवल इतनी बात तो नहीं होनी चाहिए।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''तुम्हारे मन में यह विश्वास होगा ही नहीं कि तुम मुझे छोड़ भी सकते हो, फिर खोने का प्रश्न कहाँ!''

अर्जुन हँसने लगा। उसने वास्तविकता बताई—''मेरे मन में एक बड़ी लालसा थी कि आप मेरे रथ के भी सारथि रहें, मेरे जीवन के तो सारथि रहे ही हैं।''

''ठीक है। अब तुम मुझसे दारुक का काम लेना चाहते हो, मुझे सूत बनाकर! क्योंकि मेरा विश्वास है कि मनुष्य के गुण-कर्म के आधार पर ही जातियाँ बनी हैं।''

''आप मनुष्य की बातें कर रहे हैं। मैं तो मानवेतर व्यक्ति की बातें कर रहा हूँ।''

अर्जुन की यह बात मैंने हँसी में उड़ा दी।

मार्ग में ही हमें एक रात आदिवासियों के गाँव में बितानी पड़ी। यह गाँव थोड़ी ऊँची पहाड़ी पर था। वर्षा में भीगने के अतिरिक्त यहाँ कोई और संकट नहीं था। यद्यपि उपप्लव्य थोड़ी ही दूर रह गया था, फिर भी मेघों भरी रात में रुकना अनिवार्य हो गया था। अश्व पेड़ों के नीचे बाँध दिए गए और मेरे सहयोगी सैनिकों ने भी आसपास की झोंपड़ियों में शरण ली।

थोड़ी देर बाद ही वर्षा तेज हो गई। अंधकार के इस महोत्सव से मेरा तो तादात्म्य था, पर औरों को अवश्य कष्ट हुआ होगा। अर्जुन भी मेरे साथ ही आनंद ले रहा था और गरजते मेघों को बड़े ध्यान से देख रहा था।

मैंने पूछा, ''क्या देख रहे हो?''

''कड़कती हुई बिजली में मुझे दुर्योधन दिखाई दे रहा है।'' उसने पहले जैसी ही बात कही।

''इस घुप्प अंधकार में दुर्योधन कभी प्रकाश का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। वह स्वयं अंधकार है—और अंधकार का अंधकार में कोई अस्तित्व नहीं।''

हम लोगों की बातें निकट की झोंपड़ी में बैठा एक बूढ़ा सुन रहा था। उसने खाँसते हुए हम लोगों से अंदर आने का आग्रह किया—''आप लोग उसी नीच दुर्योधन के बारे में बातें कर रहे हैं, जिसने धर्मराज का राज्य हड़पकर उन्हें वन-वन भटकने के लिए विवश किया? वह तो भला हो महाराज विराट का, जिन्होंने उन्हें आश्रय दिया। अरे, वह नीच तो खुद अँधेरा है और रौरव अँधेरे में जाएगा—और नरक भोगेगा।''

फिर उसने ताखे पर रखे पत्थर की एक विकृत मूर्ति को शीश झुकाया तथा वहीं रखे एक मृत्तिका पात्र में भरे द्रव को छोटे-छोटे पात्रों में उड़ेला और मुझे देते हुए बोला, ''यह प्रसाद लें और विश्राम करें। कल प्रातः जहाँ जाना हो, चले जाइएगा।''

उस अँधेरे में भी मैंने अर्जुन की ओर देखा और अर्जुन ने मेरी ओर। हम असमंजस में अवश्य थे, पर उस द्रव को पीने के अतिरिक्त मेरे पास कोई चारा नहीं था। उस झोंपड़े में एक दीया भी नहीं जल रहा था। बूढ़े ने हमारे प्रकाश की खोज का अनुभव किया।

''इस आँधी-पानी में कोई भी दीया जल नहीं पाता।'' उसने कहा, ''आपको किसी और वस्तु की आवश्यकता हो तो बताइए।''

"नहीं, हम बड़े आराम से हैं।" मैंने कहा।

"आप लोगों को जाना कहाँ है?" उसने पूछा।

"उपप्लव्य।"

"उस नगर का भाग्य है कि धर्मराज वहाँ अपने परिवार के साथ हैं। यह महाराज विराट की ही कृपा है। हम लोग धर्मराज की ही प्रजा हैं।" फिर उसने ताखे पर रखे अपने भगवान् को प्रणाम कर प्रार्थना की—"हे भगवान्, दुर्योधन को ऐसी सद्बुद्धि दो कि वह धर्मराज का हड़पा राज्य लौटा दे। आप लोग भी उनकी सहायता कीजिए। ऐसा देवता पुरुष तो हमने देखा नहीं।"

मुझे स्पष्ट लगा कि यह हम लोगों को पहचान नहीं रहा है।

फिर उसने पूछा, "आप लोग कहाँ से आ रहे हैं?"

मैंने दबी जबान से कहा, "द्वारका से।"

"कृष्ण कन्हैया तो अच्छे हैं न? उनके राज्य में कोई दुःखी नहीं होगा। हम लोगों ने उनकी बड़ी प्रशंसा सुनी है। बड़ी लालसा है उनके दर्शन की।" बूढ़ा एक साँस में बोल गया।

"यदि आपकी लालसा है तो उनका दर्शन अवश्य मिलेगा।" मैंने कहा।

अंधकार के परदे में खेला गया यह नाटक कितना मोहक था!

बूढ़ा फिर बोला, "सुना है, वह बहुत अच्छी वंशी बजाते हैं! उन्होंने अपनी वंशी से कालिय नाग को भी मोह लिया था। क्या उनकी वंशी दुर्योधन पर प्रभाव नहीं कर सकती?"

अर्जुन कुछ बोलना ही चाहता था कि मैंने उसका हाथ दबाया। फिर मैंने कहा, "उसको वंशी की धुन की परख कहाँ! वंशी की धुन के लिए उसके कान बहरे हैं।"

"तब तो वह कालिय नाग से भी अधिक जहरीला होगा।" बूढ़ा बोला, "हम वनवासियों का भी विश्वास है कि जिसपर कला प्रभाव नहीं करती, उसके काटे लहर नहीं आती।"

बूढ़े की इस टिप्पणी पर मैं अवाक् रह गया। मुझे कभी विश्वास नहीं था कि इन वनवासियों में भी कला की इतनी परख होगी।

कटि में खोंसी अपनी वंशी को अब मैंने और अधिक छिपाने की चेष्टा की कि मैं स्वयं उघड़ने लगा। अँधेरे में भी बूढ़े को आभास हुआ कि मैं अपनी कमर में कुछ टटोल रहा हूँ।

"क्या है तुम्हारी कमर में? घबराओ नहीं, यहाँ सब सुरक्षित रहेगा।"

फिर पता नहीं बूढ़े को क्या सूझा कि वह धीरे से उठा। ताख पर रखे दीये को जलाने की चेष्टा में गढ़े में राख से दबी आग को सूखे पत्ते डालकर जलाने की चेष्टा करने लगा। बड़े प्रयत्न के बाद पत्ते भभक उठे। दीया जलाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उसे मेरी वंशी दिख गई।

"ओ हो, तो तुम्हीं कन्हैया हो!" मारे प्रसन्नता के वह झूम उठा—"सचमुच तुम बड़े छलिया हो! जहाँ मेरी आँखें झपतीं वहाँ तुम चुपचाप उठकर चले जाते।"

अब वह कुछ जोर से बोला, "सो गई क्या रे? देख, आज झोंपड़ी में कृष्ण-कन्हैया आए हैं। झोंपड़ी पवित्र हो गई है रे! उठकर उनके चरण छू।"

निढाल धरती पर पड़ी एक जवान स्त्री उठकर हम दोनों का पैर छूने आई। उसका सारा शरीर नग्न था। केवल अधो भाग जंगली पत्ते से बीने हुए एक घेरेनुमा आवरण से आच्छादित था।

मैंने उसे आशीर्वाद देते हुए पूछा, "यह आपकी पत्नी है?"

"हाँ, चौथी है। यह मेरे साथ ही रहती है। बाकी तीन दूसरी झोंपड़ी में हैं।" उसने बताया। फिर उसने अपनी पत्नी से कहा, "अतिथि की सेवा करो।"

मैंने उसे यह कहते हुए रोक दिया—"यह तो आपकी सेवा के लिए है, हमारी सेवा के लिए नहीं।"

वह हँसा। फिर उसने कहा, "अच्छा, अब आप लोग सो जाइए। अब सवेरे ही आपके लिए जो कर सकूँगा, करूँगा।"

पर हमें नींद कहाँ! मैं केवल झपकी लेता रहा। सोचता रहा, सबके बावजूद उसने अर्जुन का परिचय नहीं पूछा। एक दूसरी बात और मन में आई। यदि वंशी न होती तो मैं पहचाना न जाता। लगता है, वंशी की जिजीविषा मुझसे अधिक है। मैं जब न रहूँगा तब भी यह रहेगी। शायद मैं इसीके द्वारा पहचाना जाऊँ।

सवेरे जब आँखें खुलीं तब मौसम साफ था; पर उस झोंपड़ी में न बूढ़ा था और न उसकी पत्नी। हम उठकर बाहर आए। हमारे सहयोगी सैनिक भी टहलते और अपने वस्त्र सुखाते दिखाई दिए।

मैंने उन्हें सुनाते हुए अर्जुन से कहा, "कहाँ इस यात्रा में फँसे! पर चलो, बिना कष्ट सहे कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता।"

तब तक बूढ़ा सारे गाँव को बटोर लाया। दूध, दही, मक्खन, मधु आदि जिसके पास जो भी था, वह लिये चला आया था। हम सब लोग खाकर अघा गए। जब हम वहाँ से चलने लगे तब उसने गाँव के कुछ व्यक्तियों को सीधे और साफ

रास्ते से पहुँचने के लिए साथ कर दिया।

चलते-चलते उसने बड़े विनीतभाव से कहा, ''जाते समय तो आप अपनी वंशी सुनाते जाइए।''

फिर मैंने वंशी की धुन छेड़ी। मेघों से भीगी प्रकृति भैरवी से एक बार फिर भीग उठी।

□

मध्याह्न के पूर्व ही हम उपप्लव्य की समतल भूमि पर आ गए थे। मार्ग में एक स्थान पर मैंने अर्जुन से पूछा, ''उस बूढ़े की झोंपड़ी में तुम्हें कुछ मिला?''

अर्जुन उसकी पत्नी पर परिहास करते हुए बोला, ''मिलने वाला था, पर आपने बाधा खड़ी कर दी।''

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, ''तू भी चुहुल करने से बाज नहीं आता। उस झोंपड़ी में सबसे बड़ी बात यह मिली कि जनमत कौरवों के विरुद्ध और तुम्हारे पक्ष में है। यही तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति है; क्योंकि कोई भी युद्ध केवल सैनिक और आयुध के बल पर नहीं जीता जा सकता। उसके लिए जनमत का व्यापक सहयोग और सहानुभूति चाहिए। वस्तुत: यह धर्मराज युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा का फल है। तुम लोगों की तेरह वर्ष की घोर तपस्या का परिणाम है। मुझे तो बड़ा संतोष हुआ, अर्जुन! जो मैं चाहता था, बात वह बन गई।''

अर्जुन ने भी मेरी बात का समर्थन किया।

हम जब उपप्लव्य पहुँचे तो लोग खिल उठे। वे मेरी प्रतीक्षा करते-करते लगभग निराश हो चुके थे। प्रकृति की प्रतिकूलता ने उन्हें और भी हताश कर दिया था।

युधिष्ठिर ने कहा, ''मैं तो समझता था कि आप द्वारका से सीधे हस्तिनापुर चले जाएँगे।''

''ऐसा कैसे होता! मैंने आप सबको वचन दिया था कि मैं उपप्लव्य से होता जाऊँगा। मैं आप सबसे मिलना चाहता था। आपमें से एक-एक का विचार जानना चाहूँगा और उसीके आधार पर अपने विचार बनाऊँगा। मैं आपका प्रतिनिधित्व करने जा रहा हूँ, अपना नहीं।''

''आप अपने और हममें अंतर समझते हैं?'' युधिष्ठिर ने कहा।

''अंतर नहीं भी है और है भी।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''अपनी ओर से लिया हुआ निर्णय मुझे आप पर थोपना होगा और आपकी ओर से लिया गया निर्णय आपका अपना होगा।''

इसके बाद सीधे मैं द्रौपदी के कक्ष में गया। पिछली बार उसे बड़ा समझा-बुझाकर गया था कि मैं बिना तुम्हें सुने हस्तिनापुर नहीं जाऊँगा। इसीसे उससे सबसे पहले मिलना आवश्यक था।

जब मैं उसके कक्ष में सूचना देकर घुसा तो भीम वहाँ पहले से ही उपस्थित था। शायद उनकी आपस में कुछ मंत्रणा चल रही थी।

"मैं आपकी मंत्रणा में विघ्न डालने या उसमें भाग लेने नहीं आया हूँ। मैं अलग-अलग आपमें से हर एक से मिलने आया हूँ।"

इतना सुनते ही भीम चुपचाप मुसकराता हुआ चला गया।

"अब बताओ, तुम्हें क्या कहना है?" मैंने द्रौपदी से पूछा।

"सुना है, आप संधिवार्त्ता के लिए जा रहे हैं?"

"जा तो रहा ही हूँ।"

अब वह आग की तरह भभकी—"किसलिए संधि? किस बात के लिए संधि? आप मेरी यह खुली वेणी देख रहे हैं न! क्या यह जीवन भर खुली ही रह जाएगी? जब से दुःशासन ने इसे पकड़कर खींचा है तब से यह उसके रक्त के लिए छटपटा रही है।"

मैं चुपचाप सुनता रहा। वह कहती गई—"इसी वेणी को दिखाने के लिए ही मैंने पिछली बार भी चेष्टा की थी और आज भी आपको बुलाया था, जिससे संधिवार्त्ता के समय यह चोटी आपके दृष्टिपथ में लटकती रहे।"

मैंने याज्ञसेनी के आवेश को काफी देर तक सहा। जब वह कुछ ठंडी पड़ी तब मैंने कहा, "अच्छा, मान लो, यदि समझाने-बुझाने पर कौरव तुम्हारा आधा राज्य देने पर राजी हो गए, तब भी तुम्हारी वेणी खुली रह जाएगी?"

उसने तपाक से कहा, "हाँ, खुली रह जाएगी। मैं किसी भी स्थिति में प्रतिशोध लूँगी!"

"पर प्रतिशोध का अंत तो प्रतिशोध में नहीं होता।" मैंने कहा, "प्रत्येक प्रतिशोध एक दूसरे प्रतिशोध को जन्म देता है। फिर तो यह अंतहीन सिलसिला चलता रहता है।" फिर वह सोच में पड़ गई। मैंने मुसकराते हुए क़हा, "प्रतिशोध का अंत तो क्षमा की सीमा पर होता है।"

"लगता है, आप भी धर्मराज के प्रभाव में आ गए। आप लोगों की बुद्धि को क्या हो गया है? किसीके संकल्प का कोई महत्त्व नहीं! क्षमा करते-करते तो हम इस स्थिति में पहुँच गए—और आज भी आप क्षमा का ही राग अलाप रहे हैं!" द्रौपदी आवेश में थी—"फिर जिस समय मैंने संकल्प किया

था, उस समय मेरे पतियों ने भी संकल्प किया था। उन संकल्पों की जानकारी शायद आपको नहीं है।''

''मुझे सारी जानकारी है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''तब इस संधिवार्त्ता का क्या महत्त्व है?''

''जब विपक्ष संधिवार्त्ता करना चाहता है तब हम उससे पीछे क्यों हटें? संसार को क्यों दिखाएँ कि हम संधि के पक्ष में नहीं हैं?''

''पर युद्ध अनिवार्य है।'' द्रौपदी बोली।

''यह जानते हुए भी हमें संधि की बात चलानी चाहिए और यह सिद्ध कर देना चाहिए कि हम किसी भी स्थिति में युद्ध नहीं चाहते। भले ही हम युद्ध चाहते हों।'' इतना कहकर मैं हँस पड़ा। वह मेरी आकृति देखती रह गई।

इसके बाद मैं बुआजी से मिला। वह बैठी तो बहुत उदास थीं, पर मुझे देखते ही प्रसन्न हो गईं। मेरे पहुँचने का कारण वह पहले से जानती ही थीं। फिर मैंने अपनी नीति के साथ सारा संदर्भ सुनाया।

उन्होंने भी अपनी इच्छा व्यक्त की—''यदि युद्ध न होता और बात बन जाती तो बहुत अच्छा होता।''

''मेरी भी यही इच्छा है।'' मैंने कहा, ''पर दुर्योधन, शकुनि और उस नीच सूतपुत्र के कारण युद्ध होकर ही रहेगा।'' फिर मुझे अचानक जैसे कुछ याद आया—''अच्छा बुआजी, आप एक बात बताएँ। जब दुर्योधन मृत्यु-शय्या पर पड़ा था, किसीका कहना नहीं मान रहा था, तब आपने ही उसका प्रायोपवेशन व्रत तुड़वाया था, तब वह रो पड़ा था, आपके चरण भी छुए थे। क्या वह आपकी बात नहीं मानेगा?''

''वह तो मान भी सकता है; क्योंकि मेरी दृष्टि में वह उतना नीच नहीं है जितना उसका मामा।''

''मामा से कम बाधक आप कर्ण को मत समझना।'' मैंने कहा, ''यदि वह दुष्ट उनके पक्ष में न होता तो कौरवों का साहस पांडवों से लोहा लेने का न होता। सूतपुत्रों में इतना प्रतापी योद्धा मैंने न कहीं देखा है और न सुना है।''

इतना सुनते ही बुआ की आँखों से आँसू टपकने लगे। अनजाने में ही मैंने एक दबे घाव को हरा कर दिया था। फिर वह स्वयं फफक पड़ीं—''बेटा, वह सूतपुत्र नहीं है, मेरा पाप है।''

इतना सुनते ही मैं अवाक् रह गया। फिर बुआजी ने उसके जन्म की सारी कथा बताई। कर्ण की आकृति एक बार फिर मेरे नेत्रों के सामने आई। स्वर्ण कवच

और कुंडलों से युक्त उसका देदीप्यमान व्यक्तित्व सूर्यपुत्र होने का स्वयं प्रमाण था। अब मेरी भी कर्ण के प्रति सहानुभूति जागी। मुझे ऐसा लगा जैसे घने अंधकार में छाए मेघों के गर्भ में चमकनेवाली बिजली मेरे हाथ लग गई है। मैंने उसे लपेटकर मस्तिष्क की मंजूषा में बंद कर दिया कि जब फिर मेघ गरजेगा तो उसको दिखाऊँगा और वह पानी-पानी हो जाएगा।

मैंने बुआजी को समझाया—''अब तो जो हो चुका, वह हो चुका। उसके लिए चिंतित होना व्यर्थ है; पर आप इस रहस्य को गोपनीय ही रखिए। हो सकता है, आपको अपना पाप कभी ब्रह्मास्त्र की तरह प्रयोग करना पड़े।'' इतना कहकर मैंने उनके चरण छुए और चल पड़ा; क्योंकि अब और कुछ कहने की स्थिति में मैं नहीं था।

मुझे जल्दी थी। गर्गाचार्य ने जो मुहूर्त मुझे बताया था, उस मुहूर्त में ही हस्तिनापुर पहुँचना था। मैं इसका आभास भी किसीको देना नहीं चाहता था। मुझे हस्तिनापुर में अपनी उपस्थिति की अप्रत्याशितता बनाए रखनी थी।

बुआजी के यहाँ से शीघ्र ही मैं युधिष्ठिर के दरबार में पहुँचा। वहाँ पाँचों भाई मेरे ही संबंध में मंत्रणा कर रहे थे। गंभीर विवाद छिड़ा था। भीम संधिवार्त्ता के विरुद्ध था। उसका कहना था कि यह हमारे अधिकार का प्रश्न है। वे हमें प्रसन्नता से दें या युद्ध से, हम दोनों के लिए तैयार हैं। भीम एक छोर पर था तो युधिष्ठिर दूसरे छोर पर।

विवाद गंभीरता से उग्रता की ओर बढ़ता दिखाई दिया। मैंने कहा, ''आप लोग शांत हों। मैं हर व्यक्ति की राय जानना चाहूँगा।''

''तो पहले मैं अपनी बात कहना चाहूँगा।'' भीम बोला।

''आप तो अपनी बात मेरी पिछली यात्रा के समय ही कह चुके हैं।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''और आपकी ओर से और लोगों ने भी कहा है। अब कोई नवीनता तो आपकी बात में होगी नहीं!''

वह चुपचाप बैठ गया।

अब मैंने अर्जुन की ओर संकेत किया।

उसने बड़ी चतुराई से कहा, ''मुझे कुछ नहीं कहना है। मुझे विश्वास है कि आप हस्तिनापुर में जो कुछ कहेंगे, उसमें मेरे हृदय की बात होगी।''

फिर नकुल और सहदेव ने भी कुछ विशेष नहीं कहा। युधिष्ठिर आवश्यकता से अधिक गंभीर थे। फिर मैं बड़े सहजभाव से बोला, ''मेरी तो इच्छा धर्मराज को अकेले में सुनने की है।''

अन्य भाई चुपचाप उठकर चले गए। अब उपप्लव्य के अंतरंग भाग के उस विशाल कक्ष में मैं था, युधिष्ठिर थे और थी शून्यता।

धर्मराज की गंभीरता तोड़ते हुए मैंने ही उनकी मूकता तोड़ी—"तो आपका क्या निर्देश है?"

"मेरा निर्देश क्या है! तुम तो सारी स्थिति देख ही रहे हो, द्वारकाधीश! जब से मैं पैदा हुआ तब से मुझे बाहर का भी और भीतर का भी विरोध सहना पड़ा। शायद यह मेरे जन्म नक्षत्र (तुला का सूर्य और ज्येष्ठा नक्षत्र) का ही प्रभाव है कि मेरी धर्मपरायणता, सत्यता और कर्तव्यनिष्ठा श्रेय तो रही, पर प्रेय न बन पाई। मैंने किसीके विश्वास पर कुठाराघात नहीं किया। हर व्यक्ति का वह आग्रह स्वीकारा, जो धर्म के विरुद्ध नहीं था। सम्राट् होकर जंगलों की धूल फाँकी। आरण्यक जीवन बिताया; पर राम के समान नहीं, एक हारे हुए जुआरी के समान। मैंने अपने साथ ही अपने परिवार को भी कष्ट दिया। यही तो था मेरे साथ नियति का खिलवाड़!"

मुझे लगा कि दुःख का भरा घड़ा आज अचानक फूट पड़ा।

वह अब भी अप्रतिहत बहता रहा—"सबकुछ होते हुए भी आज मैं कितना निस्संग और कितना असहाय हूँ! आज मैं मार्ग के उस बिंदु पर आ गया हूँ, जहाँ से एक पगडंडी युद्ध की ओर जाती है और दूसरी मेरे वैराग्य की ओर। परिवार के सभी युद्ध की ओर बढ़ने के लिए तैयार हैं। एक केवल मैं हूँ, जो अब वैराग्य की ओर देख रहा हूँ। अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?"

मैंने कभी युधिष्ठिर को निराशा की इस स्थिति में नहीं देखा था। वे बहुधा अलग-थलग पड़ते रहे, पर बड़ी शांति से उस एकाकीपन का सामना करते थे; पर आज तो वे एकदम टूटे हुए लगे। साहसपूर्वक वनवास और अज्ञातवास सह लेने के बाद भी यह स्थिति!

मैंने उन्हें सँभालने की चेष्टा की और कहा, "आपकी स्थिति किसीसे छिपी नहीं है। आज भी आप धर्मराज के नाम से पूजे जाते हैं।"

वे बीच में ही बोल पड़े—"यही पूजा तो मेरे गले का फंदा बन गई है, कन्हैया!"

"पर इसी पूजा पर इतिहास गर्व करेगा।" मैंने कहा, "और आप स्वयं को निस्संग क्यों समझते हैं? जिसके साथ धर्म हो, कर्तव्यपरायणता हो, सत्य हो उसके साथ भविष्य होता है, भले ही वर्तमान उसके विरुद्ध हो।"

"पर हम तो वर्तमान के भोक्ता हैं।"

अब मुझे मौका मिला—"आप वर्तमान के भोक्ता होकर भी वैराग्य की बात

सोचते हैं! और इस वय में वैराग्य, वह भी राजा के लिए! ऐसा शास्त्र में कहीं नहीं है—और धर्म भी ऐसी अनुमति नहीं देता।''

''तो धर्म युद्ध की अनुमति देता है? अपने ही परिजनों की हत्या की अनुमति देता है?''

''युद्ध की अनुमति तो नहीं देता; पर यदि बलात् हमपर युद्ध लादा जाता है तो उसे धर्मयुद्ध समझकर स्वीकार करने की अनुमति देता है।''

अब धर्मराज की आकृति का रंग बदला। वे चुप रह गए। स्पष्ट लगा कि अभी वह पूर्व चिंतन की कारा से मुक्त नहीं हो पाए हैं।

मैंने कहा, ''मैं भी आपके ही विचार का हूँ। मैं भी किसी स्थिति में युद्ध नहीं चाहता; पर यदि युद्ध गले पड़ेगा तो हम जमकर उसका सामना करेंगे। हम हस्तिनापुर की सभा में इन सारी स्थितियों की जानकारी देंगे। हम पांडवों का राज्य माँगेंगे; पर भीख की तरह नहीं, अधिकार की तरह।''

''और यदि उन्होंने आपकी बात स्वीकार नहीं की, तब?''

''तब आपकी ओर से अंतिम प्रस्ताव करेंगे। उसे आप ही बताइए कि वह प्रस्ताव क्या हो?''

युधिष्ठिर को सोचता देखकर मैंने फिर कहा, ''आप निस्संकोच भाव से बता दीजिए। मैं किसी और से उसकी चर्चा नहीं करूँगा। अवसर देखकर उसका उपयोग किया जाएगा।''

तब महाराज बोले, ''मेरा अंतिम प्रस्ताव होगा कि हम किसी भी स्थिति में अपने भाइयों से लड़ना नहीं चाहते। यदि कौरव हमें पाँच ग्राम भी दे दें तो हम पाँचों भाई उसीमें जी-खा लेंगे।''

मुझे सचमुच युधिष्ठिर के चिंतन पर दया आई और श्रद्धा भी हुई। मेरा मन बोल उठा—'यदि आप जैसे व्यक्ति इस धरती पर सभी हो जाते तो शायद युद्ध का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।' मैंने पुनः पूछा, ''आप उन ग्रामों को विशेष रूप से रेखांकित करना चाहेंगे या उन्हींकी इच्छा पर छोड़ देंगे?''

''मैं तो सोचता हूँ, अविस्थल, वृकस्थल, माकंदी, आसंदी और वारणावत ही मुझे मिल जाएँ तो भी हम संतोष कर लेंगे।''

□

दो
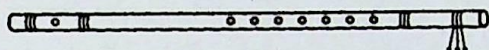
जो सेना मेरे साथ आई थी, उसे उपप्लव्य से लेकर मैं चल पड़ा। यों तो सभी पांडव मुझे छोड़ने आए थे और कुछ दूर साथ चलने के बाद छोड़कर चले भी गए, पर जो छोड़ने नहीं आई थी उस द्रौपदी को मैं नहीं छोड़ पाया। उसकी स्मृति मस्तिष्क से लिपटी रही। अब भी मानो वह मुझसे कह रही हो—'मैं महाराज द्रुपद की 'अयोनिसंभव' पुत्री हूँ। यज्ञ की लपटों से मेरा जन्म हुआ है। धृष्टद्युम्न की बहन हूँ। आप मेरे प्रिय सखा हैं—और इंद्र के समान तेजस्वी पाँच पांडवों की पट्टमहिषी हूँ मैं। इतना सम्मानित होते हुए भी मेरे केश पकड़कर सभा में लाया गया—वह भी खींचते हुए। क्या यह मेरा ही अपमान था, आप सबका नहीं?' मुझे ऐसा लगा कि उसकी खुली लटें नागिन की तरह फुफकारती हुई कह रही हैं कि यदि संधि हुई तो इतने दिनों से संगृहीत मेरे विष का क्या होगा?

इसका उत्तर न मैं उस समय दे पाया और न इस समय दे पा रहा हूँ। मैंने अपनी असमर्थता सात्यकि से कही।

वह तुरंत बोला, "इसका उत्तर आप युद्ध में दीजिएगा।"

मैं मौन रह गया।

चलते समय मैंने सात्यकि को अपने रथ में बैठा लिया था। द्वारका से ही वह साथ था; क्योंकि इस यात्रा में छंदक उपलब्ध न हो सका था।

यह यात्रा मैंने कार्तिक मास के रेवती नक्षत्र में आरंभ की थी। इसके अतिरिक्त कोई शुभ मुहूर्त मेरे पास नहीं था। फिर भी अनेक गंभीर अपशकुन हुए। सात्यकि तो घबरा गया। मैंने उसे ढाढ़स बँधाया—"ये सारे अपशकुन हमें सावधान करने के लिए हैं, जिससे जो भी हो, शुभ हो।"

कुछ आगे बढ़ने पर मैंने सात्यकि को बताया—"अब हम पुराने इंद्रप्रस्थ की सीमा के निकट पहुँच रहे हैं, जो कभी पांडव राज्य की सीमा थी।"

शरद् की संध्या थोड़ी-थोड़ी ठंडी पड़ने लगी थी। प्रकृति की इस शीतलता

ने रात्रि ग्राम में बिताने की सलाह दी। ग्राम और बस्ती की खोज में हम बढ़ते चले जा रहे थे कि सामने से आता साधुओं का एक दल दिखाई दिया। निकट आते ही उन लोगों ने हमें पहचान लिया। हमने भी रथ से उतरकर उनके चरण छुए, कुशल-क्षेम पूछा।

वे बोले, ''सारा कुशलक्षेम तो आप देख ही रहे हैं। धर्मराज की सुख-सुविधा के बाद अब अधर्मराज का कष्ट झेल रहे हैं।''

''आप जैसे महर्षियों को कष्ट हो, यह तो घोर आश्चर्य है!''

''जहाँ सज्जन सताए जा रहे हों, जहाँ साधुओं की पर्णकुटियाँ उजाड़ी जा रही हों, जहाँ दुर्जन खल दुष्ट जन सुविधाओं पर डाका डाल रहे हों वहाँ की क्या स्थिति होगी, इसे आप सहज ही जान सकते हैं।''

''जहाँ तपस्वियों के तप में बाधा पड़ती है, उस राज्य की सत्ता आप जैसे तप:पुत्रों की आह झंझा में पीपल के सूखे पत्ते की तरह उड़ जाती है।'' मैंने कहा।

''तुम्हारा वचन सत्य हो, केशव!'' उन्होंने आशीर्वाद दिया और आगे बढ़ गए। वे किधर जा रहे हैं, यह न तो उन्होंने बताया और न हमने पूछा।

आगे वृकस्थल ग्राम पड़ा। उस ग्राम की उत्फुल्ल प्रकृति और संपन्न ग्रामीणों को देखते ही मैं समझ गया कि आखिर युधिष्ठिर द्वारा माँगे गए पाँच ग्रामों में एक यह क्यों है। इसके पूर्व और उत्तर में एक हरी-भरी पहाड़ी है। उसमें एक सुंदर निर्झर है। यहाँ एक धारा निकलती है। वहाँ के एक ग्रामीण ने बताया कि यह धारा कभी नहीं सूखती—अकाल में भी नहीं। ऐसा किसी ऋषि का आशीर्वाद है—और जब तक यह धारा रहेगी, यह ग्राम भी हरा-भरा रहेगा।

मैंने उस ग्रामीण की मानसिकता समझ ली और तुरंत प्रस्ताव रखा—''हम लोग महाराज युधिष्ठिर के कार्य से जा रहे हैं और आज की रात यहाँ ठहरना चाहते हैं।''

''इतनी सेना के साथ!'' युवकों के उस समूह को अचरज हुआ।

वे दौड़े-दौड़े अपने बड़े-बूढ़ों को बुला ले आए। वे हमें पहचान गए। प्रसन्नता में नाच उठे—''आप तो हमारे अन्नदाता हैं! भगवान् हैं! हमारा सौभाग्य है कि आज आपने इस ग्राम को पवित्र किया है।''

तुरंत उन्होंने हमारा पूजन-अर्चन आरंभ किया। रथ के घोड़े खोल दिए गए। अश्वारोहियों के अश्व भी चरने के लिए खोल दिए गए। सारे गाँव ने मिल-बाँटकर हमारे सभी सैनिकों को अपना अतिथि बना लिया। वह रात सुख के दिनों की तरह ऐसी कटी कि पता ही नहीं चला।

दूसरे दिन ज्ञात हुआ कि उसी गाँव के कुछ लोग हस्तिनापुर गए हैं। ये लोग उसी परिवार के थे, जो बाद में इस गाँव में बसाए गए थे, जिन्हें कुछ राजकीय वृत्ति मिलती थी।

मैंने जिज्ञासा की—"क्या सारे गाँव को ऐसी राजकीय वृत्ति मिलती है?"

गाँववालों ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया। मैं समझ गया; पर सात्यकि चुप न रह सका। उसने तुरंत कहा कि यह अन्याय है।

इतनी शीघ्रता से सात्यकि द्वारा निष्कर्ष निकाल लेने पर मैं मुसकराया। सबके सामने तो मैं कुछ नहीं बोला, किंतु एकांत में ले जाकर मैंने उसे समझाया कि वस्तुत: वे हस्तिनापुर के गुप्तचर हैं, जो इस गाँव में बसाए गए हैं। अपनी गुप्तचरी के लिए ही वे राजकीय वृत्ति पाते हैं।

अप्रत्याशित पहुँचने के मेरे प्रयत्न पर पानी फिर गया। दूसरे ही दिन महाराज धृतराष्ट्र को पता चल गया कि हमारे आग्रह पर श्रीकृष्ण पांडवों की ओर से आ रहे हैं और उन्होंने वृकस्थल ग्राम में पड़ाव डाला है। उन्होंने संजय और विदुरजी से गंभीर मंत्रणा की। पितामह को भी इसकी सूचना दी गई और पूरा हस्तिनापुर मेरी अगवानी के लिए सजाया जाने लगा।

वृकस्थल से हस्तिनापुर की दूरी अधिक नहीं है। अपने आगमन की सूचना के लिए हमने अपनी सेना की एक टुकड़ी आगे भेज दी, जिसमें मेरे कुछ विश्वस्त गुप्तचर भी थे। मेरी बगल में बैठा सात्यकि तुरंत बोल पड़ा—"जब उन्हें पता ही चल गया है कि आप आ रहे हैं, तब इनके भेजने की आवश्यकता क्या?"

"यह एक औपचारिकता है।" रहस्यमय ढंग से मुसकराते हुए मैंने कहा, "और भी कुछ है, जिसे समय बताएगा।"

अब हम बड़े सहजभाव से आराम से आगे बढ़ने लगे; जैसे हमें पहुँचने की जल्दी ही न हो।

मध्याह्न ढल गया। कुछ और घड़ियाँ आराम से चलते हुए बीत गईं। हस्तिनापुर की नगर सीमा में पहुँचने के पहले मेरी आतुरता बढ़ने लगी। फिर भी मैं सात्यकि से इधर-उधर की बातें करता रहा। थोड़ी देर में मेरा एक गुप्तचर सैनिक आता दिखाई दिया।

उसने आते ही सूचना दी—"आज प्रात: महाराज ने पितामह और महामात्य से गंभीर मंत्रणा की है।"

"यह तो मैं जानता ही हूँ।" मैंने कहा, "तुम आगे की बात बताओ।"

"उस मंत्रणा के बाद दुर्योधन को भी बुलवाया गया और उससे कहा गया

कि द्वारकाधीश आ रहे हैं। हमें उनकी सलाह की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

"तब दुर्योधन बोला, 'वे क्या कहेंगे, इसे मैं जानता हूँ। वे पांडवों के लिए आधे राज्य की माँग करेंगे।'

" 'तो क्या अनुचित करेंगे?' पितामह ने कहा।

" 'मैं उचित और अनुचित की सीमा के परे हूँ।' दुर्योधन का अहंकार बोला, 'आप सभी इसे अच्छी तरह समझ लें कि हाथ में आई राज्यलक्ष्मी का एक अंश भी मैं देने के पक्ष में नहीं हूँ।'

"यह सुनकर सभी अवाक् रह गए। 'तुम समझ रहे हो कि तुम क्या कह रहे हो?' पितामह बोले।

" 'हमारा सोचना हमपर छोड़ दें। आप सब मौन होकर तमाशा देखें कि हम क्या करते हैं!' "

"इससे तो लगता है कि उन लोगों ने कोई षड्यंत्र फिर रचा है।" गुप्तचर की बात पर सात्यकि की प्रतिक्रिया थी।

पर मेरी जिज्ञासा गुप्तचर को ही सुनने में लगी थी। मैंने उसे आगे बढ़ाया। वह बोलने लगा—"पितामह ने फिर पूछा, 'आखिर तुम उनका क्या कर लोगे?'

" 'पहले तो मैं उन्हें अपनी ओर मिलाने की चेष्टा करूँगा। वे मेरे समधी हैं।' दुर्योधन ने कहा, 'वे जो चाहेंगे, दूँगा।'

" 'तुम क्या समझते हो, कृष्ण तुम्हारे फुसलावे में आ जाएँगे!' पितामह दुर्योधन की मूर्खता पर हँस पड़े।

" 'यदि मैं इस तरह से असफल हो जाऊँगा, तब देखिएगा, हम क्या करते हैं!' दुर्योधन बड़े आवेश में था—'हम उन्हें बंदी बनाकर कारा में डाल देंगे।'

"इतना सुनना था कि पितामह क्रोध से काँपने लगे। उनकी रक्तवर्णी आकृति से चिनगारी छूटने लगी। वे बोले, 'तू सिंधु को बाँधने चला है! अब तेरा भगवान् ही कल्याण करें।' इतना कहते हुए वे उठे और अग्निबाण की तरह छूटे तथा सीधे अपने निवास की ओर गए।" गुप्तचर ने बताया—"उन्हींके साथ वह सैनिक भी बाहर आया, जिसने ये सारी सूचनाएँ मुझे दी थीं।"

मैंने गुप्तचर को सावधान किया—"देखो, यह बात किसीको मत बताना, अपने मित्रों को भी नहीं। हमें स्वयं को ऐसा व्यक्त करना चाहिए जैसे हमें कुछ पता ही नहीं है।"

गुप्तचर सैनिक चुपचाप अब हमारी सेना के साथ हो गया।

इस सूचना से सात्यकि घबराया भी और भयभीत भी हुआ। उसने कहा,

''जब यही होना है तब हमारे चलने की सार्थकता क्या है?''

''इसी समय तो हमारी सार्थकता है।'' मैंने कहा, ''आर्यावर्त्त देख ले कि कौरव किस नीचता तक गिर सकते हैं!''

''यह सब तो आपके सिद्धांत और आदर्श की बातें हैं। यथार्थ तो यह है कि हम जानबूझकर आग में हाथ डाल रहे हैं। आप बंदी बना लिये जाएँगे और हम अनाथ हो जाएँगे।''

''क्या बात करते हो, सात्यकि!'' मेरा स्वाभिमान उबला—''अभी तक तो तुमने मेरा सामान्य रूप देखा है। अब तुम वह रूप देखना, जब मेरी अस्मिता स्वयं मुझसे बाहर निकलकर तांडव करेगी। और जानते हो, सात्यकि, अधर्म व अन्याय के जंगल को जलाने के लिए धर्म एवं न्याय की एक चिनगारी काफी है।''

जब हमने नगर द्वार में प्रवेश किया, सूर्य अस्त हो चुका था। धुँधलका छा रहा था। कार्तिक की शीतल बयार का आनंद लेते हुए सारा नगर मेरे स्वागत में आँखें बिछाए था। तरुणियाँ वातायनों और अलिंदों से हमपर पुष्पवर्षा कर रही थीं।

सिंहद्वार पर सबसे पहले दुर्योधन मिला। मैंने उसे बढ़कर छाती से लगाया। तब तक कर्ण दिखाई पड़ा। मैंने ससम्मान उसका अभिवादन किया। लोग अचरज में आ गए। थोड़ा और आगे बढ़ा तो देखा कि शकुनि मामा भी कोने में खड़ा है।

''अरे मामाजी, आप भी यहाँ तक चले आए! लगता है, फिर कोई पासा फेंका जाएगा!'' मैंने कहा।

एक खिलखिलाहट हर अधर को छूती हुई शारदीय बयार में समा गई।

हम सीधे महाराज के प्रासाद की ओर बढ़े। हमें सूचना दी गई कि महाराज औरों के साथ सभागार में ही बैठे हैं और आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं सात्यकि को लेता हुआ सभागार में गया। वहीं पितामह, विदुरजी, सोमदत्त और बाह्लीक से भी भेंट हो गई। कुछ ही क्षणों बाद दुर्योधन के साथ उसकी पूरी मंडली पहुँची। हमें बताया गया कि प्रासाद परिसर में दु:शासन का भवन सबसे सुंदर है। मेरे मन ने कहा कि जिस राज्य में दु:शासन का भवन सबसे सुंदर होगा, वह राज्य कैसा होगा? पर मैं कुछ बोला नहीं, मुसकराकर रह गया। दु:शासन का भवन ही मेरे आवास के लिए खूब सजाया गया है, यह सूचना मुझे दुर्योधन ने दी।

मैंने परिहास करते हुए कहा, ''मुझे तो आपका ही भवन इस परिसर में सबसे सुंदर लगेगा; क्योंकि वहाँ समधिनजी से भेंट होगी।''

जोर का ठहाका लगा।

इसके बाद स्वर्ण पात्रों में थोड़ा-थोड़ा मैरेय आया—मुख्य रूप से हम

अतिथियों की थकान मिटाने के लिए। सभी के सामने चषक रखे गए। महाराज का चषक विशेष रूप से मणिजटित था। पितामह वानप्रस्थी अवस्था पार करने के बाद मैरेय छोड़ चुके थे। इसीलिए उनका पात्र मधुमिश्रित दुग्ध से भरा था।

मैंने सात्यकि की ओर देखा और सात्यकि ने मेरी ओर। इसी बीच एक परिचर ने महाराज के हाथ में पात्र थमाया और उन्होंने हम सबसे ग्रहण करने का आग्रह किया। मैंने भी पात्र मस्तक से लगाया और फिर रख दिया। सात्यकि ने मेरा अनुसरण किया।

''क्यों, आप पी नहीं रहे हैं?'' दुर्योधन बोला।

''मैं कहाँ पीता हूँ!'' मैंने हँसते हुए कहा, ''मैरेय ग्रहण करने का काम मैंने अपने भैया को सौंप दिया है। वे अपना तो पीते ही हैं, मेरा हिस्सा भी पी लेते हैं।''

फिर ठहाका लगा।

''इसका तात्पर्य है कि यदि कोई किसीका हिस्सा मार दे तो आप उसका विरोध नहीं करेंगे?'' मामा बोला।

मैंने तुरंत उत्तर दिया—''मैं तो समझता था कि मामाजी केवल पासा फेंकना जानते हैं; पर वह किसीको फँसाने के लिए जाल भी बड़ी चतुराई से फेंकते हैं।'' इसपर भी लोग खुलकर हँसे। मैंने देखा कि पितामह भी मुसकरा रहे थे। मैं बोलता गया—''हिस्सा मार देने में और हिस्सा स्वेच्छया दे देने में बड़ा अंतर है, मामाजी! एक में लोभ है और दूसरे में उदारता; एक में छल है और दूसरे में प्रेम; एक में त्याग है और दूसरे में अनीति।''

लोग बड़ी गंभीरता से मुझे सुनते रहे। इसी बीच मधुमिश्रित दुग्ध का चषक मेरे सामने भी आ गया।

''अब आप ग्रहण करें।'' यह आग्रह भी दुर्योधन का था।

मैंने उस चषक को भी मस्तक से लगाया और मुसकराते हुए बोला, ''मैं आपके इस सत्कार का सम्मान करता हूँ; पर इस समय मैं महाराज युधिष्ठिर का दूत बनकर आया हूँ। दूत का धर्म है कि जब तक वह दौत्य कर्म पूरा न कर ले तब तक वह वहाँ का अन्न-जल भी न ग्रहण करे।''

मेरे द्वारा 'महाराज युधिष्ठिर' कहते ही दु:शासन हँस पड़ा। मैं समझ तो गया कि युधिष्ठिर को 'महाराज' कहने पर इसकी यह व्यंग्य हँसी है, फिर भी मैंने उधर ध्यान नहीं दिया। दुर्योधन ने भी उसे प्रगल्भ न होने के लिए संकेत किया।

''तब आप हमारे यहाँ कुछ ग्रहण नहीं करेंगे?'' दुर्योधन बोला, ''अरे, आप हमारे अतिथि हैं; वरन् अतिथि ही नहीं, परिवार के सदस्य हैं। इसीलिए

पिताजी ने दु:शासन का प्रासाद आपके ठहरने के लिए खाली करवाया और उसे विशेष रूप से सजाया गया। यों तो हमारा अतिथिगृह ही सुविधाजनक एवं संपन्न है।''

''मैं इस आत्मीयता और सम्मानभाव के लिए आप सबका आभारी हूँ; पर वर्तमान स्थिति में यह क्या मेरे लिए स्वीकार्य होना चाहिए? क्या यह दूतधर्म के अनुकूल है? मैं यह प्रश्न स्वयं से नहीं, आप सबसे कर रहा हूँ—विशेषकर उन वृद्धजनों से, जो यहाँ बैठे हैं।''

एक गंभीरता भरी चुप्पी ने सभा की सारी मुखरता कुछ क्षणों तक दबा दी।

मैंने ही वह चुप्पी तोड़ी—''मैं आपका अतिथि भी हूँ और आपके परिवार का सदस्य भी। मैं यह सबकुछ हूँ; पर अपना दौत्य कर्म पूरा करने के बाद।''

''यदि आप अन्न-जल ही नहीं ग्रहण करेंगे, तब आपका आतिथ्य सत्कार कैसे होगा?'' अब महाराज बोले।

''मैं अतिथि हूँ कहाँ!'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''इस समय मैं धर्मराज का दूत हूँ, केवल दूत।''

''तब आप ठहरेंगे कहाँ?''

''कहीं भी ठहर जाऊँगा। एक रात की ही तो समस्या है।''

''पर इतनी जल्दी हम वार्त्ता के लिए तैयार कैसे होंगे?'' दुर्योधन बोला।

''वार्त्ता के लिए तैयारी क्या! वह तो कभी भी हो सकती है। आप चाहें तो अभी भी हो सकती है। फिर आपने हमें वार्त्ता के लिए आमंत्रित किया है। आपकी मानसिक तैयारी तो पहले से ही होनी चाहिए।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''यदि आप किसी और चीज के लिए समय लेना चाहें तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। आप जितना चाहें, समय लें।''

मेरे इतना कहते ही धृतराष्ट्रपुत्रों को लगा कि मैंने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली है। कुछ गंभीर हो गए, कुछ कनमनाए और कर्ण तो खड़ा ही होने वाला था कि मामा ने उसे हाथ पकड़कर बैठा दिया।

अब तक मौन पितामह बोल पड़े—''अरे भाई, अभी बात करने के लिए बहुत समय है। पहले कन्हैया को जलपान आदि करके प्रकृतिस्थ होना चाहिए। इसके लिए हम लोगों को उन्हें मुक्त करना चाहिए कि वे हस्तिनापुर में अपनी इच्छानुसार रहने का स्थान चुन लें।''

अब मुझे मौका मिला। मैंने तुरंत कहा, ''यदि मैं आपके महामात्य विदुरजी के यहाँ रहूँ तो आप लोगों को कोई आपत्ति तो नहीं होनी चाहिए। आपके परिवार में

भी रहूँगा और दूतधर्म से भी च्युत नहीं होऊँगा।''

''इसमें हमें क्या आपत्ति हो सकती है!'' महाराज ने हँसते हुए कहा।

''इसका मतलब है कि आप हमारे परिवार में न रहकर अपने परिवार में रहना चाहते हैं।'' दुर्योधन ने सीधा कटाक्ष किया; क्योंकि कल ही कुंती बुआ आई थीं और उन्हींके यहाँ ठहरी थीं।

मैंने भी बड़ा कूटनीतिक उत्तर दिया—''हमारा-आपका परिवार दो थोड़े ही है। अभी तो भगवान् की कृपा से पितामह हम सबके बीच में हैं। उनकी आँखें भले ही दो हो सकती हैं, पर उनके मस्तिष्क में छवि तो एक ही बनती होगी।''

पितामह हँसे। मैं कह नहीं सकता कि वह उनकी विवशता भरी हँसी थी या सहज। इसके बाद मैं एकदम उठ खड़ा हुआ और मुसकराते हुए बोला, ''एक दौर की बातचीत खत्म हुई। इसके लिए आप सबको धन्यवाद।''

□

बाहर आकर रथ पर बैठने पर सात्यकि ने मेरे कान में धीरे से कहा, ''आज मैं आपकी कूटनीतिज्ञ क्षमता का लोहा मान गया। आपने कौरवों को हर दाँव पर चित किया।''

मैं मुसकराकर रह गया।

हम लोग विदुरजी के उठने की प्रतीक्षा किए बिना उनके आवास की ओर चल पड़े। कार्तिक की रात ठंडाने लगी थी। अँधेरा हुए दो घड़ी बीत चली होगी। सामने आकाश में उगते हुए चंद्र का तिर्यक् मुख कुछ मुसकराता-सा लगा।

प्रासाद परिसर से निकलते हुए जिन्होंने हमें देखा, वे अवाक्-से रह गए। एक कुतूहलपूर्ण जिज्ञासा सबकी आकृतियों पर छाई-सी लगी। क्या बात है कि कृष्ण लौटे चले जा रहे हैं; जबकि उनकी सारी सैन्य शक्ति यहीं पड़ी है और उनके ठहरने की व्यवस्था भी यहीं थी!

मैंने दारुक से कहा, ''किसी और ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। सीधे महात्मा विदुरजी के आवास की ओर बढ़ चलो।''

हम लोगों के पहुँचने के लगभग एक घड़ी बाद विदुरजी पधारे। इसके पहले चाचीजी (विदुरजी की पत्नी) ने हम लोगों के विश्राम की सारी व्यवस्था कर दी थी। जलपान करने के बाद मैं और सात्यकि—दोनों एक ही शय्या पर लेट गए।

विदुरजी ने आते ही पूछा, ''आप लोगों ने कुछ खाया-पीया कि नहीं?''

''आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे।'' मैंने कहा, ''बिना आपकी उपस्थिति के भोजन करने में स्वाद कहाँ!''

विदुरजी हँस पड़े। उन्होंने कहा, ''भोजन का स्वाद और मेरी उपस्थिति! इसमें कोई संगति दिखाई नहीं देती।''

''जैसे भोजन का स्वाद दिखाई नहीं देता, पर होता है।'' मैंने कहा, ''भोजन का असली स्वाद तो आतिथेय का अपनत्व ही उत्पन्न करता है, जो हस्तिनापुर के राजभवन में शायद ही मिलता।''

इतना सुनते ही विदुरजी गंभीर रूप से मौन रह गए। बहुत देर तक चुपचाप खड़े रहे। फिर उन्होंने चलते हुए कहा, ''अच्छा, वस्त्र बदलकर मैं भी भोजन के लिए तैयार हो जाता हूँ।''

थोड़ी देर बाद हम लोग भोजन पर बैठे। विदुरजी की गंभीरता अब भी बनी रही।

''चुपचाप भोजन करने से भोजन का स्वाद ही मर जाएगा।'' मैंने कहा, ''ऐसा लगता है कि आज आपके पास कुछ कहने-सुनने को नहीं है।''

''कहना तो बहुत है, पर कुछ कहने योग्य नहीं है।'' विदुरजी बोले। फिर उन्होंने चारों ओर देखा; जैसे दीवारों से भी सजगता बरत रहे हों, और बोले, ''हस्तिनापुर आकर तुमने अच्छा नहीं किया, कन्हैया!''

''क्यों?''

''दुर्योधन और उसकी मित्रमंडली की नीयत ठीक नहीं है।''

''यही न कि वे मुझपर आक्रमण कर सकते हैं! मुझे बंदी बना सकते हैं।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''यह तुम्हें कैसे मालूम?'' विदुरजी चकित रह गए और मैं बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराता रहा। मानो उनका विस्मय बोल रहा हो—'लोग तुम्हें जो अंतर्यामी कहते हैं, उसका प्रमाण आज मिल गया।'

मैंने उनके विस्मय पर एक रंग और चढ़ाया—''उन्होंने तो मुझे विष देने की भी योजना बनाई थी; पर क्या अभी तक उन्हें सफलता मिली?''

''अब मैं तुम्हें मान गया कि तुममें वे सारे गुण हैं, जो भगवान् में होते हैं।'' विदुरजी ने कहा, ''जब तुमने आज राजभवन में न ठहरने और दौत्य कर्म किए बिना जल तक न ग्रहण करने की बात कही थी, तब मैंने इसे नीतिगत यथार्थ समझा था; पर अब समझता हूँ, उसमें तुम्हारी कितनी बड़ी कूटनीति थी। तुमने कौरवों के प्रथम षड्यंत्र पर तो पानी फेर ही दिया।''

सात्यकि बड़े जोर से हँसा। मैं भी मुसकराता रहा। मैंने फिर उन्हें और कुरेदा—''आजकल बाह्लीक अपने पुत्र सोमदत्त के साथ यहीं हैं?''

"थे तो नहीं, दो दिनों से आए हैं। जरा समझने की बात है कि इतनी दूर शिवि राज्य से वे चले आए हैं।" उन्होंने कहा, "और जो दुर्योधन ने वार्त्ता के लिए समय माँगा है, उसके पीछे भी रहस्य है।"

"यही न कि उसके खास कुछ लोग और आ रहे हैं।"

विदुरजी फिर चकित हुए—"जब सब तुम जानते ही हो तो मुझसे पूछने की आवश्यकता क्या है? आश्चर्य तो यह है कि यह सब जानते हुए भी तुमने आग में हाथ डाला।"

"ऐसा भी हो सकता है कि वह हाथ अंगारे को मसल दे।" कह तो दिया मैंने, पर शीघ्र ही लगा कि मेरे कथन में मेरा अहंकार प्रगल्भ हो गया। मैंने एकदम मुद्रा बदली—"जो होना है, वह तो होगा ही। उससे डरना क्या! आप ही लोगों का तो कहना है कि साहस के साथ उसका मुकाबला करना चाहिए; किंतु धर्म और न्याय के विरुद्ध होकर नहीं। मैं यह जानता हूँ कि पितामह और महाराज के लाख चाहने पर भी दुर्योधन संधि होने नहीं देगा। वह तो अपनी जिद पर अड़ा है कि हाथ में आई राज्यलक्ष्मी का एक अंश भी मैं युधिष्ठिर को नहीं दूँगा।"

"यह सब तुम जानते हो?" विदुरजी ने फिर अचरज व्यक्त किया।

मैं मुसकराता और अपनी बात कहता रहा—"सुना है, पहले उसने मुझसे मिलने की योजना बनाई थी, जो आज ही बेकार हो चुकी। अब वह मेरी हत्या करेगा या बंदी बनाएगा। जानते हैं, क्यों?" मैंने मुसकराते हुए प्रश्न किया और फिर उसका उत्तर भी स्वयं ही दिया—"केवल इसलिए कि जड़ ही काट दो, फिर पांडव जड़ से कटे वृक्ष की तरह आपसे आप सूखकर ढुलक जाएँगे। पर उन मूर्खों को यह नहीं मालूम है कि मैं कुछ नहीं हूँ वरन् नियति का एक अस्त्र मात्र हूँ। मैं जब नहीं रहूँगा तब नियति उनकी सहायता के लिए एक दूसरा अस्त्र उठा लेगी। वे अब यह सोचते हैं कि न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। पर वे मूर्ख यह नहीं जानते कि बाँस के न रहने पर भी बाँसुरी की धुन तो रहेगी ही।"

विदुर और सात्यकि विस्मय के साथ मुझे सुनते गए; जैसे मैं कोई चमत्कारी बात कह रहा हूँ। मैं कहता गया—"इतना सब होते हुए भी मैं संधिवार्त्ता के लिए आया हूँ। इसके दो मुख्य कारण हैं। पहला तो यह कि मैं महाराज धृतराष्ट्र और पितामह द्वारा संधिवार्त्ता के लिए आमंत्रित किया गया हूँ; अपनी ओर से नहीं आया। यदि मैं न आता तो लोग यही कहते कि कौरव तो संधि चाहते थे, इसके लिए उन्होंने कृष्ण को आमंत्रित किया था; पर वे स्वयं नहीं आए। भावी युद्ध का सारा अपराध मेरे सिर मढ़ा जाता। दूसरे यह कि संधि के लिए मैं हर प्रकार की चेष्टा

करूँगा; जितना झुकना हो सकता है, उससे अधिक झुकूँगा। फिर यदि संधि नहीं होती है तो युद्ध का अपराध कौरवों के सिर जाएगा। सारा आर्यावर्त्त देख लेगा कि पांडव बेचारे किसी शर्त पर भी संधि करना चाहते थे, पर कौरवों ने एक नहीं सुनी। फिर प्रभु की भी ऐसी इच्छा है कि कौरवों का अहंकार चूर किया जाए।''

''यदि अहंकार चूर हो जाएगा तब तो संधि हो ही जाएगी।'' विदुरजी बोले, ''उनका सबसे बड़ा अहंकार है कर्ण! उसके अतिरिक्त भी वह अन्य वीरों के नाम गिनाता है। दूसरी बात यह है कि कौरवों का विश्वास है कि तेरह वर्षों तक शासन से अलग रहने और वनवासी जीवन बिताने के कारण पांडवों का राजघरानों से संबंध टूट गया है। वे शायद ही उनके पक्ष में खड़े हों।''

''मैंने सुना है, पांडवों की शक्ति का विस्तृत वर्णन द्रुपद के पुरोहित और संजय द्वारा उन्हें मिला है?'' मैंने बीच में ही उन्हें टोका।

''पर वे उसपर विश्वास नहीं करते।'' विदुरजी ने बताया—''तुम्हारे जो परंपरागत विरोधी हैं और जो सांब के कारण आजकल विरोधी हो रहे हैं, उनका भी उन्हें भरोसा है।''

स्थायी विरोधियों का उल्लेख करते ही मैंने पूछा, ''अच्छा, यह बताइए, कृतवर्मा तो नहीं आया है?''

''अभी तक तो नहीं आया है। हो सकता है, दुर्योधन ने उसीके लिए समय माँगा हो।'' फिर उन्होंने मुझे सावधान करते हुए कहा, ''देखिए, यह बात किसीको मालूम नहीं होनी चाहिए; क्योंकि चांडाल चौकड़ी ने यह योजना बड़ी गुपचुप बनाई है। महाराज और पितामह को भी इसका भान नहीं है। एक बार दुर्योधन ने पितामह के समक्ष इसका संकेत किया था। तब उन्होंने बड़ी फटकार सुनाई थी और खुद उठकर चले गए थे।''

''उनकी गुपचुप योजना का आपको पता कैसे चला?'' मैंने पूछा।

''मुझे गुप्तचर अमात्य ने बताया और यह भी कहा था कि 'यह बात फूटने न पाए, अन्यथा मेरे प्राण संकट में पड़ जाएँगे। मैं तो आपको इसलिए बता रहा हूँ कि आप संकेत से यह बात द्वारकाधीश तक पहुँचा दें, जिससे वह न आएँ।' ''

विदुरजी ने बताया—''मैं यही सोच रहा था कि किसको भेजूँ, कहाँ भेजूँ, कैसे भेजूँ? तब तक पता चला कि आप वृकस्थल तक आ गए हैं।''

बातों का क्रम न टूटा होता, यदि बीच में चाची न आ जातीं। वे मुसकराती हुई बोलीं, ''आज की रात क्या भोजन पर ही बीतेगी?''

अब हम लोगों को समय का ज्ञान हुआ।

जब हम अपने कक्ष में आए, रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। हवा में आनंदमयी शिथिलता आ गई थी। कक्ष के बाहर प्रहरी सजग थे। फिर भी सात्यकि द्वार बंद करने लगा।

मैंने कहा, ''यह क्या कर रहे हो?''

''ऐसी स्थिति में द्वार खुला ही छोड़ दूँ!''

''तब क्या करोगे? चारों ओर बंद कर मुझे इन दीवारों का बंदी बना देना चाहते हो!'' मैं जोर से हँसा—''जो दुर्योधन अभी तक नहीं कर पाया, उसे तुम कर दोगे!''

मेरी बात शायद उसकी समझ से दूर थी। फिर भी उसने द्वार बंद नहीं किए और चुपचाप आकर अपने पर्यंक पर लेट गया। अपलक ऊपर की छत की ओर देखता हुआ बहुत देर तक पड़ा रहा।

''किसी ध्यान-साधना में तल्लीन हो गए क्या?''

''आपको परिहास सूझ रहा है! मुझे तो भय लग रहा है।'' सात्यकि बोला, ''जब चारों ओर हमारे शत्रु हैं तब किसी भी समय कुछ भी हो सकता है।''

''कहाँ हैं शत्रु? मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देते। इस समय मेरे और तुम्हारे सिवा यहाँ कौन है?'' मैंने हँसते हुए कहा, ''वस्तुतः तुम स्वयं अपने शत्रु बन रहे हो; क्योंकि भयभीत करनेवाले भी तुम्हीं हो और भयातुर होनेवाले भी तुम्हीं हो। यहाँ आखिर तुम्हें किससे भय है? मुझसे भय है? इस अंधकार से भय है? खुले हुए वातायनों और द्वारों से भय है? किससे भय है? कितना विचित्र है कि मनुष्य अपने मन से पैदा होनेवाले भय से ही भयभीत होता है! भय कहीं बाहर से नहीं आता।''

''बाहर उसकी परिस्थितियाँ तो हैं।'' सात्यकि बोला।

''जो बाहर है, उसे भीतर क्यों ले आ रहे हो? उसे बाहर ही रहने दो और निर्भय होकर सो जाओ। तुम मारे जाने के पहले ही मरना चाहते हो! मेरे मित्र होकर भी इतने कायर हो!''

''आप मेरी बात समझ नहीं पा रहे हैं।'' उसने कहा।

''और शायद तुम मुझे समझ नहीं रहे हो; क्योंकि तुमने कभी योग-साधना तो की नहीं है। कभी शरीर से अलग होकर भी तुमने स्वयं को देखा है? तुम एक ज्योतिपुत्र हो। अनंत असीम शक्ति तुममें है। शरीर के बंधन में बँधकर तुम बहुत छोटे हो गए हो। तुम शरीरी हो, पर तुम स्वयं को शरीर ही समझते हो। शरीर तो मृत्युलोक का दिया तुम्हारा वस्त्र है। अपनी इच्छानुसार काल इस

वस्त्र को उतार भी सकता है, या जीर्ण होने पर तुम स्वयं इसे उतार दोगे। तो तुम अभी से उससे अलग होने का अभ्यास करो। सारा भय तुम्हारे इस शरीर तक है। निर्भय होने के लिए तुम इससे अलग होकर देखो। शायद तुम यह नहीं जानते कि तुम्हारा यह शरीर पूरे ब्रह्मांड में एक छोटा सा जीव है; जबकि तुम्हारे भीतर भी एक ऐसा ही ब्रह्मांड है।''

''पर मैंने न कभी ऐसा देखा है और न अनुभव किया है।''

''अवसर आने दो, तुम उसे भी देख लोगे।'' मैंने कहा, ''योग-साधना से यह संभव होगा।''

''मैं आपकी बात बिलकुल समझ नहीं पा रहा हूँ।'' सात्यकि बोला, ''इतने दिनों से मेरी-आपकी मित्रता है; पर ऐसी बात आपने कभी नहीं की थी।''

''क्योंकि इसकी आवश्यकता नहीं थी। अब स्थिति ऐसी आ गई है कि तुझे समझाना पड़ रहा है। दुर्योधन की कुचेष्टा के समय मेरा वास्तविक रूप तुम्हें दिखेगा। मैं उसीके लिए तुम्हें तैयार कर रहा हूँ। उस समय तुम्हारा यह कन्हैया नहीं रहेगा। एक दूसरा ही रूप तुम अपने कन्हैया का देखोगे; जो अवध्य है, अबंद्य है; जिसे दुर्योधन क्या, यह मृत्युलोक भी नहीं बाँध पाएगा।''

मैंने अनुभव किया कि सात्यकि मेरी बात पर जहाँ चमत्कृत था वहीं आत्मविश्वास भी उसकी आकृति पर थोड़ा झलक रहा था। थोड़ी देर बाद वह नींद से साक्षात्कार करने लगा।

□

आज प्रातः से ही लोग मुझसे मिलने के लिए आने लगे। इनमें आचार्य द्रोण और कृप पहले थे। दोनों ने पांडवों का कुशलक्षेम पूछा। द्रोण अर्जुन के बारे में जानने के लिए विशेष इच्छुक थे।

उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, ''यदि कर्ण कौरवों के पक्ष में न होता तो दुर्योधन की पूरी सेना के लिए एक अर्जुन ही काफी था।''

''क्या कहूँ, एक ही आकृति की दो आँखें—एक इधर चली आई, एक उधर रह गई।'' मैं बोल तो गया, पर मुझे तुरंत लगा कि यह मुझसे भूल हो गई। मैंने बात दूसरी ओर मोड़ दी—''संधिवार्त्ता के समय आप लोग भी रहेंगे न?''

''हम अपनी कोई उपयोगिता तो नहीं समझते।'' द्रोण ने कृपाचार्य की ओर से उत्तर दिया—''पर हम तो चाकर हैं। हस्तिनापुर के महाराज की जैसी इच्छा होगी वैसा तो करना ही पड़ेगा।'' बड़ी विवशता थी उनकी वाणी में।

''मैंने तो सोचा था कि आप मेरा समर्थन करेंगे।'' मैं मुसकराते हुए बोला।

''मन तो आपके साथ है ही; पर परिस्थितियाँ बड़ी विचित्र हैं।'' द्रोण ने कहा, ''किंतु हमारे होने न होने से क्या अंतर पड़ने वाला है? भीष्मजी, विदुरजी और स्वयं महाराज आपका समर्थन करेंगे ही।''

''तब तो काम बनना चाहिए।'' मैंने कहा, ''महाराज को ही स्वीकार करना है—और महाराज मेरे समर्थन में हैं, ऐसा आप कहते हैं।''

''पर महाराज के समर्थन से क्या होता है! होगा वही, जो दुर्योधन और उसकी मंडली चाहेगी।''

''क्यों, महाराज की कोई आवाज नहीं है?''

''महाराज की यदि कोई आवाज होती तो हस्तिनापुर की यह हालत न होती।''

हम लोग इसी चिंता में डूबे थे कि पता चला, पितामह पधार रहे हैं। उनके पधारते ही हम लोग खड़े हो गए। मैं जब उनके चरण छूने के लिए झुका तो उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया।

पांडवों के कुशलक्षेम के बाद बात आरंभ हुई। इसी बीच दोनों आचार्य भी पितामह से अनुमति लेकर चले गए। तब पितामह ने कहा, ''कन्हैया, तुम्हारे आने से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। अब मुझे विश्वास है कि कोई-न-कोई रास्ता अवश्य निकल जाएगा। द्रुपद के पुरोहित की वार्त्ता से तो ऐसा लगा जैसे पांडवों ने बड़ी शक्ति अर्जित कर ली है। वे शांति का प्रस्ताव तो करते हैं, पर वे युद्ध के लिए भी तैयार हैं। असि की छाया में तो कोई संधिवार्त्ता नहीं होती; फिर वह भी धृतराष्ट्रपुत्रों से, जिनमें प्रत्येक यदि अहं का हिमालय नहीं है तो उसकी कोई-न-कोई चोटी अवश्य है। तुम तो जानते हो कि संधि के लिए नम्यता चाहिए।''

''पर यह नम्यता दोनों ओर की चाहिए।'' मैंने बीच में ही टोका—''एक ओर की नम्यता से तो काम नहीं चलेगा। तब तो वही स्थिति होगी कि हम झुकते-झुकते आपके चरणों पर मस्तक रख दें और आप अपनी ऐंठ में खंभे की तरह खड़े रहें। यह तो हमारी नम्यता न हुई, आत्मसमर्पण हुआ। संधिगत नम्यता तो वह है, जिसमें दोनों झुकें और एक-दूसरे को छाती से लगा लें।''

''मैं तुम्हारी बात से बिलकुल सहमत हूँ।'' पितामह ने कहा, ''मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना था कि यदि तुम्हें उन्नीस भी मिले तो उससे संतोष करो। इन दुष्टों को बीस ही ले लेने दो। हमें विश्वास है कि उन्नीस पाकर भी पांडव अपनी क्षमता और धर्मपरायणता के बल पर शीघ्र ही कौरवों से इक्कीस हो जाएँगे; क्योंकि, कन्हैया, मैं युद्ध बिलकुल नहीं चाहता।''

"युद्ध तो हम भी नहीं चाहते, पितामह। और शायद महाराज युधिष्ठिर हममें से सबसे अधिक युद्ध न चाहनेवालों में हैं।" मैंने कहा, "अच्छा, पांडवों की ओर से आपको पूर्ण अधिकार है कि आप जो भी निर्णय करेंगे, वह उन्हें मान्य होगा।"

पितामह एकदम गंभीर हो गए। फिर बड़ी गंभीरता से बोले, "यही तो दुर्भाग्य है, कृष्ण, कि पांडव मुझे ऐसा अधिकार दे सकते हैं, पर धृतराष्ट्रपुत्र नहीं दे सकते।"

अपनी विवशता को इतना स्पष्ट घोषित करते हुए मैंने पितामह को कभी नहीं देखा था। इसके बाद वे देर तक बैठे भी नहीं, चुपचाप चले गए।

इसके बाद और कई लोग आए। उनमें से कुछ लोग तो औपचारिकता का निर्वाह करने ही आए थे; पर किसीकी बातचीत या मुद्रा से दुर्योधन के षड्यंत्र की गंध नहीं लगी और न मैंने अपनी ओर से कोई प्रयत्न ही किया।

जब बाह्लीक और सोमदत्त आए तब मैंने उन्हें टटोलना चाहा। मैंने कहा, "बहुत दिनों के बाद भेंट हो रही है। संयोग था कि इस समय आप यहीं थे, अन्यथा न शिवि तक मेरा जाना होता और न द्वारका में आपका पधारना।"

वे तुरंत खुले—"मेरा भी इस समय उपस्थित होना एक सुखद संयोग है। न दुर्योधन का बुलावा जाता और न मैं यहाँ आता। लेकिन मैं अभी तक यह नहीं जान पाया कि मैं किसलिए बुलाया गया हूँ।"

"अरे, आप इस परिवार के वयोवृद्ध हैं।* कोई आवश्यक नहीं कि आप किसी प्रयोजन के लिए ही बुलाए जाएँ। फिर पांडवों और कौरवों में गंभीर विरोध के बाद संधि होने जा रही है। यह क्या बड़ा प्रयोजन नहीं है? इसमें आपकी राय का बड़ा महत्त्व है।"

"अब हम लोगों का व्यक्तित्व तो पुरातात्त्विक हो गया है। पुरातत्त्व की वस्तुएँ बहुमूल्य अवश्य होती हैं, पर कक्ष में सजाने के अतिरिक्त उनका कोई उपयोग नहीं होता। अब मैं भी सभा को सुशोभित करने के ही काम आता हूँ।"

मैं एक सम्मानजनक मुसकराहट के बीच बोला, "नहीं, ऐसी बात तो नहीं है।"

अब वे और खुले—"इस बार भी मुझे थोड़े ही बुलाया गया था। सोमदत्त को बुलाया गया था। मैं तो उसके साथ ही चला आया हूँ।"

---

* बाह्लीक देवापि और शांतनु का ज्येष्ठ भाई था। इसकी अवस्था पितामह भीष्म से भी अधिक रही होगी।

"चलिए, किसीको बुलाया तो गया है।" मैंने कहा और सोमदत्त से पूछा, "कृतवर्मा को भी बुलाया गया है?"

"हाँ, वे आज संध्या तक आ जाएँगे।"

फिर वह न कुछ बोला, न मैंने कुछ पूछा। अब यह समझ लेने में कोई कोर-कसर नहीं रही कि दुर्योधन अपनी योजना को साकार करने में बड़े जोरों से लगा है।

इसी मिलने-जुलने में दिन का आधा समय बीत गया। सूर्य मध्य आकाश तक चढ़ आया; पर अभी तक मैं कुंती बुआ से नहीं मिला था। वे क्या सोच रही होंगी? कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे वहाँ पहुँचने के पहले बुआजी स्वयं मुझसे मिलने चली आएँ? तब तो डूब मरने की बात होगी।

मैंने सात्यकि को लिया और तुरंत बुआजी के यहाँ पहुँचा। मुझे देखते ही वे बोल पड़ीं—"भला तुम्हें मेरी सुधि तो आई। तुमने बड़ा अच्छा किया, जो मुझे यहाँ पहले भेज दिया। यहाँ आकर तो मेरी धारणा ही बदल गई। जो कुछ सुनती हूँ और दुर्योधन बंधुओं का जैसा व्यवहार देखती हूँ, उससे तो नहीं लगता कि तुम अपने कार्य में सफल होगे। युद्ध अनिवार्य लगता है।"

"यह क्या कह रही हैं, बुआजी, आप? जब आप ही निराश हो जाएँगी तब तो मुझे कहीं से भी आशा की किरण दिखाई नहीं देगी।"

"तो क्या कहूँ? समझनेवालों को समझाया जा सकता है, नासमझ को भी समझाया जा सकता है; पर जो समझना ही नहीं चाहते, उन्हें तुम क्या समझाओगे?"

मैं चुप था। बुआ उबलती चली गईं—"कौरवों ने मेरे बेटों पर कितना अन्याय किया, मैं सब भाग्य का विधान मानकर सहती चली गई। वे जुए में हारे, इसका भी क्लेश नहीं। उन्हें वन-वन भटकना पड़ा, इसका भी क्लेश नहीं। मुझे क्लेश तो तब हुआ जब मेरी पुत्रवधू को भरी सभा में केश पकड़कर लोग घसीटते ले गए और उस एकवस्त्रा नारी को नग्न किए जाने की हर कोशिश की गई। उस समय भी मैं खून का घूँट पीकर रह गई थी। इसपर भी दुर्योधन आदि अपनी ग़लती मानने को भी तैयार नहीं। उनका कहना है कि वह हारी जा चुकी थी। उसपर हमारा अधिकार था। हम चाहे जो करते।"

बुआ एकदम जल रही थीं। मैंने उन्हें इतने क्रोध में शायद ही देखा हो। वे भभकती रहीं—"अब तुम्हीं समझो, हर नारी पर किसी-न-किसी पुरुष का अधिकार होता है; तो इसका क्या मतलब है कि वह जहाँ चाहे, उसे नग्न कर सकता है? क्या नारी को समाज में जीने का अधिकार नहीं? उसकी अपनी

अस्मिता नहीं? जिस समाज में नारी का स्वाभिमान नहीं, वह समाज जानवरों से भी गया-बीता होगा।''

मैं एकदम चुप हो बुआजी को देखता रहा। लगता था कि दलित, प्रताड़ित और चोट-खोट खाई नारी उनमें जी उठी है।

''मैं तो युद्ध को अनिवार्य देखती हूँ।''

''सत्य तो यही है।'' मैंने कहा।

''फिर इस संधिवार्त्ता से क्या लाभ?''

''हानि ही क्या है?'' मैं बड़े शांतभाव से बोला। फिर मैंने उन्हें समझाया। वे सारी बातें कहीं, जो कल विदुरजी से कह चुका था।

''आप इस संधिवार्त्ता को भी युद्ध का एक भाग ही समझिए। कूटनीतिक युद्ध आसन्न युद्ध की भूमिका होता है। यदि हम कूटनीति की लड़ाई में पिछड़े तो वास्तविक लड़ाई में भी हार जाएँगे।''

''मैं कूटनीति क्या जानूँ! यह सब तुम्हारा विषय है।'' उन्होंने थोड़ा शांत होते हुए कहा, ''मैं भी संधि चाहती थी; पर यहाँ आकर जब यह देखा कि कौरव अपनी भूल स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं, तब मेरे भीतर नारी की अस्मिता प्रतिशोधात्मक हो उठी।''

□

मुझे अनुमान लग गया कि आज ही संधिवार्त्ता सभा का आयोजन हो रहा है। पहले तो मैंने सोचा था कि किसी उपाय से हमारी बातचीत केवल महाराज, पितामह और विदुरजी के बीच होनी चाहिए—इसके लिए मैंने युक्ति भी निकाल ली थी; पर विदुरजी इसके समर्थक नहीं थे। उनका कहना था—''वार्त्ता की चर्चा काफी दूर तक फैल गई है और दुर्योधन कभी भी पांडवों को उनका राज्यभाग नहीं देगा। यह सब जानकर कुछ ऋषिगण भी पधारे हैं। शायद वे दुर्योधन और उसके भाइयों को समझाने की चेष्टा करें। ऐसी स्थिति में आप सभा सबके लिए खुली रखिए। इसमें आपका ही लाभ है।''

मैंने विदुरजी की सलाह मान ली। सुना, कृतवर्मा आ गया है। मैं उससे स्वयं मिला। यह एक औपचारिकता का निर्वाह मात्र था, जिससे वह अन्यथा न समझे।

मैंने दारुक को रथ तैयार करने का आदेश दिया और सात्यकि को साथ लिया। तब तक सूचना मिली कि दुर्योधन और कर्ण एक विशाल सुसज्जित रथ लेकर आए हैं। बाहर आया तो मेरा भी रथ तैयार खड़ा था। मैंने उसपर सात्यकि

को बैठाया और स्वयं दुर्योधन के रथ पर चला गया। विदुरजी एक दूसरे रथ पर साथ थे।

मेरे पहुँचने के पहले ही सभागार में बहुत से लोग पहुँच चुके थे। मेरा स्वागत बड़े सम्मान के साथ किया गया और मणिजटित सिंहासन मुझे बैठने के लिए दिया गया।

महाराज के निर्देश पर मैं बोलने के लिए खड़ा हुआ। सबसे पहले मैंने इस प्रकार के स्वागत के लिए सबके प्रति आभार व्यक्त किया। फिर बड़ी भावपूर्ण भाषा में बोला, ''मैं अपने जीवन की सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी में आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। जिस संदर्भ में मैं आया हूँ, वह एक परिवार का विवाद है। क्या ही अच्छा होता, यदि परिवार के लोग ही मिल-बैठकर उसे सुलझा लेते। जहाँ पितामह, शिविराज बाह्लीक, महाराज धृतराष्ट्रजी एवं महामात्य विदुरजी जैसे सुधी, अनुभवी एवं वृद्धजन हों वहाँ कोई समस्या का समाधान न निकल पाए, यह आश्चर्यजनक भी है और हम सबके डूब मरने की बात भी। मैं तो महाराज युधिष्ठिर का न्यायसंगत प्रस्ताव लेकर आया हूँ।''

अब मैं प्रस्ताव पर सीधे बोलने लगा—''आप सब जानते हैं कि दो भाइयों—दुर्योधन और युधिष्ठिर में जुए का खेल हुआ। कैसे हुआ, क्या हुआ—यह सब सोचने की बात नहीं है। सोचने की बात यह है कि लोग उसे भूल नहीं पा रहे हैं; पर अब उसे भूलने में ही दोनों पक्षों का कल्याण है। पांडवों का घाव गहरा है; क्योंकि वे घाव पर घाव खाए हुए हैं। उसे भरने में देर लगेगी; पर समय सबको भर देता है। यदि हमने उचित वातावरण बनाया तो शायद यह कार्य शीघ्र ही हो जाए। इस संबंध में 'भूल जाओ और आगे की नीति पर विचार करो' की नीति हमें अपनानी चाहिए।''

''सीधे-सीधे बिंदु पर आइए। आप जुए की बातें कर रहे थे।'' दुःशासन ने बड़ी तेज आवाज में बीच में ही टोका।

मैंने चारों ओर देखा। उसका ऐसा करना किसीको अच्छा नहीं लगा। पर मैंने अपने भाषण की सहजता नहीं खोई। मुसकराते हुए बोलने लगा—''आप ठीक कहते हैं। तो जुए की शर्त के अनुसार उन्हें बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भोगना पड़ा। उन्होंने वनवास और अज्ञातवास को सफलतापूर्वक शर्त के अनुसार बिता लिया।''

''यह असत्य है!'' दुर्योधन चिल्लाया।

''तो सत्य क्या है?'' मैंने पूछा और सभा के नियम के अनुसार चुपचाप

अपने आसन पर बैठ गया, जिससे दुर्योधन को बोलने का अवसर मिले।

महाराज ने दुर्योधन को डाँटा भी—"बड़ों की बातों में भद्रजन बीच में नहीं बोलते।"

फिर भी उनकी बात अनसुनी करके दुर्योधन बोलता गया—"सत्य तो यह है कि पांडव अज्ञातवास की अवधि पूरी होने के पूर्व ही पहचान लिये गए।"

"यदि मैं यह कहूँ कि जो मैंने कहा है, वही सत्य है, तो क्या आप नहीं स्वीकारेंगे?" मैं मुसकराते हुए बोला।

"बिलकुल नहीं।" इस बार केवल दुर्योधन की ही आवाज नहीं थी।

"तो यह विषय यदि हम पितामह को सौंप दें कि वे ही बताएँ, अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने पर पांडव पहचाने गए हैं या उसके पहले, तो क्या आप मान जाएँगे?"

"मैं किसी बात की सत्यता के लिए दूसरों का प्रमाणपत्र क्यों लूँ? जबकि मैं जानता हूँ कि सत्य यही है।"

"यही तो दुर्भाग्य है कि तुम जिसे सत्य कहते हो, वह असत्य है।"

मेरे इतना कहते ही पितामह भी बोले, "दुर्योधन, द्वारकाधीश जो कह रहे हैं, वही सत्य है। उनकी बात मानने में ही हम सबकी भलाई है।"

दुर्योधन फिर भी तैयार नहीं हुआ। मैंने समझ लिया कि वह इसी बिंदु पर हठ करेगा और पांडवों का राज्यभाग देना नहीं चाहेगा।

अब मैंने दूसरा रास्ता पकड़ा—"आइए, अब हम इस विवाद से थोड़ा हटकर विचार करें, तो कैसा हो! आप यों सोचें कि पांडवों से संधि करने से आपकी कोई हानि नहीं होगी; बल्कि इस समय हस्तिनापुर की जितनी शक्ति है, वह लगभग दूनी हो जाएगी। फिर संपूर्ण आर्यावर्त्त भी आप लोगों के सामने खड़ा नहीं हो पाएगा। देश एक भीषण रक्तपात से बच जाएगा। लोग आपका यशगान करेंगे।"

अब महाराज धृतराष्ट्र ने भी कहा, "बेटा दुर्योधन, तुम द्वारकाधीश की बात मान लो।"

फिर तो धृतराष्ट्रपुत्रों को छोड़कर सारी सभा मेरे पक्ष में दिखाई देने लगी। महर्षि परशुराम ने भी 'दंभोद्भव' की कथा विस्तार से सुनाकर मेरा समर्थन किया।

फिर भी दुर्योधन किसीकी बात मानने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था; पर दबाव इतना था कि वह खुलकर कह भी नहीं पा रहा था। तब दुःशासन तुरंत खड़ा हुआ। वह बड़े निर्भीक भाव से दुर्योधन से बोला, "हम लोगों को यहाँ से तुरंत चल देना चाहिए, अन्यथा हमारे बुजुर्ग ही हमें बंदी बनाकर इस बहुरूपिए

को सौंप देंगे।''

मैंने उसका संकेत समझ लिया; किंतु औरों की समझ में नहीं आया, क्योंकि वे उनकी योजना नहीं जान रहे थे। मैंने फिर उसे शांत करने की चेष्टा की—''आप लोग इतने उत्तेजित क्यों हो रहे हैं? कृपया बैठिए और यह बताइए कि आप स्वेच्छया कितना राज्यभाग देना चाहते हैं? यदि आप उनका पूरा अधिकार नहीं देना चाहते तो कम-से-कम क्या देना चाहते हैं? हम उसी पर पांडवों को राजी कर लेंगे; क्योंकि वे किसी भी स्थिति में युद्ध नहीं चाहते।''

''हर कायर और दुर्बल व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता।''

फिर मैंने नाटकीय मुद्रा बनाई और मुसकराते हुए बोला, ''ऐसा सोचना तुम्हारी भूल है। युद्ध न चाहने का यह अर्थ नहीं है कि पांडव तुमसे दुर्बल हैं। उनकी शक्ति का अनुमान शायद तुम्हें नहीं है। उनके युद्ध न चाहने का मुख्य कारण व्यर्थ के रक्तपात से बचना है। युद्ध हमारे लोभ एवं टकराव का परिणाम है और उसका फल भोगती है हजारों निरपराध जनता। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए हम उनका सहज ही रक्तपात करते हैं। आप सबको याद होगा कि इसी रक्तपात के भय से मैंने मथुरा छोड़ी थी।''

''यह बात नहीं है। आपकी कायरता और कमजोरी ने आपको मथुरा छोड़ने के लिए विवश किया था। आप जरासंध का सामना नहीं कर सकते थे। इसीसे आपको लोगों ने भगोड़ा माना, आपको 'रणछोड़' कहा।'' दुर्योधन बोला।

दुर्योधन का ऐसा कहना लोगों को अच्छा नहीं लगा। पितामह ने फिर डाँटा और महाराज ने भी कहा, ''बेटा, बड़ों से विवाद नहीं करते।''

फिर भी मैंने इस स्थिति को टाला—''अच्छा, जाने दीजिए इन बातों को। अब यही बताइए कि आप कम-से-कम कितना देकर संतुष्ट रहना चाहते हैं?''

''हम कुछ देना नहीं चाहते; क्योंकि उन्होंने शर्त पूरी नहीं की।''

''अब मेरा अंतिम प्रस्ताव आप सबसे है—पितामह से, महाराज से, महामात्य से और आप सबसे; यहाँ पधारे समस्त ऋषि एवं महर्षियों से भी। पांडवों को यदि आप पाँच ग्राम दे दें (मैंने युधिष्ठिर के कहे शब्द ही दुहरा दिए—अविस्थल, वृकस्थल, माकंदी, आसंदी और वारणावत), तो भी पाँचों भाई किसी तरह जी-खा लेंगे।''

मैं ज्यों-ज्यों झुकता गया त्यों-त्यों दुर्योधन का अहं बढ़ता गया। वह आवेश में बोला, ''पाँच ग्राम क्या, मैं सुई की नोक के बराबर भूमि भी बिना युद्ध के नहीं दे सकता।''

"तब वही होगा, दुर्योधन, जो तुम चाहते हो!" मैं भी आवेश में आ गया। मेरा स्वर भी काफी ऊँचा उठ गया था—"और वह जो कुछ होगा, वह केवल युद्ध नहीं होगा, वह होगा महानाश! ऐसी ज्वाला जलेगी, जिसमें हर दंभी का दंभ भस्म हो जाएगा। भस्म हो जाएगा आर्यावर्त्त का सारा पराक्रम, शौर्य और वैभव। भस्म हो जाएँगे अनेक सत्ताधारियों के सिंहासन। विधवाओं के विलाप से आकाश का कलेजा फट जाएगा—और रक्त की ऐसी सरिता बहेगी कि हमारी अस्मिता भी बह जाएगी। कुछ भी शेष नहीं बचेगा—और इस सबका पाप हस्तिनापुर के सिर मढ़ा जाएगा।"

मैं इतने आवेश में था कि मैं भूल गया था कि मैं दूत हूँ, मुझे दौत्य कर्म से आगे नहीं बढ़ना चाहिए था। मेरी आँखों में खून उतर आया था। मेरा चेहरा लाल हो गया था। सभा के अधिकांश लोग मुझे देखकर घबरा गए थे कि मैं क्या कह रहा हूँ।

सबने दुर्योधन को दबाना आरंभ किया।

धृतराष्ट्र ने कहा, "बेटा, द्वारकाधीश की बात मान जाओ।"

पितामह ने कहा, "मूढ़, तेरे लिए इससे अच्छा कोई प्रस्ताव नहीं होगा। जो सुनेगा, वह क्या कहेगा कि जिस दुर्योधन ने कर्ण को अंग देश दे दिया, वह पांडवों को पाँच ग्राम भी न दे सका!"

पर दुर्योधन तो शकुनि, कर्ण और दुःशासन द्वारा बेतरह भरा गया था। वह माननेवाला कहाँ था। वह भी आवेश में उठकर जाने लगा।

अब धृतराष्ट्र और घबराए। उन्होंने विदुरजी को अपनी बगल में बुलाया और बहुत गिड़गिड़ाते हुए कहा, "तुम तुरंत गांधारी को बुलाओ। हो सकता है, यह अपनी माँ की बात मान ले।"

धृतराष्ट्र ने उसी आवेश में दुर्योधन से भी कहा, "यदि तुम विनाश को ही आमंत्रित करना चाहते हो तो करो। सभा का निरादर करके चले जाना चाहते हो तो जाओ। मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा; पर अपनी माँ की बात तो सुनते जाओ।"

दुर्योधन ठिठक गया। वह जैसे खड़ा था वैसे ही खड़ा रहा। उसके साथी भी उसी मुद्रा में खड़े रहे। तब तक आँखों पर पट्टी बाँधे गांधारी लाई गई।

उससे महाराज ने कहा, "देखो, यह किसीकी बात नहीं मानता। अपने हठ पर अड़ा है।"

वह छूटते ही बोली, "इसमें इस बेचारे का क्या दोष? दोष तो आपका है, जो सदा इसके कर्मों और कुकर्मों को देखकर भी अनदेखी करते रहे। इसका हठ

आपके अंधे पुत्र-प्रेम का परिणाम है। मैंने अनेक बार समझाया था; पर आपने कभी मेरी बात नहीं सुनी। अब उसका फल भी आप ही भोगिए।''

महाराज चुप हो गए।

अब गांधारी ने दुर्योधन को समझाया—''लोग जो कह रहे हैं, उसे मान जाओ, बेटा। इसीमें तुम्हारी भलाई है।'' अपनी बात के समर्थन में गांधारी ने कई तर्क भी दिए। पर दुर्योधन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

वह मुँह बनाता खड़ा रहा और गांधारी का वक्तव्य समाप्त होते ही बड़ी निठुराई से बोला, ''अब तो आप बोल चलीं न! अब मैं चला।''

इतना कहते हुए उसने सभाभवन से जाने के लिए मुँह मोड़ा ही था कि ऋषियों की ओर से एक आवाज आई—''अभी आगे मत बढ़ना!''

अब महर्षि कण्व बड़े प्रभावशाली ढंग से बोले, ''हमें इसका कष्ट नहीं है कि तुम महानाश के कारण बनोगे, शीघ्र ही तुम काल के ग्रास में जाओगे। तुम तो अपने कर्मों का फल भोगोगे ही। हमें कष्ट इस बात का है कि तुम्हारे कर्मों का फल पूरा आर्यावर्त्त क्यों भोगे? तुम्हारे परिवार के ये वयोवृद्ध—तुम्हारे माता-पिता, आचार्य, महामात्य आदि क्यों भोगें; जिनकी बात तुम नहीं मान रहे हो?''

मद में बावला दुर्योधन तुरंत बोल पड़ा—''जब हमको अपने कर्मों का ही फल भोगना है तब हमें आपकी सलाह की क्या आवश्यकता है?'' इतना कहकर बड़े आवेश के साथ दुर्योधन चला गया।

''अरे, महाराज, अनर्थ हो जाएगा!'' विदुरजी चिल्लाए।

''क्यों? क्या बात है?''

''आपको याद नहीं है! उस दिन दुर्योधन ने हम लोगों से कहा था कि आप लोग चुपचाप बैठे रहिएगा, हम कृष्ण को बंदी बना लेंगे।''

धृतराष्ट्र कुछ कहते कि दुर्योधन सभा से जा चुका था। पर मैं जरा भी व्यग्र नहीं हुआ। मैं इस स्थिति की पूरी तैयारी गत दो दिनों से कर रहा था। योग-साधना में लगा था। आखिर वह स्थिति आ ही गई। मैं तुरंत उसी मंचक पर ध्यानावस्थित हुआ और इस शरीर को स्वीकार करते हुए अपने सूक्ष्म शरीर को विकसित किया। फिर अट्टहास करता हुआ सभा के उसी द्वार की ओर बढ़ा, जिधर से दुर्योधन गया था। सभा के सभी लोग मुझे देखते रह गए। मैं उन्हें चमत्कारपूर्ण दिखाई दे रहा था; क्योंकि मेरे इस व्यक्तित्व को उन्होंने कभी देखा नहीं था। सात्यकि मेरे पीछे-पीछे था।

द्वार के बाहर दुर्योधन अपने साथियों और सैनिकों के साथ मुझे घेरने के लिए

एक व्यूह रचकर खड़ा था। मेरा रूप और मेरी मुद्रा देखकर सबके सब ठगे-से रह गए।

मैंने ललकारा—"आगे आओ! तुममें से जो मुझे बंदी बनाना चाहता हो, आगे आए। देखूँ, तुममें कितना साहस है—सिंधु को बाँधने का, ज्वालामुखी को उत्तरीय से लपेटने का!"

मेरा व्यक्तित्व उन्हें विशाल होता दिखाई दिया। सात्यकि बता रहा था—"उस समय आपके मुख से ज्वाला निकल रही थी। आप कहते जा रहे थे—'तू जिसे बाँधना चाहता है, वह मैं नहीं हूँ। तू मात्र मेरे आवरण को बाँधना चाहता है। ऐसे सभी आवरणों का प्रणेता मैं हूँ। मैं ही शिव का तीसरा नेत्र हूँ। उन्मुक्त मेघों में चमकनेवाली हजारों तड़ित तरंगों की कड़क मैं ही हूँ। महाकाल मेरी भृकुटि पर नृत्य करता है। मैं जब दुर्गा में समाया था तब वह महाकाली हो गई थी। पृथ्वी के अंतरंग में मैं ही धधकता हूँ और वह ज्वालामुखी बन जाती है। टकटकी लगाकर मुझे देख मत। मुझे बाँधना हो तो आगे आ।' "

सात्यकि बताता गया—"सहस्रों सूर्यों के समान आपके तेज के समक्ष वे सब बुझ गए थे। आप बोलते रहे—'जिस ब्रह्मांड में तेरा अस्तित्व एक चींटी के बराबर भी नहीं है, वह संपूर्ण ब्रह्मांड मेरे मुख में है। देख, ध्यान से देख।' तब आपने अपना विशाल मुख खोला। सबके सब उस ओर देखते रहे। कोई आगे नहीं आया। आप अपने रथ की ओर ललकारते हुए धीरे-धीरे बढ़ते गए।"

सात्यकि बताता रहा—"मुझे तो नहीं लग रहा था कि आप अपने रथ में समाएँगे; पर ज्यों-ज्यों आप रथ की ओर बढ़ते गए त्यों-त्यों सामान्य होते गए। और जब रथ पर बैठते हुए चारों ओर देखा और एक सहज मुसकराहट के साथ आपने मुझे अपने पास बैठाया, तब मुझे लगा कि आप मेरे साथी ही हैं।"

"इस समय मैं तुम्हारा साथी हूँ।" हँसी आ गई मुझे—"तो पहले क्या था?"

"मेरे निर्माता।" वह बोला और चुप हो गया।

मैं हँसता रहा। रथ आगे बढ़ता गया। थोड़ी देर बाद मुझे पीछे से आते किसी रथ की घड़घड़ाहट सुनाई दी। मैंने सोचा, कोई मेरा पीछा कर रहा है। मैंने मुड़कर देखा, बड़े क्रोध में कर्ण चला आ रहा था। मैंने तुरंत अपना रथ रुकवा दिया और उछलकर कूद पड़ा। निकट आते ही मैंने उसका वीरोचित स्वागत किया। वह चकित रह गया। कहाँ तो वह मुझसे युद्ध करने आया था और कहाँ ऐसा व्यवहार! सामान्य शिष्टाचार के अनुसार वह भी रथ से उतर गया। मैंने उसे वक्ष से लगाया

और उसके कंधे पर हाथ रखते हुए उसे दूर एकांत में ले गया।

वह एकदम चकित था मेरे इस व्यवहार पर। उसके लिए यह सबकुछ अकल्पनीय, असोचित और अप्रत्याशित था।

उसने कहा भी—''एकांत में ले जाकर क्या करना चाहते हो?''

मैं पुनः जोर से हँस पड़ा—''तुम्हारे जन्म की कथा सुनाना चाहता हूँ।''

''मेरे जन्म की कथा!'' वह चकित रह गया।

तब मैंने उसे उसके जन्म की सारी कथा सुनाई। वह विस्मय से चुपचाप सुनता रहा। पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ। वह मुसकराते हुए बोला, ''जो काम दुर्योधन अपनी शक्ति के बल पर न कर सका, वह काम आप अपने छल के बल पर करना चाहते हैं!''

''मैं कुछ समझा नहीं।''

''दुर्योधन आपको अपनी कारा में डालना चाहता था। अब आपने मुझे मातृ-प्रेम की कारा में डालना चाहा। उसके लिए एक आकर्षक कहानी भी गढ़ ली। आप महान् कूटनीतिज्ञ और छलिया जो ठहरे!''

मैंने मुसकराते हुए कहा, ''यह छल नहीं, बंधु, सत्य है। तुम राधेय नहीं, कौंतेय हो।''

''यदि यह सत्य है तो उस समय मेरी माता का पुत्र-प्रेम कहाँ था, जब मैं पैदा होते ही बहा दिया गया था? तब उसका मातृत्व जरा भी नहीं छटपटाया? और उस समय कहाँ था, जब मैं धनुर्विद्या की प्रतियोगिता में इसलिए भाग नहीं ले सका था कि अपने माता-पिता का नाम बताने में असमर्थ था? उस समय भी मेरी माँ ऊँचे मंच पर बैठकर तमाशा देख रही थी। बार-बार मैं 'सूतपुत्र' कहकर अपमानित किया जाता रहा और एक बार भी उसका मातृत्व व्यग्र नहीं हुआ?'' वह थोड़े और आवेश में आया—''इस समय आपको मेरे प्रति इतना मोह छटपटाया है! कृष्ण, मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। क्या यह सत्य नहीं है कि तुम्हारे ही षड्यंत्र से द्रौपदी ने अपने स्वयंवर में मुझे 'सूतपुत्र' कहकर अपमानित किया था? मैं किसी और को अपनी माता नहीं जानता। राधा ही मेरी माता है और मैं सूतपुत्र हूँ। और कान खोलकर सुन लो, कृष्ण! मैं जीवन के अंतिम समय तक सूतपुत्र ही रहूँगा। मैं दुर्योधन के उपकार को भुला नहीं सकता; क्योंकि मैं सबकुछ हो सकता हूँ, कृतघ्न नहीं हो सकता।''

मैंने सोचा, अभी इस विवाद में पड़ने का समय नहीं है। मैं बड़े सहजभाव से बोला, ''कुछ करना, न करना तो तुम्हारे हाथ में है। मैंने तो एक सूचना मात्र

दी है।''

''तुमने मात्र सूचना ही नहीं दी है वरन् एक ऐसा बीज मेरे अंतर में आरोपित करने की कुचेष्टा की है, जो कौरवों के लिए विषवृक्ष बन जाए।''

इसके बाद वह एक क्षण के लिए भी नहीं रुका। चलते-चलते बोला, ''लेकिन यह सूचना किसी और को मत देना, इसीमें हम सबकी भलाई है।''

उसके चले जाने के बाद भी उस सूर्यपुत्र की तेजस्विता बहुत देर तक मुझे घेरे रही।

□

तीन
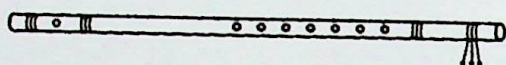
राजभवन से निकलकर मैं सीधे विदुरजी के आवास पर आया। रथ से उतरकर मैंने दारुक से कहा कि मेरे साथ आई सेना को सूचित कर दो कि मैं कल प्रात: ही यहाँ से प्रस्थान करूँगा।

फिर जैसे ही मैं अपने कक्ष में पहुँचा, देखा कि चाची और कुंती बुआ प्रतीक्षा में बैठी हैं। मेरी आकृति की गंभीरता देखते ही वे स्तब्ध रह गईं। मैं अपने वस्त्र बदलने में लग गया। मैं सोचता रहा कि क्या कहूँ, क्या न कहूँ। उधर चाची और बुआजी भी सोचती रहीं कि क्या पूछूँ, क्या न पूछूँ। कुछ देर तक मौन छाया रहा।

अंत में बुआजी ने ही पूछा, ''बड़ी देर लगा दी। हम लोग घबरा रहे थे कि अपने उद्देश्य में तुम्हें सफलता मिली या नहीं मिली।''

''सफलता मिली भी और नहीं भी मिली। पर मेरी असफलता सफलता से बहुत छोटी थी।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

दोनों की जिज्ञासा झुँझलाई—''पहेली मत बुझाओ।''

अब मैंने सीधे-सीधे कहा, ''संधिवार्त्ता में मैं एकदम असफल रहा। मैं पांडवों को पाँच ग्राम भी नहीं दिला पाया। सफलता इस बात में मिली कि मैं दुर्योधन द्वारा बंदी नहीं बनाया जा सका। उसकी मंशा पूरी न हो सकी और आप लोगों का आशीर्वाद लेने यहाँ आ गया।''

''मैंने सुना तो था, पर विश्वास नहीं था कि दुर्योधन इतने दुस्साहस तक जा सकता है।'' बुआ बोलीं।

''आपको ही नहीं, पूरे आर्यावर्त्त को विश्वास नहीं रहा होगा।'' मैंने कहा, ''अब तो सबको विश्वास हो जाएगा कि संधि के लिए आए शांतिदूत को भी हस्तिनापुर में बंदी बनाया जा सकता है। यह हमारी कम सफलता नहीं है कि जिस सभा में देश के शीर्षस्थ ऋषि-महर्षि रहे हों, महाराज धृतराष्ट्र, पितामह और

बाह्लीक रहे हों, उसमें मैं बंदी बनाया जा रहा था।''

कहते-कहते मैं आवेश में आ गया। क्षण भर के लिए मुझे रुकना पड़ा; क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि मेरे मुख से कुछ अवांछित निकल जाए।

क्षण भर बाद मैंने फिर बोलना जारी रखा—''आपको तो याद होगा, बुआ, कि धृतराष्ट्र के बड़े होने पर भी—जन्मांध होने के कारण गद्दी पांडु फूफाजी को दी गई थी। जब महाराज पांडु वनवासी हुए तो देखभाल के लिए धृतराष्ट्र शासक बने। आज भी सिंहासन मूलतः पांडवों का ही है। जिस राज्य के पांडव पूर्णरूप से अधिकारी हों, उन्हें पाँच ग्राम भी न दिए जाएँ, इतना बड़ा अन्याय क्या आर्यावर्त्त चुपचाप सह लेगा? उसकी चेतना झकझोर न उठेगी?''

''मुझे तो विश्वास नहीं है।'' कुंती बुआ बीच में ही बोल पड़ीं—''क्योंकि इस समय देश धर्म-अधर्म और न्याय-अन्याय में बेतरह बँटा है। बड़ी सत्ताओं के पीछे छोटी सत्ताएँ पंक्तिबद्ध हो गई हैं।''

''पर यह भी जानो, बुआ, कि न्याय कभी असमर्थ नहीं हुआ है। अभी भी असमर्थ नहीं है। जब न्याय असमर्थ हो जाएगा तब मानव सभ्यता मर जाएगी। मनुष्य जंगली हो जाएगा।'' मैंने कहा और बुआजी को विश्वास दिलाया कि जो कुछ हो रहा है, वह किसी अच्छे के लिए हो रहा है।

इसके बाद कुंती बुआ और भी गंभीर हो गईं। रात काफी जा चुकी थी। चाचीजी ने भोजन के लिए आग्रह किया; पर मैंने यह कहकर संप्रति टाल दिया कि चाचाजी को आ जाने दीजिए।

इसके बाद चाची और बुआ उठकर चली गईं। बुआ की चाल से स्पष्ट लगा कि वह अत्यधिक निराश हैं। हाथ में आया प्रियक (एक प्रकार का चंचल पक्षी) जैसे उड़ गया हो।

सात्यकि एकदम चुप पर्यंक पर लेटा था; मानो सो गया हो। उन लोगों के जाते ही उसने आँखें खोलीं।

मुझे हँसी आ गई। मैं बोला, ''तुम बड़े मौन हो। क्या सोच रहे हो?''

''सोच रहा हूँ कि अर्जुन कितने दूरदर्शी हैं! उन्होंने सारी सेना को छोड़कर केवल आपको ही क्यों लिया!'' वह मुसकराया। बोला, ''आप अपनी समूची सेना से कहीं अधिक उपयोगी हैं।''

''वह कैसे?''

''सेना तो केवल युद्धक्षेत्र में लड़ेगी न! आप तो हर जगह लड़ेंगे—युद्धक्षेत्र में भी और युद्धक्षेत्र के बाहर भी।''

"पर मैंने संकल्प किया है कि मैं अस्त्र नहीं उठाऊँगा।"

"अस्त्र तो एक निर्जीव पदार्थ है। संचालित तो वह बुद्धि से ही होता है। दुर्बुद्धि के हाथ में अस्त्र निरर्थक है—मरकट के हाथ में माणिक की तरह।"

वस्तुत: मैं आत्मप्रशंसा सुनने का आदी नहीं। मैंने बात बदल दी—"लगता है, आज तुम्हारी जठराग्नि शांत है।"

"जब चारों ओर आग लगी है तब जठराग्नि की ओर क्या ध्यान जाएगा!"

इसी बीच विदुरजी आ गए। मैंने उन्हें देखते ही कहा, "आप काफी देर तक रह गए।"

"क्या कहूँ, महाराज ने बैठाए रखा। आपके चले आने के बाद स्थिति थोड़ी बदली। महर्षि, महाराज और तातश्री आदि सभी ने सोचा कि अनर्थ हो गया। उन्होंने फिर दुर्योधन को समझाना चाहा। उन्होंने उसे बुलाया। फिर भी वह नहीं आया और शकुनि को भेज दिया। उसको देखते ही तातश्री जैसे जल उठे। उन्होंने आक्रोश में बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा, 'क्या आपका ही नाम दुर्योधन है?'

" 'आश्चर्य है कि आज आप मेरा नाम भूल रहे हैं!' उसने बड़े सहजभाव से कहा।

" 'हम लोगों ने तो दुर्योधन को बुलाया था।'

" 'उसने मुझे भेजा है।'

"महाराज कुछ कहें, इसके पहले ही तातश्री बोल पड़े—'पर हम आपसे बात नहीं करना चाहते।' वह भी बड़े ढंग से 'जैसी आपकी इच्छा' कहकर चला गया। इसके बाद तातश्री कुछ बोले ही नहीं; पर आवेश में उनका शरीर काँप रहा था। उनकी आँखों में रक्त उतर आया। वे चुपचाप मस्तक पर हाथ रखकर पश्चात्ताप करने लगे। तब महर्षि परशुराम ने कहा, 'अब पछताने से क्या होता है! जैसा बोया है वैसा काटिए।' इतना कहते हुए वे सब जाने लगे। महाराज ने उनकी सम्मानजनक बिदाई के लिए कहा। तब महर्षि कण्व ने कहा, 'इससे बढ़कर अब हमारा सम्मान और क्या होगा! आज हम इस दरबार से अपनी गंभीर अवज्ञा कराकर जा रहे हैं।' अब उन्हें रोकने का साहस किसको था!"

इतनी सूचना देकर विदुरजी चले गए।

फिर हम उनसे भोजन पर मिले।

अचानक वे बोल पड़े—"जब तुम सभागार से निकल रहे थे तब मैं भी द्वार तक आया था। मैंने देखा कि सूतपुत्र तुम्हारा पीछा कर रहा है।"

"सूतपुत्र नहीं, कर्ण पीछा कर रहा था।" मैं रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

''मेरी समझ में कुछ नहीं आया।'' विदुरजी जिज्ञासु हो उठे।

''कर्ण सूतपुत्र नहीं है।'' मैंने कहा और उन्हें वे सारी बातें बताईं, जो आज मेरे और बुआजी के बीच हुई थीं।

अब तक छिपे इस रहस्य पर विदुरजी को आश्चर्य था कि अभी तक वे इस सत्य से दूर थे—और इस बात पर भी आश्चर्य था कि उनसे इतना गहरा संपर्क होने पर भी कभी कुंती ने इस सत्य का उद्घाटन नहीं किया।

''सबसे बड़ी बात यह है कि कर्ण ने मुझसे यह भी कहा कि कभी इस सत्य का उद्घाटन मत करना। इसीमें हम सबकी भलाई है।'' मैंने कहा।

''इस सत्य से तो कर्ण मेरी दृष्टि में बहुत ऊँचा हो गया।'' विदुरजी बोले, ''आज वह सारी मैल धुल गई, जिससे ढककर उसकी छवि बहुत धूमिल लगती थी। मालूम होने पर भी इसकी सूचना वह किसीको देना नहीं चाहता था। आखिर क्यों?'' वे कुछ समय तक के लिए रुके। फिर बोले, ''शायद वह यह सोचता हो कि तब अवैध संतान होने का कलंक उसके सिर पर लगेगा।''

''वह तो लगा ही है। कोई अपनी वैध संतान थोड़े ही गंगा में बहाता है। इस यथार्थ को सब समझते हैं; पर लोग यह नहीं जानते कि यह अवैध संतान कुंती बुआ की है—और इसीको वह छिपाना चाहता है।''

''आखिर क्यों?''

''उसने कुछ विशेष बताया तो नहीं।'' मैंने कहा, ''पर जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसके दो कारण हैं। एक तो वह अपनी माँ को बदनाम करना नहीं चाहता। दूसरे, यदि इस तथ्य का उद्घाटन हो गया तो धर्मराज सोचने लगेंगे कि तब कर्ण हम सबका बड़ा भाई है। उसके रहते हमें राज्य करने का कोई औचित्य नहीं है।''

''हाँ, यह तो सबसे बड़ा खतरा है।'' विदुरजी ने स्वीकार किया—''इस दृष्टि से इस बात की गोपनीयता अत्यंत महत्त्व की है।'' यह कहते हुए उन्होंने सात्यकि की ओर बड़ी गंभीरता से देखा।

सात्यकि समझ गया और बोला, ''मैं भी इसकी गंभीरता को समझता हूँ और आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे मुख से यह बात कभी नहीं निकलेगी।''

विदुरजी अब भी सोचते रहे। फिर बोले, ''यदि कर्ण इस सत्य को सार्वजनिक कर दे तो युद्ध टाला जा सकता है।''

''हम उस क्रम को क्या टालेंगे, जो शुरू किया जा चुका है!'' मैंने कहा, ''हम तो उस क्रम के मध्य में हैं, जिसे नियति ने बहुत पहले ही आरंभ कर दिया है।''

लगता है, बात विदुरजी की समझ में नहीं आई। उनकी दृष्टि मेरी आकृति पर गड़ी ही रह गई।

अब मेरी आवाज कुछ भारी हुई—"चाचाजी, यह महायुद्ध उसी क्षण आरंभ हो चुका था जिस क्षण सूर्यपुत्र को उसकी माँ ने गंगा में प्रवाहित कर दिया—और वह भी लोक-लाज के भय से। उसका मातृत्व सामाजिक अवमानना का साहसपूर्वक सामना करने की शक्ति खो चुका था। ममता का इतना ह्रास! जब-जब मानव मूल्यों का ऐसा क्षरण होता है, युद्ध अवश्य पैदा होता है।"

विदुरजी सोचने लगे। फिर बात आगे नहीं बढ़ी। भोजन समाप्त कर हम लोग अपने कक्ष में चले आए।

दूसरे दिन जब प्रात: आँख खुली और ज्यों ही मैं सूर्य को प्रणाम करने द्वार से निकला, दारुक प्रतीक्षारत खड़ा दिखाई दिया।

"तुम इतनी जल्दी चले आए! नित्यकर्म से निवृत्त होकर बुआजी से एक बार मैं फिर मिलूँगा और फिर उसके बाद प्रयाण करूँगा। शायद यह दोपहर के पूर्व संभव न हो पाए।"

"पर मैं इसके निमित्त नहीं आया।" दारुक ने बताया—"मुझे सेनापति ने भेजा है। शायद उनके पास दुर्योधन का संदेश आया है कि—'अब यहाँ आई द्वारका की सेना नहीं जाएगी; क्योंकि तुम्हारे स्वामी उसे हमें दे चुके हैं। अब द्वारका की सारी सैन्य-संपदा का अधिकारी मैं हूँ।' "

मुझे हँसी आ गई।

"अभी युद्ध आरंभ नहीं हुआ और युद्ध के लिए दी हुई मेरी सहायता का उपयोग आरंभ हो गया। जाकर मेरी ओर से सेनापति को निर्देश दो कि दुर्योधन को कहलवा दे कि मेरे स्वामी का विचार है कि अभी युद्ध आरंभ नहीं हुआ है। अभी तो हमारे स्वामी शांति के लिए प्रयत्नशील हैं। यदि दुर्भाग्यवश उन्हें सफलता नहीं मिली तो युद्ध की प्रथम उद्घोषणा के साथ ही हम सब आपकी सेवा में आ जाएँगे।"

इसके बाद दारुक चला गया और मैं सीधे बुआजी के पास आया।

वे प्रात:कालीन पूजन के बाद सूर्य को अर्घ्य चढ़ा रही थीं।

"सूर्य भगवान् को केवल अर्घ्य ही चढ़ाती हो, बुआ, या उनसे कुछ प्रार्थना भी करती हो?" मैं हँसते हुए बोला।

"प्रार्थना तो सबके हित के लिए करती हूँ।" उन्होंने बड़े सहजभाव से कहा, "और क्या प्रार्थना करूँ?"

''प्रार्थना करो कि हे सूर्य भगवान्, तुम अपने बेटे का मन बदलो।''

''यह मैं कैसे कह सकती हूँ!'' उन्होंने बड़े चिंतित स्वर में कहा, ''यदि कह सकती तो अपने बेटे से ही न कहती!''

मैंने अनुभव किया कि कुंती बुआ के मन में यह अपराधबोध बड़ी गहराई से जड़ जमा चुका है कि मैंने अपने ही शिशु को गंगा में प्रवाहित कर भयंकर पाप किया है। अब उसीका परिणाम हमें भोगना पड़ रहा है। इसी मानसिकता में वह कर्ण का अपमान देखकर भीतर-ही-भीतर तिलमिलाती रहीं और अपने अपराध-बोध को भी सघन करती रहीं।

निरंतर अपराधबोध का यह सर्प उनसे बेतरह लिपटा रहा। रह-रहकर फुफकारता; पर वह किसीसे कुछ न कह पातीं—न समाज से, न अपने बेटे से और न उसके पिता से ही।

''पर अब तो तुम्हें कहना होगा, बुआ! मन की द्विविधा त्यागो। कुछ मजबूत बनो।'' मैंने कहा, ''जब तुम अपने बेटे से मिलोगी तब वह वही प्रश्न करेगा, जो तुम्हारा मन तुमसे करता रहा है। इसलिए तुम साहस करो। अपनी विवशता को अपने बेटे के सामने स्वीकारो। तुम्हारा भी मन हलका हो जाए और कोई रास्ता निकल आए।''

इसी क्रम में कर्ण से हुई बातें मैंने ज्यों-की-त्यों बुआजी को सुना दीं।

उनकी आकृति एकदम बुझ गई। वे दबे स्वर में बोलीं, ''यही मैं हरदम सोचती रही और भीतर-ही-भीतर घुटती रही। कई बार सोचा कि मैं कर्ण से मिलूँ और उसके प्रति किए के लिए उससे क्षमा माँगूँ। पर किस मुँह से उसके पास जाऊँ? मैं साहस जुटा नहीं पाई।''

''पर अब तो तुम्हें साहस जुटाना ही होगा।'' मैंने कहा।

फिर बुआजी कुछ बोल नहीं पाईं।

अब मैंने उन्हें समझाना शुरू किया—''अच्छा बताइए, जब आपके बेटे के जीवन पर संकट आ जाएगा तब भी आपका मातृत्व द्विविधा में पड़ा रहेगा?''

''नहीं, ऐसा तो नहीं होगा। मुझे सामने आना पड़ेगा।''

''तब क्या उस संकट की घड़ी नहीं आ रही है अर्जुन पर? क्योंकि कर्ण का सबसे बड़ा शत्रु वही है।''

अब बुआ बड़े असमंजस में पड़ीं। यदि उन्हें कर्ण के पास जाना भी हो तो वह कैसे जाएँगी? मैंने उन्हें बताया—''प्रातःकाल गंगा में खड़े होकर कर्ण आदित्य हृदयम् की कई आवृत्ति करता है। फिर गंगा के किनारे वह याचकों को दान देता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई याचक वहाँ रहता ही नहीं। पर याचक रहे या न रहे, आपको वहाँ जाना अवश्य होगा और याचना करनी होगी—एक माँ की तरह भी और एक अकिंचन याचक की तरह भी।''

''मैं क्या कहूँगी?'' बुआजी की द्विविधा का संकट अपनी चरम सीमा पर था।

''यह तो आपको ही सोचना है। इसकी गंभीरता इसीसे समझिए कि कौरवों की शक्ति का आधार-स्तंभ है कर्ण! वह यदि युद्ध से विरत हो जाए तो कौरवों की कमर टूट जाएगी। हो सकता है, फिर युद्ध ही न हो। पूरा कौरव सिंहासन आपके बेटों के हाथ में होगा। आप युद्ध होने के पहले ही युद्ध जीत लेंगी।''

बुआजी ने अब गंभीरता से मेरे कथन पर सोचना आरंभ किया। मैंने चलते-चलते एक बात और कही—''इस बात को अंतत: गोपनीय ही रखना कि कर्ण आपका ही पुत्र है। यह वर्जना मेरी भी है, कर्ण की भी और शायद आपकी भी हो।''

□

जब मैंने हस्तिनापुर से प्रयाण किया, आकाश के मध्य चमकते सूर्य ने हमें आशीर्वाद दिया। मेरी सेना भी मेरे साथ थी। मैंने दारुक से कुछ पूछा तो नहीं, पर शायद मेरा तर्क काम कर गया था।

मेरी बगल में बैठे सात्यकि ने कहा, ''इससे तो लगता है कि दुर्योधन से अभी भी आशा की जा सकती है।''

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही दारुक बोल पड़ा—''दुर्योधन उतने बुरे नहीं हैं। बुरा है उनके साथ लगा हुआ शकुनि। क्योंकि सेनानायक का कहना था कि जब आपका संदेश ज्यों-का-त्यों उसे सुनाया गया तब दुर्योधन ने तो कुछ नहीं कहा, पर शकुनि बोल पड़ा—'अभी वह शांति के लिए प्रयत्नशील है! इसमें भी उसकी कोई चाल है।' ''

मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, केवल सोचता रहा। यों तो मुझे इस स्थिति की कल्पना थी ही। अब उस कल्पना ने आकार लेना शुरू किया। मेरे मानस पर युद्ध की पूरी विभीषिका जीवित हो उठी।

मैं शीघ्र ही उपप्लव्य पहुँचा।

यों भी मुझे कई दिन लग गए। उपप्लव्य के लोगों को कुछ विश्वास भी हो चला था कि मेरे विलंब का शुभ फल होगा; पर जब उन्होंने मेरी गंभीरता देखी तो स्तब्ध रह गए।

धर्मराज ने सीधा-सीधा प्रश्न किया—''कितनी सफलता मिली?''

मैं क्या कहता! अचानक उन्हें निराश करना नहीं चाहता था। मैंने कहा, ''सफलता भी मिली और असफलता भी।'' पांडव इस उत्तर से उलझन में पड़ गए। मैंने धीरे-धीरे अपने कथन को विस्तार दिया—''संधि नहीं हो सकी। मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ गए।''

''तो अब क्या होगा?'' युधिष्ठिर के स्वर में गहरी निराशा थी।

''युद्ध होगा।''

''तब आपको सफलता किस बात की मिली?''

''परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि लोगों ने देख लिया कि दुर्योधन की चांडाल चौकड़ी के अतिरिक्त सारा हस्तिनापुर युद्ध नहीं चाहता।''

मेरे इस कथन पर भी युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया कुछ अनुकूल नहीं थी।

''पर इसे हम, आप और हस्तिनापुर जानता है। औरों तक बात पहुँचते-पहुँचते बहुत देर हो जाएगी।'' भीम बोला।

''नहीं, यह बात जंगल की आग की तरह फैलेगी—और शायद हमारे यहाँ आते-आते बहुत कुछ पहुँच चुकी होगी।'' मैंने बताया—''संधिवार्त्ता के समय केवल हम और कौरव ही नहीं थे, अनेक ऋषि और महर्षि भी उपस्थित थे। शायद वे संधिवार्त्ता की सूचना पाकर ही हस्तिनापुर चले आए थे। उन लोगों ने भी दुर्योधन को मनाने की चेष्टा की। यहाँ तक कि महर्षि परशुराम और कण्व ने उसे विस्तार से समझाया भी; पर दुर्योधन ने किसीकी बात नहीं मानी।''

''हस्तिनापुर के बड़े और वृद्धों के क्या विचार थे?'' युधिष्ठिर ने पूछा।

''सभी हमारे पक्ष में थे।'' मैंने कहा, ''पितामह, महाराज धृतराष्ट्र, विदुर चाचा, दोनों आचार्य—सभी ने अपना पक्ष लिया। अंत में जब लोग लाचार और असमर्थ-से लगे तो महाराज ने विदुरजी से गांधारी को समझाने के लिए बुलवाया; पर वह भी कुछ कर नहीं पाई।''

''आपने मेरी पाँच ग्रामवाली बात नहीं रखी?'' युधिष्ठिर बोले। अन्य पांडव कुतूहल में पड़ गए—'यह पाँच ग्रामवाली बात क्या है?' क्योंकि उनमें किसीको भी यह बात मालूम नहीं थी कि युधिष्ठिर पाँच ग्राम मिलने पर संधि कर सकते हैं।

मैंने कहा, ''अंत में तो मैंने वही प्रस्ताव रखा भी कि अच्छा, आप पांडवों को पाँच ग्राम ही दे दीजिए। वे उसीमें अपना जीवनयापन कर लेंगे। तब जानते हैं, दुर्योधन ने क्या कहा?''

सबकी प्रश्नवाचक मुद्रा मेरी ओर लग गई।

मैंने बताया—"उसने कहा कि पाँच ग्राम क्या, सुई की नोक के बराबर भूमि भी मैं बिना युद्ध के नहीं दूँगा! तभी तो लोगों का मन एकदम मेरे पक्ष में हो गया। एक तो इस प्रकार के उत्तर से उन्होंने स्वयं लोगों को ललकारा। अब आप ही समझिए, संसार उन्हें क्या कहेगा!"

युधिष्ठिर अब भी युद्ध के पक्ष में नहीं थे। वे कहने लगे—"इससे तो अच्छा है कि संन्यास ले लूँ।"

अब मुझे क्रोध आ गया। मैंने बड़ी रुक्षता से कहा, "ले लीजिए आप संन्यास। यदि आप अपने क्षात्रधर्म से भागना चाहते हैं तो भागिए। शेष पांडव तो अपने अधिकार के लिए लड़ेंगे ही। जब आप जानेंगे कि आपके शांतिदूत के साथ वहाँ क्या व्यवहार किया गया तो आपके रक्त में भले ही उबाल न आए, पर दाँतों तले अँगुली अवश्य दबा लेंगे।"

अब मैंने बताया—"मुझे बंदी बनाने का षड्यंत्र रचा गया था। इसके लिए दुर्योधन ने बहुत पहले से योजना बनाई थी। उसने अपने कई मित्र राजाओं को बुला लिया था। उनमें कृतवर्मा और बाह्लीक का पुत्र सोमदत्त भी था।"

अब तो सबकी मुद्राएँ बिगड़ गईं। भीम तो क्रोध में किटकिटाने लगा।

अर्जुन ने कहा, "अब निर्णय युद्धभूमि में ही होगा।"

अपने भाइयों का रुख देखकर युधिष्ठिर की भी मानसिकता बदली। उन्होंने दबी जबान ही कहा, "तब तो युद्ध अनिवार्य है।"

"केवल यह सोचने से काम नहीं चलेगा। उसकी तैयारी इसी क्षण से आरंभ कीजिए।" मैंने कहा, "जब मुझे बंदी बनाने की उसने इतनी तैयारी की थी तब युद्ध की तैयारी में वह कितना लगा होगा! यों हमने अपने गुप्तचर वहाँ छोड़ रखे हैं। वे हर गतिविधि की सूचना आपको देते रहेंगे।"

जब यह संदर्भ समाप्त हुआ और मैं विश्राम करने अपने कक्ष में जाने ही लगा तब अचानक युधिष्ठिर ने बताया—"सांब आया था।"

अब मेरे कान खड़े हो गए। मैंने पूछा, "कुशल तो है?"

"हाँ, कोई बात होती तो वह अवश्य बताता।"

मेरा ध्यान प्रद्युम्न और भैया की ओर गया। कोई प्रशासनिक गड़बड़ी तो उत्पन्न नहीं हुई? फिर सांब क्यों आया? उसका यहाँ आना स्वयं में असाधारण घटना है—वह भी मेरे लिए।

मैं सोच ही रहा था कि युधिष्ठिर ने बताया—"वह आपके चरण छूने आया था।"

मुझे हँसी आ गई।

"मेरे चरण छूने यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी?" मैं बोला, "मैं द्वारका में था तो वह मेरा सामना करने से भी कतराता था। आज क्या बात हुई कि मुझे खोजता चला आया?"

"वह अपने किए पापों का पश्चात्ताप करने आया था। आपके चरण छूकर आपसे क्षमा माँगकर ही वह चंद्रभागा (चेनाव) नदी के किनारे सूर्योपासना करने जाना चाहता था। आपके न रहने पर अभिवादन निवेदित कर चला गया।" युधिष्ठिर ने बताया।

"ऐसा अचानक परिवर्तन उसमें कैसे आया?" मैंने कहा, "वह पाप के कोल्हू का बैल था, निरंतर चलनेवाला। अवश्य ही उसे उस जुए से मुक्त करानेवाला कोई मिला होगा।"

"हाँ, महर्षि नारद ने उसे सलाह दी कि तुम चंद्रभागा नदी के किनारे जाकर सूर्य की तपस्या करो, तभी तुम्हारे पापों का प्रायश्चित्त हो पाएगा और तुम कुष्ठ से मुक्त हो जाओगे।"

"दुर्वासा के शाप से भी मुक्ति दिला सकेगी यह तपस्या?" मैंने पूछा।

"इसी तरह की मैंने भी जिज्ञासा की थी।" युधिष्ठिर ने कहा, "तब उसने बताया कि मैंने महर्षि नारद से इस विषय में भी आग्रह किया था, तब उन्होंने कहा था—'जब अपने शाप से स्वयं महर्षि दुर्वासा तुम्हें मुक्ति नहीं दिला पाए तो उनके शाप के समक्ष मेरा भी वश नहीं।' "

मैं सोचने लगा, व्यक्तिगत रूप से कुष्ठमुक्त होने से उसके मनस्ताप का भले ही शमन हो जाए, पर समाज पर पड़ी उस पाप की छाया तो बनी ही रहेगी।

मैंने युधिष्ठिर से इसी संदर्भ में कहा, "पाप के शिखर पर पश्चात्ताप की अग्नि धधकती है। अंततोगत्वा शिखर पर पहुँचने के बाद जलते रहने के सिवा कोई चारा नहीं है। आप देखिएगा, एक-न-एक दिन कौरव भी उसी ज्वाला में भस्म होंगे—और फिर वही ज्वाला पूरे आर्यावर्त्त को लपेट लेगी।"

"दुःख है तो मुझे केवल इस बात का कि कौरवों के पाप के भोक्ता और लोग क्यों हों?" युधिष्ठिर बोले।

"आप क्या कीजिएगा!" इस बार सात्यकि ने कहा, "जौ के साथ घुन भी पिसा जाता है।"

युधिष्ठिर ने समझ लिया कि अब युद्ध के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं। जब वह चुनौती की तरह हमारे सामने खड़ा है, तो हमें इस चुनौती को प्रभु का प्रसाद

समझकर ग्रहण करना चाहिए और पूरी शक्ति तथा निर्ममता के साथ उसका सामना करना चाहिए।

वे उसी समय मत्स्यराज विराट से मिलने चले गए और संशयहीन होकर युद्ध की तैयारी में लगे। जिन मित्र राजाओं से पांडव अभी तक संबंध नहीं स्थापित कर पाए थे, वहाँ तुरंत दूत भेजे गए। महाराज द्रुपद के यहाँ अर्जुन स्वयं गया। पूरे विराटनगर में आयुध का निर्माण आरंभ हुआ। नकुल उन सपेरों के पास गया, विषधर पालना जिनकी जीविका थी। वे सर्पविष का व्यापार करनेवाले लोग थे। इस सर्पविष में बाणाग्र बुझाए जाते थे, जिनके चुभते ही प्राणांत हो जाता था।

रथों की मरम्मत का कार्य भी जोरों से आरंभ हुआ। भीम और द्रौपदी ने यह कार्य पूरी शक्ति के साथ सँभाला। रात-दिन जाग-जागकर भीम ने लोहारों और काष्ठकारों को सक्रिय किया।

मेरी इच्छा थी कि मैं एक बार द्वारका हो आऊँ; क्योंकि सांब भी नहीं है। भैया भी युद्ध आरंभ होते ही तीर्थयात्रा पर चले जाएँगे। अकेला बेचारा प्रद्युम्न रह जाएगा। फिर मुशल की गलतफहमी ने हमारे अनेक शत्रु बना दिए हैं। प्रद्युम्न को अब दोहरी दृष्टि रखनी पड़ेगी। आंतरिक प्रशासन भी देखना पड़ेगा और बाहरी सजगता भी निभानी पड़ेगी।

पर मैं जा नहीं पाया। द्रौपदी ने कहा, ''आपकी संधिवार्त्ता के असफल होने के बाद अब आपकी सेना भले ही चली जाए, पर आप यहाँ से जा नहीं सकते।''

''क्यों?''

''क्योंकि आप पांडवों के हो चुके हैं।'' इसके बाद वह बड़ी इठलाती हुई बोली, ''अब आपको हमारे संकेत से चलना पड़ेगा।''

मुझे भी हँसी आ गई। मैंने कहा, ''चलो, अच्छा हुआ। एक गंभीर जिम्मेदारी से मुक्त हुआ। अब तक तुम्हारे पति मेरे आदेश की प्रतीक्षा करते रहे, अब मैं उनके आदेश पर चलूँगा।''

''नहीं-नहीं, मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं था।'' वह एकदम सहम गई।

''तुम्हारे कहने का चाहे जो अभिप्राय रहा हो, पर मुझे वही समझना चाहिए, जो मैंने समझा है।'' मैंने भी हँसते हुए कहा।

वह मुसकराती हुई चली गई।

मैं द्वारका न जा सका। मैंने सात्यकि से कहा, ''तुम तो जा ही रहे हो। यदि संभव हो तो द्वारका की खोज-खबर लेना। यदि तुम वहाँ चले जाते तो बड़ा अच्छा

होता। प्रद्युम्न को सारी स्थिति बताते और स्पष्ट निर्देश दे देते कि द्वारका का प्रशासन अब हमारे निर्देश की प्रतीक्षा नहीं करेगा।''

मेरे इस कथन पर सात्यकि चकित रह गया। उसने बड़ी दबी जबान कहा, ''क्या युद्ध की समाप्ति पर भी अब आप द्वारका नहीं जाएँगे?''

''युद्ध की समाप्ति पर कौन रह जाएगा और कौन नहीं रहेगा, इसको कौन जानता है!''

☐

अब उपप्लव्य का मंत्रणाकक्ष ही हमारे जलपान का स्थान था। प्रातः ही दैनिक कार्य से निवृत्त हो हम वहाँ पहुँच जाते थे। अब एक दिन क्या, एक-एक घड़ी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण थी। अब न सवेरा मोहक होता और न संध्या लुभावनी—और न वंशी अधरों तक आती।

आज उपाहार के समय हम लोग एक ही चिंता में डूबे थे कि क्या बात हुई कि अभी तक महाराज द्रुपद नहीं पधारे। महाराज विराट का सोचना था कि वे पूरी तैयारी के साथ आने की सोच रहे होंगे।

''यदि पूरी तैयारी के साथ ही आना है तो उन्हें वहाँ न आकर सीधे हस्तिनापुर की ओर बढ़ना चाहिए।'' युधिष्ठिर का कहना था।

हम इसी उधेड़बुन में थे कि मुझे सूचना दी गई कि दो भिखारी आपको याद कर रहे हैं।

''भिखारियों को मुझसे क्या मतलब! उन्हें तो मतलब है भिक्षा से।'' मैंने कहा, ''उन्हें भिक्षा दीजिए और चलता कीजिए।''

''भिक्षा देने का बड़ा प्रयत्न किया गया; पर वे कहते हैं कि हम द्वारकाधीश के हाथ से ही भिक्षा लेंगे।''

'मेरे ही हाथ से भिक्षा लेंगे! अवश्य कोई बात है।' मैंने सोचा और तुरंत उठकर द्वार पर आया।

मुझे देखते ही उनमें से एक मुसकराते हुए बोला, ''नाथ, मैं आपके ही दर्शन का भूखा था, भिक्षा तो गौण बात थी।''

मैंने भी उन्हें पहली ही दृष्टि में पहचान लिया—'अरे, ये तो मेरे गुप्तचर हैं, जिन्हें मैं हस्तिनापुर में ही छोड़ आया था।' मैंने कहा, ''यदि मेरे दर्शन के भूखे हो तो भीतर आ जाओ।'' और उन्हें लेकर मैं मंत्रणाकक्ष की ओर बढ़ा।

''मेरी बात सुन लें, क्योंकि मुझे जल्दी है।''

''मैं तुम्हें शीघ्र ही मुक्त कर दूँगा। मेरे साथ आओ।'' मैं चाहता था कि

युधिष्ठिर के सामने ही वे अपनी बात कहें। यदि उनके मन में अब भी युद्ध न करने की लेश मात्र इच्छा बची हो तो वह भी समाप्त हो जाए।

मंत्रणाकक्ष में पहुँचते ही मैंने उनका परिचय दिया और बोला, ''तुम्हें जो कुछ कहना हो, यहाँ स्पष्ट कहो।''

उनमें से एक ने बताया—''हम हस्तिनापुर में पहचान लिये गए थे। तब हम दुर्योधन के समक्ष उपस्थित किए गए। वहाँ हमने स्वीकार किया कि हम द्वारका से आ रहे हैं; पर गुप्तचरी के लिए नहीं वरन् आपको सूचित करने के लिए कि द्वारका की सेना आपकी सेना में शीघ्र आ रही है।''

उसने बताया—''पहले तो दुर्योधन ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसने अनेक प्रश्न किए। जब हम लोगों ने उत्तरों से अपने कथन को सत्यापित कर दिया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने हमें धन्यवाद दिया और कहा, 'मैं तो बड़ी द्विविधा में था। अब विश्वास हो गया कि तुम्हारे स्वामी अपनी बात के पक्के हैं।' ''

''द्विविधा क्यों थी?'' मैंने कहा, ''वह अपने कर्मों के फल से भयभीत हो गया होगा। अपने ही अनुसार मुझे भी समझने लगा; क्योंकि मनुष्य जैसा होता है वैसा ही दूसरों को समझता है।''

''फिर हम लोगों ने उसका विश्वास जीता। जहाँ चाहे वहाँ आने-जाने की हमें छूट मिल गई; पर उसके गुप्तचर विभाग ने हमपर पूरी दृष्टि रखी। हम लोगों ने भी अनुभव किया कि किसी-न-किसीकी आँखें दिन-रात हमपर लगी रहती हैं।''

''तब तुम लोग वहाँ से आए कैसे?''

''इसलिए कि आना जरूरी था।'' फिर वह बताने लगा—''आपके आने के बाद से ही उन्होंने युद्ध की तैयारी आरंभ कर दी है। उनकी दस अक्षौहिणी सेना है* और सबके सेनापति पितामह बनाए गए हैं। सेनाएँ कुरुक्षेत्र में जाने वाली हैं। इसलिए उस विशाल मैदान में उनके लिए शिविर लगने आरंभ हो गए हैं और

* सेना की संरचना

	पत्ती	सेनामुख= ३ पत्ती	गुल्म= ३ सेनामुख	गण= ३ गुल्म	वाहिनी= ३ गण	पृतना= ३ वाहिनी	चमू= ३ पृतना	अनीकिनी= ३ चमू	अक्षौहिणी= १० अनीकिनी
रथ	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
हाथी	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
अश्व	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	६५६१	६५६१०
पैदल	५	१५	४५	१३५	४०५	१२१५	३६४५	१०९३५	१०९३५०

सारे अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य युद्ध सामग्रियों* की मरम्मत आदि का कार्य आरंभ कर दिया गया है।''

''तो केवल पितामह को ही सेनापति बनाया गया? क्या उन्होंने अनुमति दे दी?'' मैंने जिज्ञासा की।

''पहले तो पितामह से पूछा भी नहीं गया था। एक-एक अक्षौहिणी के एक-एक सेनानायक निश्चित कर दिए गए।'' इनके नाम भी गुप्तचर ने गिनाए— ''द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, जयद्रथ, सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि और बाह्लीक।''

''तो क्या दुर्योधन और दु:शासन आदि सेनानायक नहीं हैं?''

''नहीं, परिवार के किसी व्यक्ति को सेनानायक नहीं बनाया गया।'' गुप्तचर बोला, ''बाद में ज्ञात हुआ कि इसमें भी एक रहस्य है। दुर्योधन का संशयग्रस्त मन किसी बाहरी की निष्ठा पर शीघ्र विश्वास करने को तैयार नहीं था। इसीलिए उसने बाहरी योद्धाओं को बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियों से बाँध दिया, जिससे कभी भी वे शत्रु से न मिल पाएँ—और उनसे कहा कि हम आपके अनुभव तथा योग्यता का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं।''

''फिर पितामह सबसे ऊपर कहाँ से आ टपके?''

''वे स्वयं तो नहीं आए; पर जब दस सेनानायकों को लेकर दुर्योधन पितामह के यहाँ पहुँचा और विनती की कि आपके बिना हमारा कल्याण नहीं होगा, आप प्रधान सेनापति का पदभार सँभालने की कृपा करें, अन्यथा हमारा सैन्य संगठन किसी समय भी छिन्न-भिन्न हो सकता है, तब भी वे तैयार नहीं थे। सुना है, फिर दुर्योधन ने अमोघ बाण मारा। कहा, क्या आप यही चाहते हैं कि आपके रहते कुरुवंश का नाश हो जाए। बस, पितामह भावुक हो उठे। उन्होंने अपनी

---

* १. **अनुकर्ष** (रथ की मरम्मत के लिए उसके नीचे बँधा हुआ काष्ठ)। २. **तूणीर**। ३. **वरूथ** (रथ को ढकने के लिए बाघ आदि का चर्म)। ४. **उपासंग** (हाथी या घोड़ों द्वारा उठा सकनेवाला भारी तूणीर)। ५. **शक्ति**। ६. **निषंग** (पैदल सैनिकों के हलके तूणीर)। ७. **ऋष्टि** (एक प्रकार की लोहे की लाठी)। ८. **ध्वजा** (पताका)। ९. **धनुष-बाण**। १०. **पाश**। ११. **विस्तर**। १२. **कचग्रह विक्षेप** (बाल पकड़कर गिराने का यंत्र)। १३. **घंट-पलक** (घुँघरुओंवाली ढाल)। इनके अतिरिक्त **तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पों के घड़े, राल का चूरा तथा खड्ग** आदि लोहे के शस्त्र। **खौलते हुए गुड़ की चासनी। ढेले। राल और मोम के चुपड़े हुए मुद्गल** (जिन्हें जलाकर फेंका जाता था)। **काँटोंवाली लाठियाँ, हल, विषैले बाण, अंकुश, तोमर, काँटेदार कवच, वृक्षादन** (लोहे की कीलें), **बाघ और गैंडे के चमड़े से मढ़े रथ, सींग, प्रास, कुठार, कुदाल, तेल में भीगे वस्त्र** आदि।

स्वीकृति के साथ शर्त रखी कि सारी सेना का बँटवारा मेरे अनुसार होगा और उसके नायक एवं प्रधान नायक भी मेरी इच्छा से बनाए जाएँगे।''

''दुर्योधन ने इसे स्वीकार कर लिया?'' मैंने पूछा।

''विवशता थी।'' गुप्तचर ने कहा, ''यदि स्वीकार न करता तो क्या करता! यद्यपि कर्ण और शकुनि विरोधी थे। कर्ण ने तो घोर विरोध किया।''

''क्यों?''

''बात यह हुई कि पितामह ने कर्ण को 'अर्धरथी' बनाया; जबकि वह 'अतिरथी' बनना चाहता था। लोगों का कहना है कि इसके योग्य वह था भी। कर्ण ने विरोध करते हुए कहा कि इस बूढ़े की बुद्धि सठिया गई है। जब तक यह सेनापति रहेगा, मैं युद्धक्षेत्र में नहीं जाऊँगा।''

लोग बड़ी गंभीरता से गुप्तचरों को सुनते रहे। मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न था। सोचने लगा कि क्या ही अच्छा होता, जब कर्ण स्पष्ट कह देता कि मैं युद्ध ही नहीं करूँगा। उसका युद्ध से विरत होना पांडवों की विजय को पक्की कर देता; पर मैंने गुप्तचरों से इतना ही कहा कि ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।

''पितामह ने एक शर्त और रखी।'' गुप्तचर ने बताया—''पितामह का कहना था कि मेरे लिए जैसे कौरव हैं वैसे पांडव भी। अतएव मैं युद्ध में किसी भी पांडव को नहीं मारूँगा।''

''यह शर्त कौरवों ने कैसे स्वीकार कर ली?'' मेरे मुख से निकला।

''मन मसोसकर स्वीकार किया। लेकिन वे इसके बदले उनसे एक वचन लेने में समर्थ हो गए कि पांडवों को न मारकर दस हजार पांडव सैनिकों को रोज मारूँगा।''

इतनी सूचनाओं के लिए मैंने गुप्तचरों को अनेक धन्यवाद दिए और कहा, ''तुमने प्राणों पर खेलकर यह कार्य किया है। तुम दोनों पुरस्कार के पात्र हो।'' यह कहते हुए मैंने महाराज युधिष्ठिर की ओर देखा। उन्होंने स्वर्णमुद्राओं से भरी दो थैलियाँ तुरंत मँगवाईं और उन्हें देने लगे।

''पर हम इन्हें लेकर क्या करेंगे?'' गुप्तचर बोले, ''जब सबकुछ नष्ट ही होने वाला है तब इसका क्या होगा—और हम इन्हें कहाँ ले जाएँगे? आप केवल आशीर्वाद दीजिए; क्योंकि वही मेरे जीवन में भी साथ रहेगा और बाद में भी।''

''हमारा आशीर्वाद तो है ही। इस निस्पृह कर्तव्यपरायणता के लिए पांडव जीवन भर आभारी रहेंगे।'' युधिष्ठिर गद्‍गद हो बोले।

फिर विनम्रता से दोनों ने मस्तक झुका दिए।

"क्या तुम यह बता सकते हो कि पितामह ने अपनी सेना की संरचना कैसे की है?"

"संरचना तो शायद हम दोनों की स्मृति मिल-जुलकर बता सके; पर हम यह नहीं बता पाएँगे कि उनके नायक कौन-कौन हैं!"

"तुम जितना बता सकोगे, हमारे लिए उतना ही लाभप्रद होगा।" महाराज विराट ने कहा।

अब दोनों ने अपनी यादों को कुरेदते हुए सेना के पदों के क्रम बताए— "अतिरथी, अर्धरथी, एकरथी, महारथी, रथी, रथ यूथप, यूथप, रथवर, रथसत्तम और रथोदार।"

मैंने समझ लिया कि पितामह भीष्म की योजना प्रलयंकर संग्राम की है। वे भी आर-पार की लड़ाई लड़ेंगे। भले ही वे एक आँख पांडवों को कहें, पर वे कौरवों की ओर से कोई कमी नहीं रखेंगे।

कौरव पक्ष

१. **अतिरथी**—भीष्म (प्रधान सेनापति), कृतवर्मा, बाह्लीक और शल्य।
२. **अर्धरथी**—कर्ण।
३. **एकरथी**—शकुनि, सुदक्षिण, कांबोज और दंडधार।
४. **महारथी**—अश्वत्थामा, सत्यवान्, अलंबुष और पौरव।
५. **रथी**—सत्यरथ, अचल और वृषक (गांधार)।
६. **रथ यूथप, यूथप**—उग्रायुध, आचार्य कृप और द्रोण तथा भूरिश्रवा।
७. **रथवर**—मगधराज जलसंध।
८. **रथसत्तम**—कोशलराज बृहद्बल, वृषसेन, लक्ष्मण (दुर्योधन का पुत्र), विंद, अनुविंद, जयद्रथ, अलायुध, नील।
९. **रथोदार**—दुर्योधन, सुशर्मा एवं उसके चार भाई।

पांडव पक्ष

१. **अतिरथी**—धृष्टद्युम्न (प्रधान सेनापति), पुरुजित्, वसुदान, श्रोणिमान्, सत्यजित् (द्रुपद का पुत्र)।
२. **अर्धरथी**—क्षत्रधर्मा (धृष्टद्युम्न का पुत्र)।
३. **महारथी**—अज, चेकितान, वार्द्धक्षेमि, जयंत, द्रुपद, धृष्टकेतु (शिशुपाल का पुत्र), भोज, रोचमान, विराट, शंख-श्वेत, सत्यधृति, द्रौपदी के पाँचों पुत्र।
४. **रथी**—अर्जुन, उत्तमौजा, उत्तर (विराट का पुत्र), काश्य (अष्टरथ), भीम (अष्टरथ)।
५. **रथमुख**—शिखंडी।
६. **रथ यूथप, यूथप**—अभिमन्यु, घटोत्कच, सात्यकि।
७. **रथसत्तम**—चित्रायुध, सेनाबिंदु।
८. **रथिन**—नकुल, सहदेव।
९. **रथोत्तम**—क्षत्रदेव, पांड्य।
१०. **रथोदार**—कौशिक, कैकय बंधु (पंचक), चंद्रसेन, नील, मदिराश्व, युधामन्यु, युधिष्ठिर, व्याघ्रदत्त, शंख, सुकुमार, सूर्यदत्त।

"अब हमें अनुमति दें; क्योंकि हमें काफी विलंब हो गया है और हमारे पीछे लगे लोग यहाँ तक भी आ गए होंगे।" गुप्तचर बोले।

"तुम जाओगे कैसे?"

"जैसे आए हैं।" गुप्तचर बोले। फिर उन्होंने बताया—"गुप्तचर वेश के आवश्यक वस्त्रादि हमने अपने अश्वों पर छिपाकर रख लिये थे। जब हस्तिनापुर से चले तब भी हमारे पीछे दो अश्वारोही लग गए थे; पर उन्हें यह नहीं मालूम था कि हम कहाँ जा रहे हैं। हम मार्ग बदलकर यहाँ तक चले आए थे और निकट के ग्राम में अश्वों को बाँधकर वेश बदल लिये थे।"

"यदि ग्रामवासियों ने रहस्य का उद्घाटन कर दिया तो?"

"हमें आशा नहीं है; क्योंकि वे ग्राम विराट की सीमा के भीतर हैं। वहाँ तक माँगते-खाते चले जाएँगे।" इसके बाद उन्होंने किसी गुप्त द्वार से इस भवन से बाहर निकालने का आग्रह किया।

वैसा ही किया गया।

"इसका मतलब है कि उन्होंने पूरी तैयारी कर ली है।" सात्यकि बोला, "हम लोग उनसे पीछे हैं।"

"यही तो मैं कह रहा हूँ।" मैंने कहा और यथाशीघ्र पूरी तैयारी करने का आग्रह किया।

"अभी तो द्रुपद भी नहीं पधारे हैं।" युधिष्ठिर बोले।

"उनके आने में विलंब हो रहा है; पर इसका मतलब यह नहीं है कि हम हाथ पर हाथ रखे बैठे रह जाएँ। सेना की सज्जा तो कर ही सकते हैं। उनकी योजना का आभास तो मिल ही गया है। अब हम उनसे अच्छी अपनी योजना बना सकते हैं।"

"उनसे अच्छी क्या बना सकते हैं? गुप्तचरों के अनुसार, उनकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना है और हमारे पास सभी मित्रों को मिलाकर केवल आठ अक्षौहिणी सेना होगी।"

"इसकी चिंता आप छोड़ें और पूरी तत्परता के साथ तैयारी करें।" मैंने कहा और सात्यकि को निर्देश दिया—"तुम भी जाओ और पूरी तत्परता के साथ अविलंब आने की चेष्टा करो।" मैंने यह भी कहा, "हो सके तो द्वारका एक बार जरूर चले जाना; क्योंकि मेरा लौटना अब निकट भविष्य में संभव नहीं है। इसकी सूचना भैया को भी देना और प्रद्युम्न को भी। साथ ही प्रद्युम्न को मानसिक रूप से द्वारका का शासक होने के लिए तैयार कर देना।" इसके साथ ही मैंने दो बातें और

कहीं। पहली यह कि प्रद्युम्न से कहना कि प्रशासन के सैनिकों को छोड़कर युद्ध के लिए सुरक्षित सारी सेना हस्तिनापुर कौरवों की सेवा में भेज दे। मेरे साथ आई सेना मैं आज ही भेज देता हूँ। दूसरी बात यह है कि तुम छंदक को यहाँ शीघ्र ही भेजो। उसके अभाव में मैं स्वयं को आधा अनुभव करने लगता हूँ।

सात्यकि चला गया।

□

युद्ध की तैयारियाँ जोरों से होने लगीं। दो दिनों बाद ही द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखंडी आदि अपने अन्य पुत्रों के साथ आ गए। उन्हें विलंब इसलिए हुआ कि वे पूरी सैन्य शक्ति के साथ पधारे थे।

उनके पहुँचते ही युधिष्ठिर ने अपनी सैन्य सज्जा और उसके नायकों के चुनाव के लिए गुप्त बैठक बुलाई; जिसमें सभी पांडव, महाराज विराट, द्रुपद और मैं था। बात होने लगी कि ऐसे किस व्यक्ति को प्रधान सेनापति बनाया जाए, जो पितामह का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

सहदेव ने महाराज विराट का नाम लिया और कहा, ''संप्रति इस पद के योग्य कोई दूसरा व्यक्ति दिखाई नहीं देता।'' पर नकुल ने द्रुपद का प्रस्ताव किया। उसका तर्क था कि आयु, शस्त्रज्ञान, कुलीनता और धर्म की दृष्टि से महाराज द्रुपद योग्य पड़ेंगे।

जिनके संबंध में बातें हो रही थीं, वे सभी वहाँ बैठे थे। फिर भी लोगों ने खुलकर अपने विचार व्यक्त किए। अर्जुन का प्रस्ताव धृष्टद्युम्न के पक्ष में था। उसका तर्क था कि वह अयोनिज्ञ है। यदि कर्ण कवच और कुंडल लेकर पैदा हुआ है तो धृष्टद्युम्न भी यज्ञकुंड से धनुष, कवच और असि लेकर उत्पन्न हुआ है। ये सारे दैवी अस्त्र हैं और उसके व्यक्तित्व में भी दैवी गुण हैं। अर्जुन के विचार से पितामह का वही सामना कर सकता था।

भीम बोला, ''सुना है, शिखंडी का जन्म ही पितामह की मृत्यु का कारण बनेगा।''

''किसीकी मृत्यु का कारण बनना और प्रधान सेनापति का दायित्व सँभालना दो अलग-अलग बातें हैं।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''युद्ध समाप्त होने के बाद भी कोई किसीकी मृत्यु का कारण बन सकता है।'' इसपर भीम चुप हो गया; पर मैंने कोई राय नहीं दी।

लोगों ने मुझसे पूछा। मैं बड़े असमंजस में पड़ा कि मैं किसका नाम लूँ और किसका न लूँ? मैंने बहुत सँभलकर कहना शुरू किया—''यहाँ प्रधान सेनापति के

लिए जितने नाम आए हैं, उनमें सभी पराक्रम, शस्त्रज्ञान और अनुभव में एक-से-एक बढ़कर हैं। किसीकी तेजस्विता और शौर्य किसीसे कम नहीं। सभी इस पद के अनुकूल हैं; पर मुझे अर्जुन का प्रस्ताव सबसे उपयुक्त लगता है।''

मेरे इतना कहते ही सभी ने हर्षध्वनि से धृष्टद्युम्न को अपना प्रधान सेनापति स्वीकार कर लिया। इसके बाद अन्य सेनानायकों की चर्चा हुई और उन्हें उनका दायित्व सौंपा गया। वस्तुत: किसीके चुनाव में कोई विवाद नहीं था।

अब जोरदार सैनिक तैयारी आरंभ हुई। मैंने उसी दिन सत्यजित् को, जो धृष्टद्युम्न का भाई और अतिरथी भी था, कुरुक्षेत्र के लिए इस आदेश के साथ भेजा कि जहाँ जल की समुचित व्यवस्था हो और भूमि समतल हो, उसे शिविर लगाने के लिए घेर लो।

सवेरे से ही लोग अपने कार्य में लग जाते और मैं पास की पहाड़ी पर मौज-मस्ती के लिए चला जाता। साथ होती वहाँ की प्रकृति और मेरी वंशी। मेरा स्वभाव था कि जब मैं कार्यक्षेत्र से ऊबता था तब या तो अपनी पत्नियों के पास जाता या भाव पत्नियों के साथ रास रचता, या फिर वंशी की शरण लेता; क्योंकि मेरी प्रकृति रागमूलक थी, अनुरागमूलक थी, पर विरागमूलक नहीं। रात्रि में मैं भले ही अकेला होऊँ, पर तब भी मैं एकाकी नहीं रह पाता था। उस समय भी मेरे मन के निकट कभी रुक्मिणी के साथ सत्यभामा होती, कभी गोपियों के साथ राधा होती और कभी नरकासुर से मुक्त हुईं मेरी भाव पत्नियाँ। यह स्थिति मुझे फिर से तरोताजा कर देती और मैं हर परिस्थिति झेलने योग्य हो जाता।

दूसरे दिन प्रात: से ही अभिषेक का कार्यक्रम चला। महाराज युधिष्ठिर सेनानायकों को अभिषिक्त कर उन्हें उनका पदभार सौंप रहे थे। तभी अचानक सूचना मिली कि बलराम भैया आ रहे हैं। वे नगर द्वार में प्रवेश कर चुके हैं। मैं समझ गया कि सात्यकि ने जाकर उन्हें सारी बातें बताई होंगी।

मैं दौड़ा हुआ गया। उनके चरण छुए। यह पूछना तो अभद्रता होती कि आप कैसे आए हैं; पर जिज्ञासा तो थी ही, द्वारका बहुत दिनों से छूटी थी।

भैया सीधे युधिष्ठिर के यहाँ गए। उनके साथ अक्रूर, उद्धव, प्रद्युम्न, चारुदेष्णा आदि यादवों के साथ छंदक भी था। इतने लोगों का द्वारका से एक साथ आगमन उपप्लव्य के लिए चर्चा का विषय बना।

उनके आगमन का समाचार सुनकर महाराज युधिष्ठिर की आकृति पर अप्रत्याशित गंभीरता आ गई। उन्हें लग रहा था कि कहीं ये लोग मुझे बुलाने तो नहीं आए हैं।

तभी भैया ने कह ही दिया—"मैं आप लोगों से आज्ञा लेने आया हूँ।"

'किस बात के लिए?' हर व्यक्ति के मन में यह प्रश्न था, पर कोई पूछ नहीं पाया।

भैया ने स्वयं कहा, "अब मैं तीर्थयात्रा पर जा रहा हूँ। सोचा, आप लोगों से अनुमति ले लूँ।"

"क्या हम आपकी सहभागिता से वंचित रह जाएँगे?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"मैंने अपनी इच्छा अर्जुन से उसी समय बता दी थी जब वह मेरे यहाँ युद्ध का निमंत्रण लेकर आया था। मैंने उससे कहा था और आपसे भी कहता हूँ कि मैं शांति का साथी हूँ, युद्ध का नहीं।" पता नहीं क्यों, वे मेरी ओर संकेत करते हुए बोले, "युद्ध का साथी तो यही है।"

"क्या मैं शांति का साथी नहीं हूँ?" मैंने प्रतिवाद किया।

"जब व्यक्ति संघर्ष में पड़ता है, युद्ध में पड़ता है तब वह उन्हें याद करता है। तुम शांति और सुख के समय याद नहीं किए जाते। शायद तुम्हारे प्रति नियति की यही इच्छा रही है। संघर्ष में ही तुम्हारा जन्म हुआ, संघर्ष ने ही तुम्हें पाला-पोसा और आज भी संघर्ष ही तुम्हारे साथ है।"

सभी की आकृतियों पर चुप्पी छाई थी। भैया बोलते जा रहे थे—"आज आर्यावर्त्त महानाश के कगार पर है। युद्ध की प्रलयंकर ज्वाला में सबकुछ नष्ट होने जा रहा है। इस प्रलयंकर विनाश का साक्षी मैं क्यों होऊँ? इसीलिए मैं तीर्थयात्रा पर जा रहा हूँ। जब आर्यावर्त्त जलता रहेगा तब मैं तीर्थों की शीतल छाया में रहूँगा।"

अब कोई क्या कहता।

महाराज युधिष्ठिर बोले, "मेरी इच्छा आपके साथ चलने की है।"

पर वे अपना वाक्य पूरा करें, इसके पहले ही भैया बोल पड़े—"पर आप चल नहीं सकते। क्षात्रधर्म और सिंहासन की मर्यादा से आपके पैर बँधे हैं। मैं पहले ही सिंहासन छोड़ चुका हूँ।"

इसके बाद वे मेरी ओर देखकर मुसकराए। फिर चुपचाप अभिवादन कर वहाँ से लौटे। हम सब उनके पीछे-पीछे हो लिये।

मैंने द्वार तक आते-आते पूछा, "अब तो आप हस्तिनापुर जाएँगे?"

"क्यों?"

"क्या आप उन लोगों से उस औपचारिकता का निर्वाह नहीं करेंगे, जिसका निर्वाह करने आप यहाँ पधारे?"

"क्या बात करते हो! मेरी प्रकृति जानते हुए भी ऐसा पूछते हो! मैं उन

अन्यायियों का मुँह देखना नहीं चाहता। मुझे तुम्हारी संधिवार्त्ता की एक-एक बात मालूम हो गई है। इस समय दुर्योधन और उसकी मित्र मंडली का अहंकार हिमालय चढ़ चुका है—और अहंकार औरों की हानि से अधिक अपनी हानि करता है।''

फिर कोई कुछ नहीं बोला। भैया को पहुँचाने हम नगर द्वार तक आए।

इस बीच मैंने प्रद्युम्न को निकट बुलाकर समझाया—''तुम जितनी जल्दी हो उतनी जल्दी द्वारका पहुँच जाओ। भैया के न रहने पर तुम्हारा दायित्व भी बढ़ा है और संकट की आशंका भी है। शायद तुम्हें छोटे-मोटे युद्धों का भी सामना करना पड़े; क्योंकि हो सकता है, दुर्वासा के शाप का परिणाम तुम्हारे ही सिर पड़े।''

''पर यह तो मेरे प्रति अन्याय होगा।'' प्रद्युम्न बोला, ''इसमें मेरा क्या हाथ?''

''तुम्हारा हाथ हो या तुम्हारे भाई का। कलंक तो द्वारका को लगा है, तो इसका फल भी द्वारका को भोगना होगा।'' इसी संदर्भ को मैंने आगे बढ़ाया—''भैया के चले जाने के बाद तुम द्वारका में अकेले रह जाओगे। सिरफिरे यादवों को तुमसे बदला लेने का अवसर मिलेगा। कई यादव मिलकर तुमसे बदला लेंगे।''

''ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँगा?''

''जहाँ तक हो सके, ऐसे युद्धों को टालना; क्योंकि तुम्हारे पास अब युद्धक सैन्य शक्ति भी नहीं है।'' फिर मैंने उसे समझाया—''युद्ध टालना पराजय नहीं होती, वत्स, यह भी एक युद्धनीति है। फिर अफवाहों पर युद्ध की टिकाऊ नींव नहीं होती।''

''पर इसकी तो नींव है वह मुशल और उसके साथ लगी है वह अवधारणा।''

''तो उस मुशल को तुम उन्हें दे देना और कहना कि आप ही सुरक्षित रहें। हम अरक्षित रह लेंगे और अपने पापों का फल भोगेंगे।''

इसके बाद भैया के साथ वह चला गया।

दूसरे ही दिन हम लोगों ने कुरुक्षेत्र के लिए प्रयाण किया। युधिष्ठिर महाराज ने देवताओं के साथ ब्राह्मणों की भी पूजा की। उन्हें निष्क एवं गायें दान में दीं और उनसे आशीर्वाद लिया। उपप्लव्य के नगर द्वार तक द्रौपदी आदि नारियाँ हमें छोड़ने आईं। वैदिक स्वस्तिगान के साथ हमें बिदाई दी गई। हमारी सेना पहले ही जा चुकी थी। हमें सूचना थी कि हमारे मित्र राजाओं की सेनाएँ पहले ही जा चुकी हैं।

इंद्रप्रस्थ पहुँचते-पहुँचते हमने अनुभव किया कि सामने से पक्षी उड़ते चले

आ रहे हैं। चौपाये भयातुर हो इधर-उधर भाग रहे हैं। कुछ देर के बाद रथों की घड़घड़ाहट और अश्वों की हिनहिनाहट सुनाई पड़ी। हम लोगों की आशंका अब पक्की हो गई। सामने से कोई सेना चली आ रही थी।

यह रुक्मी था—मेरा साला, रुक्मिणी का भाई। वह अपनी सेना के साथ आया था। आते ही पूरे अहंकार से ग्रस्त वह सीधे मुझसे मिला।

उसने कहा, ''यदि आप स्वयं को दुर्बल अनुभव कर रहे हों तो मैं आपका साथ दूँ!''

उसके बोलने का ढंग न तो मुझे अच्छा लगा और न मेरे रथ में बैठे अर्जुन को ही। उसने कई बार कुछ संकेतों और कुछ वाणी का सहारा लेते हुए अपना प्रश्न दुहराया।

अब मैंने कहा, ''आप रथ में बैठे अर्जुन से पूछें। मैं तो मात्र इनका सारथि हूँ। मैं न तो इनकी शक्ति जानता हूँ और न आवश्यकता।''

तब उसने अर्जुन से वही प्रश्न और वैसे ही दुहराया।

अर्जुन हँसा। बोला, ''हम यदि स्वयं को दुर्बल समझते तो युद्ध में क्यों आते?'' फिर लगभग दुत्कारते हुए उसने कहा, ''आपकी इस कृपा के लिए धन्यवाद। अभी आप पधारें, जब हम स्वयं को दुर्बल समझेंगे तब आपका सहयोग सादर स्वीकार करेंगे।''

रुक्मी चुपचाप चला गया। बाद में पता चला कि वह पहले कौरवों के यहाँ गया था। वहाँ भी कौरवों से उसने यही कहा था कि यदि आप स्वयं को दुर्बल समझते हों तो मैं आपकी सहायता कर सकता हूँ। वहाँ से वह कुत्ते की तरह दुत्कार कर भगा दिया गया। तब सीधे वह हम लोगों के पास आया था। अर्जुन ने तो फिर भी कुछ शालीनता बरती थी।

पूरे रास्ते भर अर्जुन को जब-जब रुक्मी याद आता, हम दोनों उसके अहंकार पर हँसते रहे। अंत में अर्जुन ने मुझसे कहा भी—''क्या संयोग है कि आपके भाई को उनकी शांति-भावना ने युद्ध से विरत कर दिया और आपकी पत्नी के भाई को उसके अहंकार ने! जबकि आर्यावर्त्त के सभी शासक इस युद्ध में किसी-न-किसी ओर से हैं।''

□

चार
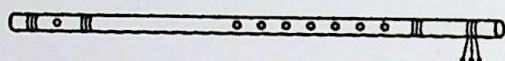
मार्ग में कई स्थानों पर हमारी सेना का स्वागत हुआ। जनता ने हमें तरह-तरह से उत्साहित किया। हर ग्राम के व्यक्ति शंख बजाते और सिंहनाद करते आगे-आगे चलते। जब अगले ग्राम के लोग ऐसा करने आ जाते तो पिछले ग्राम के लोग लौट जाते। इस प्रकार मार्ग भर हमारा उत्साहवर्द्धन और स्वागत होता रहा।

मुझे याद है, उपप्लव्य से चलते समय एक बात और हुई। नगर द्वार के बाहर हमारी आरती उतारकर रनिवास लौटने लगा; पर द्रौपदी अचानक सामने खड़ी हो गई। वह एकटक मुझे निहारती रही। मैं तुरंत रथ रोककर नीचे उतर आया और उसके पास पहुँचा।

मैं बोला, ''क्या बात है? स्पष्ट कहो। मुहूर्त टलता जा रहा है।''

''क्या हम लोग आपके साथ नहीं चल सकते?''

''महिलाओं का युद्ध में चलने का विधान नहीं है।''

''तब कैकेयी महाराज दशरथ के साथ कैसे गई थीं?'' उसने बड़ी गंभीरता से कहा, ''हमारा साथ भी संकट के समय कैकेयी की तरह काम आएगा।''

पहले तो मैंने कहा, ''उस समय नारियों को युद्ध में ले जाने की प्रथा थी, पर अब नहीं है।'' फिर मैंने बात को उड़ा देने के लिए परिहास करते हुए कहा, ''कैकेयी के लिए महाराज दशरथ अकेले थे, जिनके रथ पर बैठकर वह युद्धक्षेत्र में गईं और पति के संकट के समय हाथ बँटाया। तुम्हारे तो पाँच पति हैं। किनके-किनके रथ पर तुम बैठोगी और किनके-किनके काम आओगी!''

उसे बिलकुल हँसी नहीं आई। मेरा परिहास-बाण उसके सिर के ऊपर से निकल गया। वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपने हठ पर दृढ़ थी—''यों ही तुम कहते रहते हो कि नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है! उन्हें समाज में समान अधिकार है! इस समय तुम्हारा वह सिद्धांत कहाँ चला गया?''

''मैं इसलिए कह रहा हूँ कि युद्ध में तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है।''

"क्यों आवश्यकता नहीं है? हम युद्ध नहीं कर सकतीं तो क्या सेवा भी नहीं कर सकतीं? हम लोग घायलों की सेवा-शुश्रूषा करेंगी। कम-से-कम पणव, भेरी, आनक, दुंदुभी, शंख आदि की ध्वनियों की तरह आप लोगों का उत्साह तो वर्द्धन कर सकते हैं।"

मैंने सोचा कि बात तो यह ठीक ही कह रही है। मैंने शीघ्र ही धृष्टद्युम्न से संपर्क किया। उसने मुसकराते हुए कहा, "इस औपचारिकता के निर्वाह के लिए आपको धन्यवाद। अब निर्णय तो आपको ही लेना है।"

विलंब हो रहा था। पूरी सेना और ज्योतिषियों को यह विलंब बोझ लग रहा था। इसी बीच भेरी, डिंडिम, दुंदुभी और शंख बज उठे। प्रयाण का समय है।

मैंने शीघ्रता से उससे कहा, "हम आप लोगों के लिए हस्तिनापुर में व्यवस्था करते हैं। आप लोग वहीं चली आइए। बाद में देखा जाएगा।"

हमारे शिविर ब्रह्मसर के किनारे समंतपंचक तीर्थ के समीप लगाए गए। यह भूखंड विशाल और समतल था। यह कुरुक्षेत्र की परिसीमा में भी आता था। रणस्थल यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर था।

पहुँचते ही मैंने विदुरजी से मिलने की योजना बनाई; क्योंकि मुझे पूर्व मिली सूचना से अधिक और भी कुछ जानना था।

अर्जुन का शिविर मेरे पार्श्व में था। उसे उसके शिविर में छोड़कर मैंने अपने शिविर से दारुक को बुलवाया। वह मेरा रथ लेकर तुरंत आ गया।

उसके आते ही अर्जुन ने मुसकराते हुए पूछा, "आप कहाँ चले?"

"इससे तुमसे मतलब! मैं तुम्हारा दास तो हूँ नहीं।" मैंने उसी मुद्रा में कहा।

"सारथि तो हैं। हमारे संकेत पर चलना आपका कर्तव्य है।"

बातें परिहास में हो रही थीं। मैंने तुरंत उत्तर दिया—"मेरा कर्तव्य क्या है, मैं जानता हूँ। इसे अच्छी तरह समझ लो कि रथी सारथि के निर्देश पर चलता है। रथी के निर्देश पर सारथि नहीं।"

फिर वह हँसने लगा। उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर धीरे से पूछा, "आखिर विदुर चाचा से मिलने की इतनी जल्दी क्या है?"

"विदुरजी से तो मिलने की जल्दी है ही, उससे अधिक जल्दी है बुआ से मिलने की।"

मुझे लगा कि मैंने कोई भूल कर दी।

"तब मैं भी साथ चलूँगा।"

"मैं तुम्हें लेकर नहीं जाऊँगा। मैं उनसे एकांत में मिलना चाहता हूँ।" मैंने स्पष्ट कहा।

वह मेरा मुँह देखता रह गया।

जब मैं विदुरजी के आवास पर पहुँचा तब मध्याह्न हो चुका था। मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी के सूर्य का प्रकाश सिर पर चमक रहा था। विदुरजी घर पर नहीं थे। प्रतिहारियों के साथ मुसकराती हुई चाची मिलीं; जैसे कनेर गुच्छ के बीच खिला हुआ सरसित। मैंने उनसे ही बुआजी से मिलने की अपनी इच्छा व्यक्त की।

उन्होंने कहा, "अभी वे पूजा पर बैठी हैं।"

"क्या उनकी पूजा समाप्त नहीं हुई? मध्याह्न हो गया!"

"आजकल उनकी कुछ असामान्य स्थिति है। उन्हें सूर्योपासना में घड़ियाँ बीत जाती हैं। शरीर तप जाता है। आकृति सिंदूरी हो जाती है—और कभी-कभी संध्या भी हो जाती है।"

मैंने यह नहीं पूछा कि ऐसा क्यों है; पर मेरे मन ने अनुमान के सहारे लक्ष्य पकड़ने की चेष्टा अवश्य की।

मैं उसी कक्ष में बैठ गया और चाची से बोला, "जब बुआजी अपनी अभ्यर्थना में इतनी तन्मय हैं तब मुझे भी उनकी प्रतीक्षा में उतना ही तन्मय होना चाहिए।"

वे मुसकराती चली गईं। थोड़ी देर बाद मैं भी उठकर वहाँ गया जहाँ बुआ पूजा कर रही थीं। सूर्य की ओर मुँह किए आँखें बंद कर वे पाठ करती रहीं। मैं चुपचाप वहीं खड़ा रहा।

थोड़ी देर बाद आँखें खुलीं और उन्होंने मुझे देखा। वे मुसकराईं तो अवश्य, पर बड़ी वेदना थी उनकी मुसकराहट में। फिर बिना पूछे ही उन्होंने बताना शुरू किया—"तुम्हारे निर्देशानुसार मैं कर्ण से मिली थी। सचमुच वह अद्भुत व्यक्ति है। वह मेरा पुत्र नहीं वरन् अपने पिता का पुत्र लगता है।"

"क्यों नहीं लगेगा, उसे आपका मातृत्व मिला कहाँ है!"

इतना सुनते ही बुआ एकदम गंभीर हो गईं। बोलीं, "तुम ठीक कहते हो, बेटा, यही बात तो उसने भी कही थी।" फिर उनकी ध्वनि इतनी भारी हुई कि वे कुछ बोल नहीं पाईं। गला रुँध गया।

"शायद ही कोई माँ अपने पुत्र द्वारा इतनी लताड़ी गई हो।"

"लगता है, उसने आपका अपमान भी किया?"

"नहीं! अपमान तो नहीं किया। पूरा सम्मान देते हुए उसने जो खरी-खरी

सुनाई कि मैं कुछ बोल नहीं पाई।''

फिर उन्होंने धीरे-धीरे सारी बात बताई—''जैसा तुमने कहा था मैंने वैसा ही किया। दो घड़ी दिन चढ़े, समय से, गंगा के उसी घाट पर मैं पहुँच गई थी जहाँ तुमने बताया था। वह अब भी सूर्य की ओर मुँह किए उपासना कर रहा था। तट पर उसकी प्रतीक्षा में ब्राह्मणों का एक वर्ग खड़ा था। धीरे-धीरे अभी भी लोग आते जा रहे थे और याचक ब्राह्मणों की संख्या बढ़ती जा रही थी। साथ ही उसकी अर्चना भी चलती जा रही थी। वह 'आदित्य हृदयम्' की आवृत्ति पर आवृत्ति किए जा रहा था।

''मैं बड़े असमंजस में थी कि कैसे उसके सामने जाऊँ, कैसे उससे वह सब सुनाऊँ, जिसे मैंने आज तक किसीको नहीं कहा था। अतएव मैं एक झाड़ी की आड़ में चुपचाप खड़ी हो गई और बराबर देखती रही। इतने करीब से मैंने कर्ण को कभी नहीं देखा था। स्वर्ण-से चमकते उसके वक्ष पर सूर्य किरणें पड़कर और भी ज्योतित हो रही थीं; मानो वर्म से टकराकर स्फुलिंग छूट रहा हो। और कुंडल! मानो तड़ित तरंग वर्तुलाकार होकर उसके कानों में लटक गई हो। गंगा में चमकती उनकी आभा जल पर एक स्वर्णिम रेखा खींच रही थी।

''दान प्राप्त कर सभी ब्राह्मणों के चले जाने के बाद उसने मुँह फेरकर फिर गंगा में डुबकी लगाई। अब मैंने मौका देखा। किसी तरह बिखरे साहस को बटोरा और उसके सामने आकर खड़ी हो गई। वह बड़े विस्मय से श्रद्धा के साथ प्रणाम करते हुए बोला, 'अरे, राजमाता! आप यहाँ कैसे?'

'' 'जैसे इतने लोग आए थे।'

'' 'वे सब तो याचक थे।'

'' 'तो मैं भी एक याचिका हूँ।' मैंने कहा, 'मेरा पुत्रत्व मुझे लौटा दो।'

'' 'मुझे आपका पुत्रत्व तो मिला ही नहीं। वह तो आपके ही पास है।'

''मैंने सोचा कि माँगने में मेरी जीभ लड़खड़ा गई। मैंने तुरंत अपने को सुधारा—'मैं अपना पुत्र माँगने आई हूँ।'

'' 'कैसा पुत्र? कौन सा पुत्र?' उसका विस्मय कुछ झुँझलाया। तब मैंने उसके जन्म का सारा प्रसंग सुनाया। तब वह बोला, 'इसे मैं सुन चुका हूँ। आपको उस छलिया ने तो नहीं भेजा है?'

'' 'नहीं, मैं स्वयं आई हूँ।'

'' 'तब आज तक कहाँ थीं? आपको अपने इस पुत्र की आज तक याद नहीं आई? आपने कभी सोचा ही नहीं कि आपके पुत्र पर क्या बीत रही है। मुझे

जीवन भर सूतपुत्र होने का अपमान सहना पड़ा। कई बार तो आपके सामने मैं अपमानित किया गया।' उसने मुझे याद दिलाते हुए कहा, 'उस दिन तो सामने मंच पर बैठकर आप तमाशा देख रही थीं, जब शस्त्रस्पर्धा चल रही थी और मुझे सूतपुत्र कहकर रंगमंडप से बाहर किया जा रहा था! जब आचार्य द्रोण बराबर पूछ रहे थे कि बता, तेरा कुल-गोत्र क्या है? तेरे माता-पिता कौन हैं? तब आपका मुँह बंद हो गया था! मैं प्रतियोगिता से बहिष्कृत कर दिया गया और आपके मुँह से एक बार भी न निकला कि मैं इसकी माँ हूँ। आज ही आपकी ममता जागी है!

" 'जब माँ अपनी ममता को मारकर लोक-लज्जा के भय में पड़ जाती है तब माँ माँ नहीं रहती और न उसका बेटा बेटा ही रह जाता है। तब वह उसका गला भी दबा सकती है, उसे घूरे पर भी फेंक सकती है, उसे धारा में प्रवाहित भी कर सकती है।' मैं चुपचाप सुनती रही। कर्ण बोलता गया—'जिस समय आपने मुझे गंगा में बहा दिया, उसी समय आपने अपने मातृत्व को भी गंगा में प्रवाहित कर दिया था। अब कौन किसकी माता और कौन किसका पुत्र? अब तो मेरी माता राधा है और मैं राधेय हूँ।'

" 'तो क्या तुम सचमुच स्वयं को कौंतेय नहीं मानते?'

" 'नहीं, बिलकुल नहीं।'

" 'क्या तेरी धमनियों में प्रवाहित रक्त भी यही कहेगा? क्या जन्म देनेवाली माता का अपने पुत्र पर कोई अधिकार नहीं?'

" 'जब आपने मुझे गंगा में अर्पित कर दिया तब मेरा दूसरा जन्म हुआ। फिर पिछले जन्म के लोगों से क्या संबंध? अब तो जिसने मुझे पाला-पोसा मैं उसी राधा का पुत्र हूँ, राधेय।'

"इतना सुनते ही मुझे ऐसा लगा जैसे ग्लानि का मुझपर पहाड़ टूट पड़ा। फिर भी मैंने कहा, 'तो क्या मैं मान लूँ कि मेरा-तेरा कोई संबंध नहीं? तू हृदय पर हाथ रखकर यह कहेगा? क्या अब पूर्व के संबंध का कोई महत्त्व नहीं?'

"इतना सुनते ही कर्ण चुप हो गया। थोड़ी देर बाद वह कुछ सोचते हुए बोला, 'मनुष्य की कुछ नैतिकता भी होती है। यदि युद्ध के ऐन मौके पर मैं कौरवों का साथ छोड़ूँगा तो संसार क्या कहेगा? फिर पांडवों को समाज में कोई मेरे भाई के रूप में नहीं जानता। इसके विपरीत दुर्योधन क्या सोचेगा—धोखेबाज और कृतघ्न! इसलिए हे माँ! तू चली जा। मैं तेरी कोई सहायता नहीं कर सकता।'

" 'तुमने अभी मुझे 'माँ' कहा है।'

" 'भूल से मुख से निकल गया।'

" 'भूल से किए हुए प्रहार से क्या चोट नहीं लगती?' मैंने कहा, 'भूल से ही सही, पर तेरे मुख से 'माँ' निकला है न। मुख से निकले शब्द और धनुष से छूटे बाण पर व्यक्ति का अधिकार नहीं रह जाता। मैं तेरी माँ थी, हूँ और आगे भी रहूँगी।'

" 'तो तू चाहती क्या है?'

" 'यदि तू पांडवों की ओर से लड़ नहीं सकता तो मैं चाहती हूँ कि तू उन्हें अभयदान दे।'

" 'जा, मैं पांडवों को अभयदान देता हूँ।' फिर उसे झटका-सा लगा—'...लेकिन अर्जुन को नहीं। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव—सबको छोड़ दूँगा; पर अर्जुन को नहीं।'

" 'तो तू अर्जुन को नहीं छोड़ेगा! अपने भाई का ही वध करेगा! क्या भाई का वध करना शास्त्र-वर्जित नहीं?'

" 'माँ, तू भी शास्त्र की बात करती है! और लोग करें तो करें, तुझे शास्त्र की बात करना शोभा नहीं देता। कौन शास्त्र पैदा होते ही शिशु को धारा में बहा देने की माँ को अनुमति देता है?'

"अब तो मैं आगे बोल नहीं पाई।" बुआ ने बताया—"उसने पुनः अपनी बात दुहराई—'अर्जुन का वध होगा तो मेरे ही हाथों होगा।'

" 'तब तो मैं यह समझ लूँ कि अब तक तो लोग मुझे पाँच पांडवों की माता कहते थे, अब चार ही पुत्र की रह जाऊँगी!' मेरा स्वर रुआँसा हो गया। आँसू गिरने ही वाले थे। तब उसने मुझे समझाते हुए कहा, 'तू क्यों घबराती है? मेरे और अर्जुन के युद्ध में यदि मैं मारा गया तो तेरी स्थिति में कोई अंतर नहीं होगा। यदि अर्जुन मारा जाता है तो मैं तेरे मातृत्व को स्वीकार करूँगा। मुझे लेकर तेरे फिर पाँच पांडव हो जाएँगे।'

"अब मैं क्या कहती!" कुंती बुआ बोलीं, "चलते समय उसने फिर मेरे चरण छुए। मेरे मुख से निकला—'यशस्वी भव!'

"वह मुसकराने लगा। शायद वह यह सोचने लगा कि माँ ने 'यशस्वी भव' कहा, पर 'विजयी भव' नहीं कहा।"

☐

इन सारे प्रसंगों से मैं प्रसन्न तो नहीं था, पर दुःखी भी नहीं था। मैंने सोचा कि चलो, दो वचन तो कर्ण ने दिए और दोनों हमारे पक्ष में हैं। एक तो जब तक भीष्म युद्धक्षेत्र में रहेंगे तब तक वह वहाँ पैर नहीं रखेगा। दूसरे पांडवों

के चार भाइयों का वह वध नहीं करेगा। इतना होने पर भी यदि कोई वस्तु बहुत प्रभावित करनेवाली थी तो उसका चरित्र था। सबकुछ जानने के बाद भी वह दुर्योधन के पक्ष में पहले जैसी दृढ़ता से खड़ा रहा। वह इसे जानता था कि यदि इस संदर्भ को युधिष्ठिर जान जाएँगे तो वह कभी युद्ध नहीं करेंगे। इधर कौरव भी पीछे हट जाएँगे। फिर पूरे हस्तिनापुर का उत्तराधिकारी मैं हो जाऊँगा। फिर भी वह अपने वचन से जरा भी नहीं डिगा। कर्ण सबकुछ हो सकता है, पर कृतघ्न नहीं हो सकता।

कुंती बुआ बहुत दुःखी थीं। उनका कहना था—''इतना कुछ करने के बाद भी मुझे कोई सफलता नहीं मिली।''

''यह तुम कैसे कह सकती हो, बुआ!'' मैंने उन्हें समझाया—''यह सफलता कम है क्या कि तुमने अपने चार पुत्रों के लिए उससे अभयदान ले लिया। पर यह रहस्य कभी खुलना नहीं चाहिए।''

''क्यों?''

''इससे कर्ण के प्रति कौरवों के विश्वास को चोट लगेगी।''

''इस विषय में तो वह कुछ नहीं बोला।'' बुआ ने कहा, ''पर उसने यह अवश्य कहा कि हमारे-तुम्हारे संबंधों का ज्ञान युधिष्ठिर को न हो।''

''युधिष्ठिर को क्या, किसीको नहीं होना चाहिए।'' फिर मैंने इसका रहस्य उन्हें समझाया।

उनके मन में बैठी कर्ण की प्रतिमा और भी पवित्र तथा विराट् हो गई थी।

उधर से लौटते समय विदुरजी से भेंट हो गई। उनसे सूचना मिली कि पितामह चाहते हैं कि दोनों पक्ष बैठकर पहले युद्ध के नियम बना लें। फिर उन्होंने पूछा, ''इस विषय में आपकी क्या राय है?''

मैंने कहा, ''मैं क्या कहूँ? मैं अस्त्र न उठाने का वचन दे चुका हूँ। फिर मैं सारथि हूँ। सारथि तो युद्ध करता भी नहीं।''

''आखिर आपको सारथि बनाया किसने?''

''अर्जुन ने।''

''उसने बड़ी बुद्धिमानी का काम किया!'' वे मुसकराए—''युद्ध न करनेवाले को उसने हर क्षण युद्धक्षेत्र में रहने के लिए बाध्य कर दिया।''

मैंने मुसकराते हुए बिदा ली। सोचा कि जरा भी यदि यहाँ रुकता हूँ तो वे युद्ध के लिए बनाए जानेवाले नियमों की चर्चा करेंगे—और मैं उससे दूर ही रहना चाहता था।

मैं सीधे अपने शिविर में आया। संध्या डूब चुकी थी। शिविर के द्वार पर मशालें जलाई जा रही थीं। ज्योतिसर की ओर से आती हुई हेमंती वायु, अश्वों की हिनहिनाहटें और लोगों की चहल-पहल एक अदृश्य मेले जैसा दृश्य प्रस्तुत कर रही थी। यों तो मैंने युद्ध अनेक लड़े थे, पर इतनी तैयारी कभी नहीं देखी थी। क्षेत्र के एक ओर—आग्नेय कोण में—सरोवर के किनारे भोजन तैयार करने के शिविरों से निकलता धूम अब नीचे ही जमकर सैनिक शिविरों को भी अपने अस्तित्व का अनुभव करा रहा था।

अचानक महाराज द्रुपद पधारे। उन्होंने भी विदुरजी की तरह युद्ध के नियमों की चर्चा की।

मैंने कहा, "तो ठीक है, आप लोग बना लीजिए।"

"क्यों, आप नहीं चलेंगे?"

"जिसे युद्ध करना ही नहीं है, उसे युद्ध के नियमों से क्या मतलब!"

मेरा नपा-तुला उत्तर सुनकर द्रुपद गंभीर हो गए।

मैंने उन्हें चिंतामुक्त करने के उद्देश्य से कहा, "आप चाहें तो धर्मराज को ले लें; एक आप हैं ही—और फिर पितामह रहेंगे ही। तीन व्यक्तियों की समिति इसके लिए काफी है। और यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है भी नहीं।"

वे चुपचाप चले गए।

थोड़ी देर बाद अर्जुन आया। वह आज आवश्यकता से अधिक गंभीर लगा। उसने भी युद्धसंहिता के निर्माण की चर्चा की।

मैंने उसे बताया—"अभी महाराज द्रुपद से भेंट हुई थी। उन्होंने भी इस संदर्भ में कहा था और मैंने उसमें शामिल न होने की अपनी असमर्थता व्यक्त की है।"

"सारी स्थिति मैं जानता हूँ।"

"तब तुमने क्या कहा?"

मैंने कहा, "जब द्वारकाधीश ने असमर्थता व्यक्त की है तब आप मुझे भी असमर्थ समझिए; क्योंकि मैं तो वहीं जाऊँगा जहाँ मेरा सारथि जाएगा, या मुझे ले जाएगा। इसपर वे कुछ नाराज-से लगे और बिना कुछ कहे-सुने चले गए। अब क्या करना चाहिए?"

"चुपचाप बैठना चाहिए।" मैंने उसे समझाया—"मैं हर काम के लिए नियम बनाने के पक्ष में नहीं रहता; क्योंकि नियम स्वयं को बाँधने के लिए बनाए जाते हैं। इससे सामाजिक अनुशासन तो बढ़ता है, पर आत्मानुशासन दुर्बल हो जाता

है। दूसरे, जिस क्षण नियम बनता है उसी क्षण उसके टूटने की संभावना का भी जन्म हो जाता है—जीवन के साथ मृत्यु की तरह। इसीलिए लोग मोक्ष चाहते हैं। इसीलिए मैं भी नियममुक्त स्थिति को सबसे अच्छी स्थिति मानता हूँ, जो केवल आत्मानुशासित हो। फिर युद्ध और प्रेम में नियम क्या? युद्ध में युद्ध करना और प्रेम में प्रेम करना ही नियम है।''

''कुछ भी कहिए, आपको लोग छोड़ेंगे नहीं।'' अर्जुन बोला, ''फिर जब पितामह बुलाएँगे तब क्या करेंगे?''

''तब देखा जाएगा।'' मैंने कहा।

फिर भी अर्जुन चिंतन की मुद्रा में मुँह लटकाए बैठा रहा; जैसे कोई बड़ा संकट उसपर आया हो या किसी गंभीर द्विविधा में पड़ा हो।

मैंने पूछा, ''क्या बात है?''

''कैसे कहूँ?'' उसका संकोच मुखर हुआ—''उसी शंका के समाधान के लिए इस समय आया था; पर यहाँ आते ही मस्तिष्क दूसरी ओर उलझ गया।'' वह द्विविधा को पीछे ढकेलते हुए बोला, ''इस विशाल युद्धक्षेत्र को जब मैं देखता हूँ, इतने कोलाहल और उत्साह का अनुभव करता हूँ, तब मेरे मन में एक प्रश्न उठता है।''

''क्या?''

''आखिर इतना नर-संहार क्यों हो एक सत्ता के लिए? इसे छोड़ ही दिया जाए तो क्या हानि होगी? हम लोग वनवास में कम सुखी तो थे नहीं!''

मैं एकटक अर्जुन को देखता रह गया। आज मुझे बिलकुल दूसरा ही अर्जुन दिखाई दे रहा था।

''लगता है, धर्मराज के कमंडलु से निकलकर विषाद की गंगा तुम्हारे मन की जटाओं में समा जाना चाहती है।'' मैंने पूछा, ''तुम और धर्मराज एक ही शिविर में तो नहीं रह रहे हो?''

''नहीं, बिलकुल नहीं।'' अर्जुन बोला, ''बल्कि इन दिनों उनसे बातें भी नहीं हुई हैं।''

''कोशिश करना कि आज की रात भी उनसे बातें न होने पाए। फिर तो युद्ध आरंभ ही हो जाएगा।''

वह चुपचाप उठा और चला गया।

छंदक ने बताया कि कल सुबह तक अंतःपुर की महिलाओं का भी दल आ जाएगा और अभी तक युद्ध के नियमों की चर्चा पूरी नहीं है। मैंने सोचा कि

एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। उसी समय युद्ध-नियम समिति की बैठक चलेगी और उसी समय मैं उनसे मिलने चला जाऊँगा।

दूसरे दिन प्रातः ही सूचना मिली कि द्रौपदी आदि आ गई हैं। पीछे उनकी सेविकाओं का दल भी आ रहा है। मैंने उन्हें ठहराने की व्यवस्था विदुरजी के यहाँ की थी। वही स्थान सुरक्षित भी था और सुविधाजनक भी।

नियमानुसार जिस समय पितामह के शिविर में युद्ध के नियम निर्धारित किए जा रहे थे, उसी समय मैं विदुरजी के अंत:पुर में पहुँचा। अधिकांश महिलाएँ पर्यंकों पर पड़ी हुई यात्रा का श्रम-परिहार कर रही थीं।

जैसे ही मैं द्रौपदी के कक्ष में पहुँचा, वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। बोली, ''विश्वास ही नहीं था कि सबसे पहले तुम्हीं सुधि लोगे। अभी तक मेरे पतियों में से कोई भी मेरा कुशलक्षेम पूछने नहीं आया।''

''तो मैंने गलती की!'' मैं मुसकराते हुए बोला। फिर मैंने उसे बताया— ''इस समय तुम्हारे पति युद्ध के नियम बनाने में जुटे हैं।'' फिर इधर-उधर की बातों के बाद मैंने उससे पूछा, ''अच्छा, यह बताओ, तुमने युद्धस्थल पर आने का निश्चय क्यों किया?''

''यदि इस विपत्ति में नारी पुरुष का साथ नहीं दे सकती तो उसका जीवन व्यर्थ है। अरे, युद्ध तो प्रातः से सूर्यास्त तक होगा। फिर तो हम आप लोगों का साथ दे ही सकती हैं।''

''अच्छा, तो आप लोग रात्रि में हमारा साथ देने आई हैं!''

वह मुसकराती हुई लज्जा से झेंप गई। फिर उसने स्वयं को सँभालते हुए कहा, ''एक दृष्टि से तुम्हारा कहना ठीक भी है। रात में ही घायलों की सेवा-शुश्रूषा हो सकती है।''

''उसके लिए राजवैद्य के नेतृत्व में विराट के अधिकांश योग्य वैद्यों तथा उनके सहयोगियों का समूह आया है।''

''वैद्यों की सेवा तो सदा उपलब्ध रहती है; फिर आप लोग क्यों कहते हैं कि सच्ची सेविका तो नारी ही होती है!'' उसने कहा।

सदा की तरह मैंने फिर सोचा कि द्रौपदी को तर्क से परास्त करना बड़ा कठिन है। मैंने कहा, ''पर सत्य तो यही है कि केवल सेवा की दृष्टि से तुम नहीं आई हो।''

वह हँसते हुए बोली, ''जब तुम जानते ही हो तो छिपाना क्या!'' फिर उसने कहा, ''मैं अपना संकल्प पूरा करने आई हूँ।''

“मैं कुछ समझा नहीं।”

तब उसने अपने खुले हुए केशों को आगे कर दिया और बोली, “इन्हें क्या तुम भूल गए?” वह बड़े आवेश में बोली, “दूर रहकर मैं इन्हें दुःशासन के रक्त से धो कैसे सकती थी?”

इतना सुनते ही मैंने दाँतों तले अँगुली दबाई। सोचा, नारी का प्रतिशोध नागिन से कम जहरीला नहीं होता—वह भी द्रौपदी का, वह तो आग है आग—यदि दूसरे को न जला पाई तो स्वयं जलकर राख हो जाएगी।

“मैं क्या, कोई भी तुम्हारी संकल्प दृढ़ता की प्रशंसा करेगा।” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, “भगवान् ऐसा न करें, यदि भीम उसे मार न पाए और दुःशासन ही भीम का वध कर दे तो? क्योंकि युद्ध में कुछ भी संभव हो सकता है।”

“तब मुझे निकट रहने में उनके साथ भस्म हो जाने में सरलता होगी।”

मैं कुछ और पूछूँ कि वह अट्टहास करने लगी। उस समय बिखरे हुए केशों के बीच अट्टहास करती द्रौपदी पर जैसे कराला काली उतर आई थी।

□

लौटते ही मैंने देखा कि अर्जुन मेरे शिविर के बाहर एक मंचक पर बैठा है। निश्चित ही वह मेरी प्रतीक्षा में है। आते ही उसने बताया कि युद्ध के नियम बन गए हैं। वे दस हैं।* उसने उन्हें पढ़कर सुनाया भी।

मुझे हँसी आ गई।

अर्जुन को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, “आप हँस क्यों रहे हैं?”

“हँस रहा हूँ यहाँ के बूढ़े और बुजुर्गों की मूर्खता पर।” मैंने कहा, “क्या इन नियमों का पालन हो सकेगा? जब जुए के सामान्य स्थापित नियमों का पालन

---

* दस नियम जो बनाए गए थे, वे हैं—

१. रोज युद्ध के बाद हमारे पारस्परिक संबंधों में कोई अंतर नहीं आएगा। २. समान प्रतिद्वंद्वी के साथ ही युद्ध किया जाएगा। ३. जो केवल वाग्युद्ध करेगा, उसके साथ वाग्युद्ध ही होगा। ४. सेना से हटे व्यक्ति के साथ युद्ध वर्जित होगा। ५. रथी के साथ रथी, गजारोही के साथ गजारोही, अश्वारोही के साथ अश्वारोही तथा पैदल के साथ पैदल को ही युद्ध करना पड़ेगा। ६. प्रतिपक्षी की योग्यता, उत्साह, बल आदि का खयाल रखकर युद्ध करना पड़ेगा। ७. प्रहार करते समय शत्रु को सावधान करके प्रहार करना होगा। ८. अस्वस्थ और विह्वल व्यक्ति पर प्रहार वर्जित होगा। ९. शरणागत, निरस्त्र, भग्नास्त्र और युद्ध से विमुख पर प्रहार नहीं होगा। १०. सूतचूर्य (हाथी-घोड़े आदि का वाहक), शस्त्रवाहक, रणवादक पर वार नहीं होगा।

महाभारत 'भीष्मपर्व' में भी युद्ध के ग्यारह नियम गिनाए गए हैं, जिनमें दस तो ये ही हैं। ग्यारहवाँ है—अभिज्ञ पर ब्रह्मास्त्र नहीं छोड़ा जाएगा।

कौरवों ने नहीं किया, तब वे इन नियमों को क्या समझते हैं!'' अर्जुन ने बड़े ध्यान से मुझे देखा। मैं कहता गया—''नियम तो सामान्य मस्तिष्क देखता है। क्रोध और आवेश में तो वह असामान्य हो जाता है, तब उसे कुछ दिखाई नहीं देता। यदि नियम की ओर वह देखे तो उसे आवेश ही न आए। वैसे भी मैं मर्यादामुक्त व्यक्ति हूँ। कोई भी मर्यादा और नियम मुझे बाँध नहीं सकते। केवल आत्मानुशासन ही मेरे कर्मों पर नियंत्रण करता है।''

अर्जुन सोचने लगा।

कुछ क्षणों तक मैं उसे देखता रहा। फिर बोला, ''ये सारे नियम युद्ध के उद्वेग में बह जाएँगे।''

और फिर हुआ भी ऐसा ही।

अर्जुन के चले जाने के बाद छंदक मुँह लटकाए आता दिखाई दिया; जैसे हाथ में आई हुई चिड़िया उड़ गई हो। आते ही उसने बताया—''आपको मालूम है, शल्य अपनी संपूर्ण सेना के साथ आ गए हैं। उनके पास एक अक्षौहिणी सेना है।''

''यह तो अच्छा ही हुआ। अब हमारी सैन्य शक्ति और बढ़ जाएगी।''

''आपकी नहीं, कौरवों की कहिए।''

''यह कैसे हो सकता है? अरे, वह नकुल के सगे मामा हैं। पांडवों को छोड़कर उधर कैसे जा सकते हैं?''

''यह तो मैं नहीं कह सकता कि वे कैसे गए हैं, पर गए उधर ही हैं।'' छंदक बोला।

मुझे बड़ा क्रोध आया; क्योंकि यह मेरे विश्वास के परे था। मैं भुनभुनाया—''मैंने इतनी बार पांडवों से सतर्कता बरतने और शीघ्रता करने को कहा था; पर लगता है, वे लापरवाही कर गए।''

मैं सीधा युधिष्ठिर के पास पहुँचा। वहाँ कई लोगों के सामने ही मैं बड़बड़ाया—''मैंने आप लोगों से कहा था कि शीघ्रता कीजिए और अपने आलस्य से बाज आइए। जानते हैं, आप लोगों की सुस्ती से कितनी बड़ी हानि हुई है?''

सब भौंचक्के-से मुझे देखते रह गए।

मैंने कहा, ''शल्य की सेना कौरवों की ओर चली गई।''

''हाँ, इसमें मैं धोखा खा गया।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''पर ऐसा हमारी सुस्ती से नहीं हुआ। हम लोग उनके पास कौरवों से पहले पहुँचे भी थे; पर रास्ते में मार खा गए।''

इसका रहस्य खोलते हुए युधिष्ठिर बताते रहे—''उनकी सेना हमीं लोगों

की सहायतार्थ आ रही थी। कौरवों को मालूम हुआ। शल्य की दुर्बलता तो जगद्विदित है। आर्यावर्त्त में आज उनके जैसा विलासी कोई दूसरा राजा नहीं। कौरवों ने उनके जीवन के इसी कमजोर पक्ष को पकड़ा। उनके आगमन की सूचना मिलते ही उन लोगों ने अपने शिल्पियों को मार्ग में भेज दिया। विशाल स्वागत द्वार बनाए गए और खुलकर उनके प्रमदा-प्रमोद की व्यवस्था की गई। शल्य महाराज अब भी समझते थे कि यह सब पांडवों की ओर से किया जा रहा है। उन्होंने इस व्यवस्था के लिए बधाई देने के निमित्त मुझे बुलवाया भी। तब उन्हें प्रधान व्यवस्थापक से पता चला कि यह सारी व्यवस्था कौरवों की ओर से की गई है। और दुर्योधन वहाँ था भी। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए वह स्वयं पहुँच गया। शल्य ने शिष्टतावश कहा, 'मैं आपके प्रबंध और स्वागत से बहुत प्रसन्न हूँ। अब बताइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'

''तब दुर्योधन ने कहा, 'मैं आपकी सेवा नहीं, सहायता चाहता हूँ। आप हमारी सेना में अतिरथी का पद सँभालिए।' ऐसी स्थिति में शल्य ने असमंजस में पड़कर दुर्योधन का प्रस्ताव स्वीकार किया।''

मैंने सोचा, यह तो बहुत गलत हुआ। मन-ही-मन सोचने लगा कि दुर्योधन ने एक बाजी तो मार ली। अब क्या हो सकता है?

मैंने फिर युधिष्ठिर से पूछा, ''क्या आप शल्य से नहीं मिले?''

''मिला तो था, तभी न यह स्थिति उन्होंने बताई।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''अभी फिर नकुल और सहदेव उन्हें बुलाने गए हैं। बड़ी कृपा हो, यदि आप भी बैठें। शायद कोई रास्ता निकल आए।''

मैं चुपचाप वहाँ बैठ गया। सोचने लगा कि अब क्या किया जा सकता है। यद्यपि मेरी उसके प्रति धारणा अच्छी नहीं थी। यों तो वह पराक्रमी था, शक्तिशाली भी था; फिर भी उसमें आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रधान थीं। इसीका दुर्योधन ने लाभ उठाया। उसका सामाजिक सम्मान भी बहुत अधिक नहीं था। इसकी प्रतिक्रिया उसके व्यक्तित्व पर थी। इसीसे जब वह किसी बड़े द्वारा सम्मानित होता था तो उसीसे अभिभूत हो जाता था। उसका विवेक धूमिल हो जाता था। फिर भी मैं उसकी प्रतीक्षा में बैठ गया।

इतना होते हुए भी वह सारथि अच्छा था। उसके सारथ्य की पूरे आर्यावर्त्त में धाक थी। मैंने सोचा, क्यों नहीं उसके व्यक्तित्व की इसी विशेषता का लाभ उठाया जाए। थोड़ी देर में ही वह अपने सेना प्रमुख के साथ आया।

मैंने खड़े होकर बड़े नाटकीय ढंग से कहा, ''कौरव सेना के अतिरथी का

हम सादर अभिनंदन करते हैं।''

दूसरा कोई होता तो लज्जित हो जाता, पर उसने और अधिक सम्मानित अनुभव किया। उसने अपनी सारी विवशता और वचनबद्धता की कथा दुहराई।

गंभीरतापूर्वक सबकुछ सुन लेने के बाद मैंने उसके अहंकार को और अधिक सहलाते हुए कहा, ''तो क्या होगा? आप जैसे मामा के रहते पांडव हार जाएँगे?''

''तो बताइए, अब मैं क्या कर सकता हूँ?''

''आप बहुत कुछ कर सकते हैं। आपकी क्षमता और सामर्थ्य अपार है।''

''मैं बड़े असमंजस में हूँ।'' उसने कहा।

''असमंजस से मुक्त होइए।'' मैंने कहा, ''आप तो अपनी तरफ से पांडवों के पक्ष में ही चले थे। इनका ही भाग्य खराब था तो आप क्या करें!''

''अब आप ही कोई रास्ता निकालिए।'' उसने कहा।

अब मुझे मौका मिला। मैंने इधर-उधर देखा और कहा, ''रास्ता सबके सामने तो निकाला नहीं जा सकता।''

मेरे इतना कहते ही उसका सेना प्रमुख अपने साथियों के साथ उठकर बाहर चला गया। अब मैंने अपनी ओर से कुछ कहना उचित नहीं समझा। मैंने भीम की ओर संकेत करते हुए कहा, ''राजन्, मैं सारथि हूँ। रास्ता तो इन्हीं लोगों को निकालना है।''

अब भीम ने बड़ी चतुराई से कहा, ''आप युद्ध तो उन्हीं लोगों की ओर से करें, पर यह ध्यान देते हुए कि हम आपके भानजे हैं। मामा द्वारा भानजों का वध शास्त्र-वर्जित है।''

''और भानजे द्वारा मामा का वध?'' उसने मुसकराते हुए उलटे ही प्रश्न ठोंक दिया। उसका संकेत मेरे और कंस के संदर्भ में था।

''वह शास्त्र-वर्जित नहीं है।'' मैंने भी मुसकराते हुए कहा। सभी मेरी प्रत्युत्पन्नमति पर हँस पड़े।

उसने भीम को संबोधित करते हुए कहा, ''क्या तुम्हारा आग्रह मानना युद्धधर्म के विरुद्ध नहीं होगा?''

मैं मन-ही-मन हँसा कि सुरा और सुंदरी के फेर में अपना मार्ग बदल देने वाला भी धर्म की बात करता है। जी में आया कि कह दूँ कि हम लोग यहाँ भी वैसा ही शिविर लगा सकते हैं जैसा दुर्योधन ने मार्ग में लगाया था; पर इससे बात बढ़ जाती। इस समय मैंने उसकी नैतिकता को उतना ही निचोड़ा जितना

वह रस दे सकती थी।

मेरे मन में एक बात आई कि सबकुछ होने के बाद भी यह सारथि है बहुत अच्छा। मैंने उसकी इसी विशेषता को उभारा और कहा, ''आपके सारथ्य कर्म की आर्यावर्त्त में कोई तुलना नहीं।''

''अतुलनीय तो इस गुण में आप हैं।''

''आप मुझे अच्छा सारथि मानते हैं, यह मेरा सौभाग्य है।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''पर मैं आपकी इस योग्यता को मानता हूँ। कौरव आपके इस गुण का लाभ उठाना चाहेंगे। तब मेरा आग्रह यह है कि आप कर्ण का सारथ्य स्वीकार कीजिएगा।''

''इससे आपका क्या लाभ?''

''इसमें आपका भी लाभ है और हमारा भी।'' मैंने उसके पूछने पर अपने कथन का विस्तार कर्ण का संकल्प बताते हुए किया—''आपका लाभ यह है कि कर्ण तब तक युद्धक्षेत्र में नहीं आएगा जब तक पितामह भीष्म रहेंगे। इसलिए आपको युद्धक्षेत्र में आना ही नहीं पड़ेगा; क्योंकि पितामह का प्राणांत असंभव है।''

''क्यों? क्या पांडवों में कोई ऐसा नहीं, जो युद्धक्षेत्र में भीष्म को गिरा सके?''

''पांडवों में क्या, पूरी धरती पर ऐसा कोई नहीं है, जो युद्धक्षेत्र में पितामह को गिरा सके। उन्हें इच्छा मृत्यु का वरदान जो है। वह हमारी और आपकी इच्छा से नहीं, जब तक उनकी इच्छा नहीं होगी तब तक वे नहीं मरेंगे।''

शल्य को मेरी बात समझ में आई। वह सोचने लगा। फिर बोला, ''ठीक है, आपका यह आग्रह माना जा सकता है।''

तब मैंने कहा, ''इसीसे लगा एक पूरक आग्रह और भी है।''

''वह क्या?''

''इस स्थिति में कर्ण और अर्जुन का युद्ध अनिवार्य है। हमारी प्रार्थना है कि ऐसा होने पर आप अपने रथी को बराबर हतोत्साहित करते रहिएगा। इससे उसका मनोबल टूटेगा—और मनोबल का टूटना आधा पराजित हो जाना है।''

शल्य हँसा। बोला, ''यदि तुम इतना ही सहयोग चाहते हो तो मैं इसके लिए तैयार हूँ।''

□

पाँच
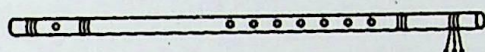
आज मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशी है। युद्ध के आरंभ का दिन।

कौरव और पांडव—दोनों ओर की तैयारी शिखर पर थी। दोनों दलों में विजय का विश्वास था। किंतु जब युधिष्ठिर ने भीष्म की व्यूह रचना देखी तब उनका विश्वास डगमगाने लगा। अर्जुन की मानसिकता पहले से गड़बड़ थी।

मैंने उससे कहा, ''ऐसी ही मानसिकता में राम ने रावण पर चढ़ाई करने के लिए आदित्य की अभ्यर्थना की थी। तुम भी दुर्गा की स्तुति करो।''

उसने प्रात:काल से ही दुर्गा की स्तुति आरंभ कर दी थी।

इधर संयोग कुछ ऐसा कि युधिष्ठिर से महर्षि नारद की मुलाकात हो गई। उनकी व्यग्रता ने महर्षि से युद्ध का भविष्य पूछा।

महर्षि ने कहा, ''हर युद्ध में विनाश ही होता है; पर इस युद्ध में महाविनाश होगा। युद्धभूमि शवों से पट जाएगी। विधवाओं के विलाप से आकाश का कलेजा फट जाएगा। इतिहास स्वयं को रक्त से लिखेगा; पर विजय तुम्हारी ही होगी।''

''महर्षि, हमारे पास न कौरवों जैसी सैन्य शक्ति है और न आयुध। फिर क्या है, जो हमें विजय दिलाएगा?''

''तुम्हारे पास धर्म है, सत्य है और श्रीकृष्ण हैं।'' महर्षि ने बड़े विश्वास से कहा, ''यतो कृष्ण: ततो जय:।''

अब उनकी दृष्टि में मेरी महत्ता और अधिक हो गई। उनकी आँखों पर भी मेरे देवत्व का पानी चढ़ा। उन्होंने पागलों-सा घूम-घूमकर अपने सेनानायकों से कहा, ''कुछ सुना आपने! महर्षि नारद ने ऐसा कहा है!''

अब क्या था। मुझे लोग और ही दृष्टि से देखने लगे। एक ऐसे व्यक्ति के सिर विजय का श्रेय मढ़ दिया गया, जिसने शस्त्र तक न उठाने की शपथ ली है। इससे मेरा दायित्व और बढ़ गया। अब यदि पांडव विजयी न हुए तो यह मेरी व्यक्तिगत असफलता मानी जाएगी।

मैंने स्वयं भगवान् से प्रार्थना की—"प्रभु, मेरी लाज रखो।"

नारद की भविष्यवाणी बिना पंख के अफवाह की तरह चारों ओर फैल गई। युद्ध के पहले ही कौरवों के उत्साह को धक्का लगा। सुना है कि पितामह ने दुर्योधन को बुलाकर कहा, "देखा, जो मैंने तुमसे एकांत में कभी कहा था, महर्षि ने सबके सामने उसकी पुष्टि की।"

दुर्योधन ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की और चुपचाप चला गया।

प्रातःकाल से ही कुरुक्षेत्र में कौरव और पांडवों की सेनाएँ सज्जित होने लगीं। दो घड़ी बीतते-बीतते दोनों ओर की सेनाएँ अपनी पूर्ण साज-सज्जा में एकत्र हो गईं। सबसे पहले पितामह भीष्म ने शंख फूँका। पांडवों की ओर से भी अपने-अपने शंख[१] बजाए गए। इसके साथ ही अनेक रणवाद्यों[२] की ध्वनि गूँज उठी। ऐसा कोलाहल हुआ जैसा हम लोगों ने कभी सुना नहीं था। अर्जुन तो एकदम विचलित हो गया। उसने कहा, "माधव, रथ को युद्धस्थल के बीच ले चलें।"

"क्यों? क्या बात है?" मैंने कहा, "ऐसा करने के लिए हमें अपने प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न से अनुमति लेनी होगी।"

फिर भी सेनाओं के मध्य में चलने के लिए उसने विवश कर दिया। मैं रथ को युद्ध के मध्य में ले आया और बड़ी तेजी से चारों ओर घुमाया।

रणक्षेत्र के एकदम मध्य में उसने रथ को रुकवाया और स्वयं उसपर से कूद पड़ा। धनुष की प्रत्यंचा खोल दी और बड़े विषाद में बोला, "यह सारा युद्ध किसलिए? इतना बड़ा नर-संहार किसलिए; जिसमें मेरे पितामह, मामा, चाचा, बंधु-बांधव सभी हों? इन्हें मारकर हमें क्या मिलेगा? और यदि राजसत्ता मिल भी गई तो क्या इन लोगों के शवों पर हम शासन करेंगे?"

ऐसा विषाद, वह भी महान् संग्राम के मुख में! एकदम उसके दाँतों के बीच! मेरे जीवन में ऐसी स्थिति तो कभी नहीं आई थी और न मैंने कभी इसकी कल्पना की थी; यद्यपि अर्जुन की मानसिकता का कल मुझे पूर्वाभास मिल गया था। मैं घबराया, यदि अर्जुन युद्ध से विमुख हुआ तब तो अनर्थ हो जाएगा। मैंने इसे अपनी चुनौती के रूप में स्वीकार किया। युद्धस्थल में ही मैं ध्यानावस्थित हुआ और मैंने योग से अपने असामान्य व्यक्तित्व को जगाया। फिर अर्जुन को सामान्य

---

१. कृष्ण का 'पांचजन्य', अर्जुन का 'देवदत्त', भीम का 'पौंड्र', युधिष्ठिर का 'अनंतविजय', नकुल का 'सुघोष' और सहदेव का 'मणिपुष्पक' नामक शंख थे। वे अलग-अलग ढंग से आवश्यकतानुसार बजाए जाते थे। उनकी समता आज की सेनाओं में बिगुल-वादन से की जा सकती है।

२. भेरी, पणव, आनक, मृदंग, दुंदुभी, मुरज, डिंडिम।

करने के लिए मैंने उसे सांख्ययोग, कर्मयोग और कर्मसंन्यासयोग की शिक्षा दी[१] तथा कहा, ''जिन्हें तू मारे जाने वाले समझता है, वे पहले से ही मरे हुए हैं। यदि ऐसा न होता तो यह स्थिति न आती। और मृत्यु तो जीवन का रूपांतर है। आगामी जीवन का द्वार है। न कोई किसीको मारता है और न मरता है। सब अपने कर्मों का फल भोगते हैं। तू भी अपने कर्मों का फल भोगेगा। ये भी भोगेंगे। तू चाहे कि इसे रोक ले, तो यह नहीं हो सकता।

''फिर मरनेवाला तो शरीर है, आत्मा कहाँ मरता है! वह तो सृष्टि के आदि से है और सृष्टि के अंत तक रहेगा। बीच-बीच में वह अपना शरीर रूपी वस्त्र उतारता रहता है और नया जीवन चलता रहता है। इसी क्रम में, अर्जुन, तू है और इसी क्रम में मैं हूँ। हम आज भी हैं, पहले भी थे और अनंत काल तक रहेंगे।''

मैंने उस समय अर्जुन से वे बातें कही थीं, जो युद्धस्थल में निराश, विषादयुक्त ऐसे व्यक्ति से कही जा सकती है, जो मृत्यु से भयभीत तो नहीं, पर उसे जीवन का अंत समझता था; जिसे उसके बाद केवल अंधकार ही दिखाई देता था। पर वह यह नहीं जानता था कि जो प्रकाश है वह सदैव रहेगा, केवल अंधकार नष्ट होता है। सूर्य बना रहता है, दिन-रात होते रहते हैं।

इसके बाद अर्जुन सामान्य हुआ। पर एक विचित्र बात यह है कि मैंने युद्धक्षेत्र में यह सब कहा कैसे—और कितने समय तक कहता रहा? फिर सोचता हूँ कि मेरा वह योग शरीर था, यह शरीर नहीं। आज मुझे पूर्णरूप से याद भी नहीं है कि उस समय मैंने क्या कहा था।

इस घटना के बहुत बाद अर्जुन ने फिर मुझसे कहा था—'केशव, युद्धक्षेत्र में आपने मुझे जो शिक्षा दी थी, उसे फिर सुनाइए।'

मैं असमर्थ था। मैंने अर्जुन से कहा, 'पार्थ, वह शिक्षक नहीं रहा। वह तो उसी समय तुम्हें शिक्षा देकर चला गया था।'

फिर उसका निवेदन था कि जो कुछ याद हो, वही सुनाइए।

मैंने बड़ी चेष्टा की, मस्तिष्क पर जोर दिया; पर वह सब याद नहीं आया। कुछ-कुछ याद आ रहा था—एक सुनी-सुनाई बात की तरह, एक भूले-बिसरे स्वप्न की तरह। जो याद आया, उस समय मैंने अर्जुन को सुनाया;[२] पर इससे वह

---

१. देखें, श्रीमद्भगवद्गीता।

२. उस समय कृष्ण ने अर्जुन को जो शिक्षा दी, वह आधी-अधूरी 'गीता' थी, जो 'अनुगीता' के नाम से प्रसिद्ध हुई। फिर मृत्यु के समय उन्होंने जो उद्धव को उपदेश दिया, वह 'उद्धवगीता' कहलाई। इस प्रकार 'गीता', 'अनुगीता' और 'उद्धवगीता' नाम के श्रीकृष्ण के तीन ग्रंथ उल्लेखित हैं।

संतुष्ट तो नहीं हुआ। किंतु इसके सिवा मेरे पास कोई चारा नहीं था।

अर्जुन के गांडीव उठाते ही फिर रणभेरी बज उठी। युद्ध के लिए लोग आगे बढ़ने ही वाले थे कि अचानक एक विचित्र घटना घटी। युधिष्ठिर अपने रथ से उतरकर कौरव सेना की ओर बढ़े। पहले तो लोगों ने उन्हें विस्मय से देखा। पर जब वह कौरव सेना में घुसते चले गए तब अन्य पांडवों ने भी रथ से उतरकर उनका पीछा किया। मैं भी उनके साथ हो लिया।

वे क्या करने और कहाँ जा रहे हैं, इसका किसीको पता नहीं। उनके द्वारा पूर्व सोचित यह घटना औरों के लिए नितांत अप्रत्याशित थी। सभी चकित थे। मुझे तो लगा, अभी मैं अर्जुन की जैसी मानसिकता से जूझ रहा था, कहीं वैसी स्थिति युधिष्ठिर की तो नहीं हुई; क्योंकि विषाद का बीज जमने के लिए युधिष्ठिर के मन की भूमि अधिक उर्वर थी। तब तो बड़ा कठिन हो जाएगा। अर्जुन का विषाद तो किसी प्रकार दूर हुआ; पर युधिष्ठिर का विषाद दूर करने की मुझमें शक्ति नहीं।

दिन काफी चढ़ आया था। सूर्य मध्य आकाश में चमकने लगा था। इस स्थिति को देखकर शत्रु पक्ष के अनेक लोग बढ़-चढ़कर बातें करने लगे।

''हमारी शक्ति देखकर पांडव भयभीत हो उठे हैं। उनमें केवल गरजने की शक्ति थी, बरसने के समय शरणागत हो गए।''

कुछ युद्ध के पहले ही जीत की खुशी में उन्मत्त हो नाचने लगे।

तब तक पितामह के पास पहुँचकर युधिष्ठिर ने उनके चरण छुए। आशीर्वाद लिया और फिर युद्ध करने की अनुमति माँगते हुए कहा, ''बड़ों के आशीर्वाद और अनुमति के बिना युद्ध करना हमारे लिए संभव नहीं था।''

युधिष्ठिर के इस व्यवहार पर शत्रुओं का सारा विस्मय द्रवित हो गया। पितामह परम गद्गद हो बोले, ''वत्स, इस स्थिति में भी जब सारे क्षेत्र में क्रोध, आक्रोश और शत्रुता का सिंधु आंदोलित है, तब भी तुममें अपने से बड़ों के प्रति महत्ता का ज्ञान है। यही ज्ञान तुम्हें विजय दिलाएगा। तुम्हारे विरुद्ध युद्ध करके भी मैं विजय तुम्हारी ही चाहूँगा।''

''पर हमारी विजय कैसे होगी, जब तक आप जीवित हैं?'' युधिष्ठिर का स्वर और भी विनीत हुआ—''इस धरती पर कोई भी योद्धा नहीं, जो आपको परास्त कर सके।''

''तुम कहते तो ठीक हो। संप्रति इंद्र भी मुझे मार नहीं सकता। मैं अपनी इच्छा मृत्यु मरूँगा।''

''फिर क्या होगा?''

''इसके लिए तुम फिर मिलना।''

इस प्रकार युधिष्ठिर कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और शल्य के पास भी गए। पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए अन्य पांडव भी। पांडवों की इस विनम्रता पर सभी प्रसन्न हुए। सबने उनकी विजय की कामना की। सबने अपनी विवशता एक ही ढंग से व्यक्त की कि 'मनुष्य अर्थ का दास है, पर अर्थ किसीका दास नहीं। उसी अर्थ का दासत्व तुमसे युद्ध करा रहा है। पर विश्वास करो, युधिष्ठिर, विजय तुम्हारी ही होगी।'

''आपके जीवित रहते यह संभव नहीं लगता।'' द्रोणाचार्य से धर्मराज ने कहा।

तब द्रोणाचार्य अत्यंत गंभीर हो गए। बहुत सोचते हुए उन्होंने कहा, ''जब किसी विश्वासपात्र के मुख से अत्यंत अप्रिय बात मुझे सुनाई देगी, तब मैं शस्त्र त्याग दूँगा और संग्राम से विमुख हो जाऊँगा। उस समय कोई भी मुझे मार सकता है।''

इन लोगों के प्रति बनी मेरी धारणा लगभग चूर्ण हो गई। अभी तक मैंने इनकी नीचता देखी थी। आज इनकी ऊँचाई देख रहा था। इनकी महानता इनकी मृत्यु का उपाय भी बता सकती है। मुझे क्या, किसीको भी ऐसा विश्वास नहीं था।

अब मेरी दृष्टि युद्ध से दूर खड़े कर्ण की ओर पड़ी। अतिरथी न बनाए जाने पर वह अपना घोर असंतोष व्यक्त कर चुका था। मैंने सोचा कि उसकी बदली हुई मानसिकता से कुछ लाभ उठाया जा सकता है। जब पांडव शल्य और कृपाचार्य के चरण छूने जा रहे थे तब मैं युद्ध से बाहर खड़े कर्ण से मिलने चला।

वह मन मारे अपने रथ पर बैठा था। जानते हुए भी मैंने उससे पूछा, ''आप यहाँ क्यों हैं?''

उसकी आँखें क्रोध से और लाल हो गईं। मुझे लगा कि वह कहेगा कि इससे तुमसे मतलब। पर पता नहीं क्या समझकर उसने सीधा-सीधा उत्तर दिया— ''जब तक भीष्म सेनापति रहेंगे, मैं युद्धस्थल में नहीं जाऊँगा। चुपचाप ऐसे ही तमाशा देखता रहूँगा और भीष्म के मरने की प्रतीक्षा करूँगा।''

''पितामह की मृत्यु! यह तो असंभव लगती है।'' मैंने कहा।

''तो मैं युद्ध नहीं करूँगा।'' इसके बाद उसने यह भी बताया कि उसने ऐसा निर्णय क्यों लिया है।

''आप जैसे योद्धा को अतिरथी न बनाकर अर्धरथी बनाया गया। यह तो सरासर अन्याय है।''

"अन्याय क्यों है? सूतपुत्र को इससे अधिक और क्या बनाया जा सकता है!" उसने जैसे मुझपर व्यंग्य किया।

मैंने कहा, "युद्ध में भी कहीं जाति देखी जाती है!"

"जब जीवन भर जाति देखी गई तब युद्ध जीवन से अलग थोड़े ही है!" कर्ण थोड़ा आवेश में आया—"इसे तो मेरी तथाकथित माँ को देखना चाहिए।"

"वह अवश्य दुःखी हो रही होंगी; पर इससे अधिक वे कर क्या सकती हैं?" मैंने कहा।

"चुल्लू भर पानी में डूबकर मर सकती हैं।"

मैं चुप हो गया। उसके आवेग के क्षणों को मैंने अपने मौन के धरातल पर गुजर जाने दिया। फिर बोला, "जिस महायुद्ध में सारा आर्यावर्त्त सम्मिलित हो, उससे आप अलग रहें, लोग क्या कहेंगे!"

"लोग 'महारणछोड़' कहेंगे।" यह व्यंग्य मुझपर ही था।

मैं हँस पड़ा। पर वह गंभीर ही रहा।

"मैं आपको युद्ध के लिए आमंत्रित करने आया हूँ।" उसकी त्योरियाँ चढ़ें, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—"इसका मतलब यह नहीं है कि मैं पांडवों की ओर से आया हूँ। मुझे लगता है, युद्ध को आपकी आवश्यकता है। ये सारे रणवाद्य आपका आह्वान कर रहे हैं। उबलता हुआ रक्त क्या ऐसा ही बैठा रह जाएगा? आप युद्ध में चलिए। जब तक भीष्म रहते हैं तब तक आप पांडवों की ओर से अपना कौशल दिखाइए। हो सकता है, वे आपका कौशल देखकर स्वयं रण से अलग हो जाएँ, या दुर्योधन उन्हें अलग कर दे।"

मेरी बात पूरी होने के पहले ही कर्ण बोल पड़ा—"यदि दुर्योधन को उन्हें अलग करना ही होता तो उन्हें बुलाया ही न होता।"

"तब उनके धराशायी होने के बाद आप कौरव पक्ष में चले जाइएगा।" मैंने कहा।

"देखो कृष्ण, मैंने तुमसे पहले भी कहा है, अब भी कह रहा हूँ और बार-बार कहता रहूँगा कि कर्ण सबकुछ हो सकता है, पर कृतघ्न नहीं हो सकता। वह कभी भी अपना पक्ष नहीं बदलता। जिसका हो लिया, जीवन भर के लिए हो लिया।"

जब मैंने युधिष्ठिर को लौटते देखा तो कर्ण का अभिवादन कर मैं भी लौट पड़ा।

मध्याह्न ढलने की ओर था। दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए अधीर हो

चली थीं। उनका सोचना था कि यदि इस प्रकार बातें ही करनी थीं तो हमें सवेरे से खड़ा क्यों किया गया। यहाँ तक कि घोड़ों की हिनहिनाहट और हाथियों की चिंघाड़ से लग रहा था कि वे भी आगे बढ़ने को व्याकुल हैं।

इस स्थिति में युधिष्ठिर ने अपने रथ पर खड़े होकर एक अत्यंत संक्षिप्त और भावपूर्ण भाषण दिया—और अंत में कहा—''जो वीर अब भी समझते हों कि उनका पक्ष अन्याय का है, अधर्म का है, वे मेरी ओर आ सकते हैं। उनका ससम्मान स्वागत होगा।''

इस भाषण का प्रभाव यह पड़ा कि युयुत्सु कौरव पक्ष छोड़कर पांडव पक्ष की ओर आ गया। इसकी प्रतिक्रिया कौरवों में बड़ी आक्रोशपूर्ण हुई। गोजर की एक ही टाँग टूटी थी, पर वह तिलमिलाया अधिक।

□

युद्ध का पहला दिन पांडवों के पक्ष में नहीं था। मत्स्यराज विराट के दो पुत्र—उत्तर और श्वेत धराशायी हुए; यद्यपि उन्होंने भीषण युद्ध किया था। आज के संग्राम पर उनके पराक्रम की छाया स्पष्ट दिखी। एक विशेषता और थी। जहाँ पितामह, कुंतिभोज एवं बृहत्क्षत्र जैसे वृद्ध और बुजुर्ग लोग थे वहीं उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी अभिमन्यु, श्वेत और उत्तर के रूप में थी। किसीने किसीका लिहाज नहीं किया। हर व्यक्ति आर-पार की लड़ाई लड़ रहा था। युद्ध की मानसिकता 'अभी नहीं तो कभी नहीं' की मुद्रा में थी।

विराट के दोनों पुत्रों के मारे जाने की प्रतिक्रिया कौरव और पांडवों के शिविरों में एक-दूसरे के विपरीत थी। कौरव दल जहाँ प्रसन्न था वहीं विस्मय से भरा हुआ भी। उनको यह विश्वास नहीं था कि ये किशोर बड़े-बड़ों के दाँत खट्टे कर देंगे। पांडव शिविर के शोक की लहर अपने लाडलों की वीरता और शौर्य के गौरव को लगभग बहा ले गई थी। वे गंभीर रूप से दु:खी दिखाई दे रहे थे।

सबसे अधिक दु:खी और निराश युधिष्ठिर थे। उन्होंने मुझे देखते ही कहा, ''देखा द्वारकाधीश, आज किस तरह पितामह ने हमारी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया! उनका धनुष आग बरसा रहा था, आग। मुझे तो लगता है कि उन्हें परास्त करनेवाला इस धरती पर कोई नहीं है। मैं तो अब भी समझता हूँ कि हमें पराजय स्वीकार कर लेनी चाहिए। इस भीषण नर-संहार से तो उत्तम है, वन में शांतिपूर्वक तपस्या करना।''

''बस, आप इतने से ही घबरा गए!'' मैंने उन्हें समझाया—''शत्रुओं में प्रसन्नता अवश्य है; पर वे आपके किशोरों के पराक्रम से स्तब्ध हैं। उनकी प्रसन्नता

के पीछे निराशा है। आपके शोक के पीछे उत्साह होना चाहिए। अभी तो कौरवों ने हमारे लाडलों के शौर्य को देखा है। अभी हमारे मूर्द्धन्य वीरों का हाथ देखा ही नहीं। धृष्टद्युम्न, द्रुपद, विराट, सात्यकि, अर्जुन, भीम आदि के सामने क्या वे टिक सकेंगे? और पितामह की मृत्यु तो आपके पास ही है।''

''तुम्हारी बात समझ में नहीं आई, कृष्ण!''

''क्या शिखंडी आपके पास नहीं है? वही तो पितामह की मृत्यु का कारण बनेगा।'' मैंने कहा, ''फिर आज तो आगामी युद्ध की पुस्तक की भूमिका प्रस्तुत की गई है। हो सकता है, भूमिका से पुस्तक अधिक गंभीर हो।''

अब धर्मराज कुछ-कुछ उत्साहित हुए। सूखता वृक्ष कुछ-कुछ हरा होता दिखाई दिया। उन्होंने मुसकराते हुए कहा, ''आपने हमारे वीरों की गणना की है; पर उसमें मेरा नाम ही नहीं लिया।''

उनकी मुसकराहट ने अब मेरे अधरों का भी स्पर्श किया। मैंने कहा, ''आपका नाम मैं क्या लेता! आप तो आप ही हैं, आपसे कहूँ क्या!''

इसके बाद उन्होंने धृष्टद्युम्न को बुलाया और उससे निस्संकोच कहा, ''लोगों का विचार है कि कौरव सेनापति से हमारा सेनापति थोड़ा दब रहा है।''

''आज तो मैंने केवल प्रतिपक्ष की शक्ति का अनुमान लगाया है। कल देखिएगा, मैं क्रौंच व्यूह की रचना करूँगा। उसके शीर्ष बिंदु पर पिताजी रहेंगे और उनके साथ अर्जुन भी।''

कल की व्यूह रचना तय हो गई। पर आज के युद्ध की एक और विशेषता थी। अभिमन्यु ने दुर्मुख के सारथि और श्वेत ने भीष्म के सारथि को मार डाला। पहले ही दिन युद्ध के बनाए गए नियमों का उल्लंघन हुआ। उन नियमों के अनुसार सारथि को मारने की वर्जना थी।

□

दूसरे दिन का युद्ध पहले दिन के युद्ध से भी भयानक था। क्रौंच व्यूह को देखकर भीष्म ने तीखे प्रहार किए और सारी व्यूह रचना छिन्न-भिन्न कर डाली। इसपर अर्जुन बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसके आक्रोश की संघर्षशीलता अद्‌भुत दिखी। वह भीष्म के सामने पहुँचना चाहता था; पर काफी दूर था। बीच में ऐसा सैनिक समूह था, जिसे पार करना कठिन था। भीष्म के बाणों ने अर्जुन को बेतरह बींध दिया। तब तक सात्यकि, विराट, धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक एवं श्रुतसेन पहुँच गए और उन्होंने अर्जुन को सुरक्षा में ले लिया। अब अर्जुन दूने उत्साह में था। उसने द्रोण पर भी भीषण प्रहार किए। कौरवों में

त्राहि-त्राहि मच गई। द्रोण ने क्रुद्ध होकर धृष्टद्युम्न के सारथि को गिरा दिया। धोबी को न मार पाने पर उसके गदहे को ही मार डाला गया।

दूसरी ओर भीम ने कलिंगराज के पुत्र शक्रदेव सहित उसके सारथि को गिरा दिया। कलिंग सेना बिखर गई। उसकी सहायता में दुर्योधन ने भानुमान् को भेजा। भीम ने उसे भी पार लगा दिया। इसके बाद केतुमान् मारा गया। कलिंग सेना को ऐसा विश्वास हो गया कि यह भीम नहीं, साक्षात् काल है।

इधर कोई ऐसा बड़ा योद्धा नहीं, जो अर्जुन से न भिड़ा हो—और अर्जुन ने सभी को पीछे ढकेल दिया। विचित्र स्थिति थी। कभी अर्जुन इस छोर पर दिखाई देता तो पलक झपकते ही उस छोर पर। एक सैनिक ने बाद में बताया कि पितामह कह रहे थे कि 'श्रीकृष्ण के सारथ्य कौशल से अर्जुन का पराक्रम कई गुना हो गया है। उसे परास्त करना कठिन ही नहीं, असंभव जान पड़ता है।'

इस प्रकार दूसरे दिन का युद्ध पांडवों के पक्ष में था। उनके कल के विषाद को आज के उल्लास और उत्साह ने धो डाला था। यद्यपि आज घायलों की संख्या कल से दूनी थी। दोनों पक्षों का ऐसा कोई योद्धा नहीं, जो घायल न हुआ हो। सूर्य डूबते ही हर शिविर में उपचार की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। मैं युधिष्ठिर को गुदगुदाने की नीयत से उनके शिविर में पहुँचा। वे प्रसन्न दिखाई दिए। पहुँचते ही बड़े सम्मान के साथ उन्होंने मेरा स्वागत किया।

मैंने हँसते हुए उनसे पूछा, "आप संन्यास के लिए कब जा रहे हैं?"

"जब तुम जाने दोगे।" उन्होंने मुसकराते हुए ही उत्तर दिया।

मैंने संकेत में ही कहा कि वह वृक्ष ही खड़ा रहता है, जो हताशा की झंझा में झुकना जानता हो।

वहीं द्रौपदी भी थी। वह अपने पतियों की सेवा में लगी थी। उससे पता चला कि भीम को आज काफी चोटें आई हैं।

"घायल तो अर्जुन भी हुआ।" मैंने कहा।

"वह तो आपकी छत्रच्छाया में हैं। उनकी मुझे कोई चिंता नहीं।"

उसी समय पता चला कि दुर्योधन ने पितामह के शिविर में जाकर उन्हें खूब भला-बुरा कहा है। उसकी जबान का घोड़ा जब बेलगाम होता था तब वह किसीको कुछ भी कह सकता था। इस समय भी उसने पितामह से कहा, 'मुझे अचरज है कि आप लोगों तथा आचार्यों के जीवित रहते पांडव हमारे व्यूह में घुस आते हैं और हमारी सेना तितर-बितर हो जाती है। कहीं ऐसा तो नहीं कि आप लोगों को पांडवों को दिया हुआ आशीर्वाद याद आता हो और आपका पराक्रम

अपना सही रूप न दिखा पाता हो!'

सुना है, इसी क्रम में उसने एक लगती बात कही—'हमारा सबसे बड़ा संकट यह है कि जब तक आप रणक्षेत्र में रहेंगे, कर्ण यहाँ पैर नहीं रखेगा। आज यदि कर्ण होता तो युद्ध का रूप कुछ और होता।'

गुप्तचर के कथनानुसार—उस समय पितामह अत्यधिक गंभीर हो गए थे। वे उसी गंभीरता में बोले, 'मैंने तो तुमसे कहा था कि युद्ध में पांडवों को मैं क्या, साक्षात् इंद्र भी नहीं जीत सकता। इसके बाद भी तुमने उनसे युद्ध मोल लिया। फिर भी घबराओ मत, देखो, कल मैं क्या करता हूँ!'

हम लोग समझ गए कि कल का युद्ध भयानक होगा।

□

तीसरे दिन प्रात: से ही कौरवों की सेना युद्धस्थल पर जमने लगी। आज पितामह ने गरुड़ व्यूह की रचना की थी और उसकी चोंच की जगह स्वयं खड़े हुए। जब अर्जुन ने देखा तो तुरंत अर्धचंद्राकार व्यूह की रचना की। उसने ऐसी योजना बनाई कि भीष्म के आगे बढ़ते ही उन्हें तीन ओर से घेर लिया जाए। अर्जुन ने दक्षिण शिखर की ओर भीम को रखा और उसके पीछे विराट एवं द्रुपद को तथा वाम शिखर की ओर स्वयं खड़ा हुआ।

युद्ध आरंभ हुआ। भीष्म पितामह का अद्‌भुत पराक्रम दिखा। वे तीर की तरह पांडवों के व्यूह में घुसे। उस गरुड़ व्यूह की दाहिनी आँख की जगह द्रोण और बाईं आँख की जगह कृतवर्मा था। दोनों ओर से वे दोनों उनकी रक्षा के लिए आ गए। बाणों की वर्षा होने लगी। पांडव व्यूह छिन्न-भिन्न हो गया। सैनिक भागने लगे। मैं अर्जुन को सीधा भीष्म के सामने ले गया। अब अर्जुन के प्रहार में तेजी आई; पर वह भी भीष्म को रोक नहीं पाया। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि कई बाण मेरे भी तन में बिंध गए। मैंने कवच धारण नहीं किया था। एक सारथि के लिए कवच आवश्यक भी नहीं था। स्वयं को इस परिस्थिति में देखकर और भीष्म के आक्रमण की तेजी ने मुझे विचलित कर दिया। मैं स्वयं चक्र लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़ा।

अब अर्जुन ने दौड़कर मुझे पकड़ा—''अरे, आप यह क्या कर रहे हैं? आपने स्वयं अस्त्र न उठाने का संकल्प लिया था।''

मुझे धक्का-सा लगा। मेरी चेतना लौटी। पर मैं अब भी आवेश में था। मैंने अर्जुन से डाँटते हुए कहा, ''इसी बल पर तुम भीष्म से युद्ध करने चले हो!''

''नहीं, प्रभु, आप बैठिए। अब देखिए, क्या होता है!''

मैं चुपचाप रथ पर बैठ गया। अब तो अर्जुन आग हो गया। उसने ऐसे आग्नेयास्त्र मारे कि पूरी कौरव सेना झुलसने लगी। पांडवों की भागती सेना में जान आई। उसने तीन बार भीष्म के धनुष की डोर काट दी। वे प्रत्यंचा चढ़ाने नहीं पाते थे कि बाण लग जाता था। आक्रमण की इस क्षिप्रता की पितामह ने भी सराहना की।

अब युद्ध का पासा पलटा। उधर भीम भी चोट खाकर फुत्कार पड़ा। उसने धृतराष्ट्र के जलसंध एवं सुषेण आदि दस पुत्रों को मार डाला। धृष्टद्युम्न ने सांयमनिपुत्र का भी वध कर दिया। उधर भीष्म ने ललकारा। कौरवों ने भीम को घेरना चाहा; पर काल से खेलने का किसीमें साहस नहीं था। इस प्रकार सूर्यास्त के पहले ही कौरव सेना भाग खड़ी हुई।

भीष्म ने तत्काल युद्ध की समाप्ति की घोषणा की।

दोनों ओर के अनेक वीर खेत रहे। आज कौरवों में गंभीर हताशा थी। मरहम-पट्टी के बाद कौरव पक्ष भीष्म के शिविर में एकत्र हुआ। सुना है, उन्होंने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की। कहा, 'मैंने कृष्ण जैसा सारथि नहीं देखा। वह इतने कौशल के साथ रथ घुमा देते कि मेरा घातक-से-घातक प्रहार खाली चला जाता।'

लोगों ने इसके लिए मुझे बधाई भी दी।

आज दो विचित्र बातें देखने में आईं। एक तो वे लोग अधिक मारे गए, जो भाग रहे थे। दूसरे शल्य से उनके सगे भानजे—नकुल और सहदेव का सामना हुआ। यह उनकी पहली टक्कर थी और बड़ी संघर्षपूर्ण थी।

□

आज भी पांडवों का पलड़ा भारी रहा। सूर्यास्त होते-होते कौरव सेना बिखर चुकी थी। उनके शिविर रात के सन्नाटे में सिसकियाँ भर रहे थे। कौरवों में ऐसी निराशा कभी देखी नहीं गई थी। मैं आज उधर जा नहीं सका। पांडवों की देखभाल में ही लगा रहा। द्रौपदी स्वयं अपने हाथों से पांडवों के घावों पर उष्ण जल का सेंक करती और ओषधि लगाती। इतना सब होते हुए भी पांडव प्रसन्न थे और द्रौपदी उनसे भी अधिक प्रसन्न थी।

मैंने उससे कहा, "तुम बड़ी प्रसन्न दिखाई दे रही हो?"

"तो आप क्या चाहते हैं कि मैं रोऊँ!" उसने हँसते हुए कहा।

"तुम क्यों रोओ, रोएँ तुम्हारे शत्रु।" मैंने कहा, "मैं तुम्हारी प्रसन्नता भी चाहता हूँ, पर अतिशय नहीं। पता नहीं क्यों, प्रसन्नता की अतिशयता मुझे आतंकित करती है।"

"पर मैं समझती हूँ कि प्रसन्नता की अतिशयता मेरे पतियों में उत्साह भरती है।" वह बड़े उन्माद में बोली, "आप जानते नहीं हैं, आज भीमसेन ने दुर्योधन के कितने भाइयों का वध कर दिया!"

उसका पागलपन यह न सोच पाया कि दिन भर तो मैं युद्धक्षेत्र में ही था। सबकुछ मेरे सामने ही हुआ।

"पर दुर्योधन के भाइयों के वध मात्र से युद्ध नहीं जीता जा सकता।" मैंने कहा।

"युद्ध भले ही न जीता जा सके, पर मेरी प्रतिज्ञा तो पूरी होगी।" वह मुसकराते हुए बोली।

अब मैंने देखा कि नारी की प्रतिहिंसा किस सीमा तक जा सकती है और प्रतिशोध हिंसा की किस गहरी छाया में आश्रय लेता है।

शायद इसीलिए वह अपने अन्य पतियों की अपेक्षा भीम की सेवा पर अधिक ध्यान दे रही थी। मैंने सोचा, मैं इसकी इस प्रवृत्ति को रेखांकित क्यों न करूँ! मैंने कहा, "तुम भीमसेन की सेवा अधिक मनोयोग से कर रही हो।"

उसने तुरंत कहा, "क्यों, संकट के समय यही तो काम आते हैं। इन्होंने ही कीचक वध के समय मेरे उस सतीत्व की रक्षा की थी, जिसपर पाँचों भाइयों का अधिकार था। इसके अतिरिक्त अनेक अवसर तो आपके सामने के हैं।" फिर अचानक उसके मुख से निकला—"जिसको जितना मानना चाहिए उसे उतना मानती हूँ।" वह कहने को कह तो गई, पर उसे लगा कि वह आवश्यकता से कुछ अधिक बोल गई। उसने तुरंत स्वयं को सँभाला—"किंतु माधव, तुम उस नारी की विवशता की कल्पना नहीं कर सकते, जिसने अपने को पाँच भागों में विभाजित किया हो।"

द्रौपदी की वाग्मिता के समक्ष मैं अनेक बार चुप रह गया हूँ और आज भी चुप रह गया।

अचानक यह समाचार मिला कि घायल अवस्था में ही कुछ लोगों का सहारा लेते हुए बड़े क्रोध में दुर्योधन पितामह के शिविर में आज फिर गया है। उसका आक्रोश कुछ भी कर सकता है। आशंका व्यक्त की गई कि हो सकता है, वह पितामह को सेनापति के पद से हटा दे और कल से कर्ण सेनापति हो जाए।

अब मेरी खोज होने लगी। मैं तो भीम के शिविर में द्रौपदी की बातों का आनंद ले रहा था। सैनिकों ने तुरंत खोजकर युधिष्ठिर के खेमे में बुलाए जाने की सूचना दी।

मेरे पहुँचते ही धर्मराज ने कहा, ''कुछ सुना आपने! कल से कर्ण कौरवों का सेनापति होने वाला है। जो सूतपुत्र हमसे शस्त्र प्रतियोगिता के लिए भी अयोग्य ठहरा दिया गया था, उसे क्या क्षत्रिय अपना सिरमौर स्वीकार कर लेंगे?''

''मुझे तो नहीं लगता कि दुर्योधन इस स्थिति में पितामह को छोड़ेगा।'' मैंने कहा, ''फिर तो ऐसी हताशा छा जाएगी, जिससे कौरव सेना शायद ही उबर सके। फिर भीष्म के पराक्रम से कर्ण की कोई तुलना नहीं। हाँ, इससे अवश्य हो सकता है कि भीष्म को कुछ ग्लानि हो और वह स्वयं युद्ध से अलग हो जाएँ; पर मुझे तो यह भी नहीं लगता। चलिए, परमात्मा जो करेगा, वह ठीक ही करेगा।''

इसके बाद पांडवों की ओर से भीष्म के शिविर के चारों ओर घेरा-सा डाल दिया गया।

हम सभी प्रतीक्षा में थे कि धृष्टद्युम्न भी आ गया। उसे भी धर्मराज ने बुलाया था। उसका भी विश्वास था कि कौरव सेना में कोई परिवर्तन होने नहीं जा रहा है। केवल इतना ही होगा कि कल कौरवों का आक्रमण और भी तीखा हो जाएगा।

थोड़ी देर बाद ही गुप्तचरों ने हमें सूचना दी—''आज के युद्ध से दुर्योधन बड़ा निराश है। वह पितामह से यही कहने आया था। उसका कहना था—'जिस सेना में आचार्य द्रोण, कृप, कृतवर्मा, भूरिश्रवा, विकर्ण, भगदत्त जैसे वीर हों तथा जिसका नेतृत्व आप जैसे लोग करें, वह शत्रु का सामना न कर पाए, यह हमारा दुर्भाग्य भी है और लोगों को आश्चर्य भी।' ''

''तब पितामह ने क्या कहा?''

''पितामह ने कहा, 'वत्स, मैं तो पहले ही कह रहा था कि अपनी जिद मत करो। मान जाओ और पांडवों से संधि कर लो। आखिर वे तुम्हारे भाई ही हैं, कोई शत्रु तो नहीं। उनसे संधि करके तुम गौरवान्वित भी होते और लाभान्वित भी। किंतु तुमने मेरी बात नहीं मानी। मेरी तो छोड़ो, न अपने पिता की बात मानी, न चाचा की और न माता की। अब जो किया है, उसका फल भोगो।' ''

गुप्तचरों का कहना था—''इतना सुनते ही दुर्योधन आवेश में आ गया। वह उठ खड़ा हुआ; पर शीघ्र ही उसने स्वयं पर नियंत्रण किया। पूछा, 'अब भोगना ही शेष रह गया है या और कुछ भी?'

'' 'तुम अब भी संधि कर सकते हो। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है।' पितामह ने कहा।

'' 'यदि मैं संधि करना चाहता तो अब तक कर चुका होता। इस विषय में

किसीकी सलाह की हमें आवश्यकता नहीं है।' इसके बाद वह उठकर चलने लगा और जाते-जाते बोला, 'दुर्योधन टूट सकता है, पर झुक नहीं सकता।' ''

''चलिए, यह स्थिति भी हमारे पक्ष में जाएगी।'' धर्मराज का विचार था।

''पर हमें जरा भी ढिलाई नहीं बरतनी चाहिए। मैं भी धृष्टद्युम्न के पक्ष का हूँ कि 'कल का युद्ध भयानक होगा'।''

□

पाँचवें दिन भी पांडव आक्रामक रहे। मैंने अर्जुन से कहा, ''तुम सीधे पितामह पर टूट पड़ो और वार पर वार करते जाओ, जिससे वे रणक्षेत्र में किसी ओर जा नहीं पाएँ। औरों से लड़ने के लिए सात्यकि और भीम आदि काफी हैं।''

यही हुआ। आज अर्जुन के आक्रमण से पितामह विचलित हो गए। वे अर्जुन के सामने से हट गए; क्योंकि उनके साथ जितनी सेना थी, वह गाजर-मूली की तरह काटी जा रही थी। उनकी सारी व्यूह रचना चरमरा गई थी। कौरव सेना का धैर्य टूटने लगा। तब भूरिश्रवा सात्यकि पर लपका। उधर दुर्योधन द्रोण के पास आया और उन्हें भला-बुरा कहने लगा।

उन्हें भी क्रोध आ गया। बोले, ''बेकार बकवाद मत करो। मुझे उलाहना देना छोड़कर अपने धनुष का पराक्रम दिखाओ। अब तो तुम्हें मालूम ही हो गया होगा कि पांडवों से लड़ाई लेना कोई हँसी-खेल नहीं है। तुम मेरी ओर से निश्चिंत रहो। मैं कोई भी कसर उठा नहीं रखूँगा।''

आज के युद्ध की मुख्य बात यह थी कि सात्यकि के दसों बेटे मारे गए।

संध्या को युद्ध समाप्त होते ही मैं सात्यकि के शिविर में आया। वहाँ द्रौपदी पहले से ही मौजूद थी। मुझे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सात्यकि जरा भी दुःखी नहीं था। मेरी जैसी कल्पना थी, वह उससे भिन्न दिखाई दिया। उसने बड़े उत्साह से मेरा स्वागत किया; जैसे कुछ हुआ ही न हो।

द्रौपदी भी चकित थी। सहानुभूति भरे स्वर में बोली, ''हम सबको दुःख है कि आज का युद्ध व्यक्तिगत रूप से आपके पक्ष में नहीं रहा।''

''इससे अधिक और मेरे पक्ष में क्या हो सकता है कि आज मेरे सभी बेटे परम पराक्रम दिखाते हुए वीरगति को प्राप्त हुए! उन्होंने अपने जीवन को ऐसा सार्थक किया, जिस सार्थकता तक मैं अभी पहुँच नहीं पाया।''

स्पष्ट लगा कि सात्यकि के मन की असामान्य गति है। ऐसा बहुधा अत्यंत आत्मीय की मृत्यु के समय होता है। ऐसी स्थिति में सांत्वना भी तो नहीं दी जा सकती। आँसू तो उसके पोंछे जाते हैं जिसकी आँखों में आँसू हों; पर जहाँ आँसू ही

नहीं हैं वहाँ पोंछना क्या!

"मैं समझ रहा हूँ, माधव, आप मुझे देखकर चकित हैं। पर आप विश्वास करें, मैं बिलकुल सामान्य हूँ। उस समय मैं आपकी बगल में ही था, जब आप अर्जुन को उपदेश दे रहे थे कि 'न कोई मरा है और न कोई मरेगा।' मरनेवाला तो शरीर है। वह नष्ट हुआ। पर आत्मा तो रहेगा ही, भले वह मेरे बेटों के रूप में न रहे।"

भूले हुए स्वप्न की तरह जो मुझे नहीं याद था, वह औरों को याद है। मुझे इसपर आश्चर्य भी हुआ और ग्लानि भी। मैं कुछ कह नहीं पाया। काफी देर तक हम वहाँ बैठे रहे।

□

दिन पर दिन युद्ध की भयानकता बढ़ती ही जा रही थी। मनुष्य भय की अंतिम सीमा पर परम निर्भय हो जाता है। छठवें दिन के युद्ध में यह बात साफ दिखाई दी। कौरवों को लगा कि अब मर-मिटने के सिवा और कोई चारा नहीं है। इसलिए उन्होंने युद्ध के वे सारे नियम तोड़े, जिन्हें उन्हींने बनाए थे। कहीं भी युद्ध की नैतिकता नहीं रही।

आज प्रातः से ही पांडवों ने तैयारी आरंभ की। उनकी ओर से सेना का मकर व्यूह रचा गया था। इसका सामना करने के लिए कौरवों ने अपनी सेना क्रौंच व्यूह में खड़ी की थी। दोनों की ये व्यूह रचनाएँ अपने अतिरथी, रथी और अर्धरथियों को सुरक्षित रखने की नीयत से की गई थीं।

पर जब युद्ध शुरू हुआ, किसीने उसकी मर्यादा का खयाल नहीं रखा। एक ओर आचार्य द्रोण व्यूह-मर्दन करते आगे बढ़े; जैसे रुई के ढेर में सुई बढ़ती चली जा रही हो और दूसरी ओर से भीम ने ठीक उसी गति से आगे बढ़ने का दुस्साहस किया। केले के पत्ते की तरह शत्रुसेना को चीरते उस उन्मत्त हाथी का सूँड़ पकड़ने की किसी धृतराष्ट्रपुत्र में हिम्मत नहीं थी। वे जानते थे कि हममें से प्रत्येक का प्राण लेने के लिए भीम वचनबद्ध है। इससे अधिकांश धृतराष्ट्रपुत्र उसके सामने नहीं आते थे—और कभी सामना हो भी जाता था तो वे हट जाते थे।

इससे रथ से युद्ध करने में भीम को कठिनाई हो रही थी। उसने अपने सारथि विशोक को तुरंत आदेश दिया कि एक किनारे करके रथ रोक दो—और खुद सैनिकों के उस उद्वेलित महासिंधु में कूद पड़ा।

कौरव सेना में हाहाकार मच गया। भीम चक्र की तरह गदा घुमाते हुए आगे बढ़ा। हाथी, घोड़े, रथ—जो भी मार्ग में आया, चूर हुआ।

मुझे यह देखकर बड़ी चिंता हुई। मुझे लगा, भीम अपने इस दुस्साहस से संकटग्रस्त हो सकता है। थोड़ा और आगे बढ़ने पर वह कौरवों से घेर लिया जाएगा। मैंने चारों ओर देखा, कहीं धृष्टद्युम्न दिखाई नहीं दिया। फिर अचानक उसके उत्तर की ओर होने का आभास लगा। मैंने तुरंत उसे वस्तुस्थिति बताई।

उसने आगे बढ़कर भीम के घुसने की दिशा पूछी और उस ओर बढ़ चला; पर भीम द्वारा मारे गए सैनिकों, हाथी-घोड़ों और टूटे रथों के बीच कहीं वह दिखाई नहीं दिया। धृष्टद्युम्न ने अपनी असमर्थता का शंख बजाकर संकेत दिया। पर मैं कुछ कर नहीं सकता था; क्योंकि मैं भीष्म और द्रोण के सामने था। मुझे चिंता हुई।

पर धृष्टद्युम्न कुछ ही आगे बढ़ा होगा कि उसे धराशायी भीम दिखाई दिया। चारों ओर से धृतराष्ट्रपुत्र उसपर आक्रमण कर रहे थे और वह धरती पर अर्धचेतन अवस्था में पड़ा था। धृष्टद्युम्न चिल्लाया कि यह अन्याय है। पर कौन सुनता है।

अब धृष्टद्युम्न भी अपने रथ से कूद पड़ा और अद्‌भुत पराक्रम का परिचय देते हुए भीम को उठाकर अपने रथ में डाल लिया।

तब तक दुर्योधन चिल्लाया—"क्या देखते हो, बिना चुनौती के आक्रमण करो!"

चुनौती स्वीकार किए बिना आक्रमण करना नियम-विरुद्ध था; पर भीम की मार खाकर धृतराष्ट्रपुत्र पागल हो उठे थे। उन्होंने बिना कुछ कहे-सुने आक्रमण कर दिया। इस बीच भीम के तन में घुसे कुछ बाण निकाले जा चुके थे। धृष्टद्युम्न एवं भीम—दोनों ने मिलकर धृतराष्ट्रपुत्रों के आक्रमण का सामना किया। तब तक अभिमन्यु के नेतृत्व में युधिष्ठिर द्वारा भेजी गई सेना भीम की सहायता के लिए आ गई थी। अब सब मिलकर दुर्योधन पर टूट पड़े।

संध्या होने के पहले ही दुर्योधन बेहोश होकर गिर पड़ा। हाहाकार मचा। तत्क्षण कृपाचार्य ने बढ़कर उसे अपने रथ में डाल लिया। भीष्म और द्रोण भी उधर आ गए। कौरव क्रुद्ध सिंह की तरह पांडवों के सामने थे। पांडवों की धरती खिसकने लगी। पर तब तक युद्ध होता रहा जब तक भगवान् भास्कर ने आँखें फेर न लीं।

आज पांडवों को इसी बात की खुशी थी कि इतने भयंकर प्रहार के बाद भी धृष्टद्युम्न और भीम सकुशल लौट आए थे। पर विराट का पुत्र शंख मारा गया था, इससे लोगों की प्रसन्नता मुखरित नहीं हो रही थी।

लोग शिविरों में जा चुके थे। अँधेरा बढ़ गया था। लोगों ने देखा कि रक्त से

सना दुर्योधन आज फिर पितामह के शिविर की ओर जा रहा है। हम लोगों ने विशेष ध्यान नहीं दिया; क्योंकि उसका रोज का काम था कि अपनी पराजय दूसरों के सिर मढ़कर उनपर खूब झुँझलाता था।

धृष्टद्युम्न और भीम के पराक्रम की खूब प्रशंसा करके उन्हें बधाई देकर मैं मत्स्यराज विराट के शिविर में पहुँचा। वे यद्यपि दुःखी दिखाई नहीं दिए, पर प्रसन्न भी नहीं लगे।

मुझे देखते ही बोले, ''जाना मुझे चाहिए था और जा रहे हैं मेरे बेटे। लगता है, कहीं-न-कहीं दुर्भाग्य मेरा पीछा कर रहा है।''

''आप ऐसा सोचते हैं; पर आपके बेटों की चारों ओर प्रशंसा हो रही है। लोग कह रहे हैं कि वह पिता धन्य है, जिसने ऐसे पराक्रमी पुत्र पैदा किए हैं।''

मैंने अनुभव किया कि महाराज विराट की आकृति पर असंतोष की हलकी चमक आई है।

हर व्यक्ति से मिलते-जुलते मैं पाकशाला में भोजन के लिए पहुँचा; क्योंकि अब मैं अपने शिविर में भोजन नहीं मँगवाता था। घायलों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही थी। उनके और अतिथि राजाओं के यहाँ भोजन भेजने की अधिक आवश्यकता थी। यों भी सेवकों की कमी होती जा रही थी। फिर अपनी सेवा में उन्हें लगाना उपयुक्त नहीं था।

पाकशाला में छंदक से भेंट हो गई। मैंने पूछा, ''संध्या को भी दिखाई नहीं देते। दिन में कहीं पता नहीं चलता। आखिर करते क्या हो?''

''दिन में दूर किसी वृक्ष पर बंदर की तरह चढ़कर विनाशलीला देखता हूँ और सूर्यास्त के बाद सेवा में लग जाता हूँ।''

''पर इस समय तो मैं देखता हूँ कि तुम पेटपूजा में लगे हो।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''क्या करूँ, जीवन के लिए यह जरूरी है।'' फिर वह थोड़ा गंभीर हुआ—''पेट की ज्वाला युद्ध की ज्वाला से भयंकर होती है, माधव!''

उसके इस सत्य का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। मैंने यों ही बात आगे बढ़ाई—''यह तुम कैसे कह सकते हो, कभी युद्ध तो लड़े नहीं?''

''विवाह न होते हुए भी लोग वैवाहिक संस्कार से अनभिज्ञ नहीं होते।'' वह बोला, ''भोगे हुए यथार्थ से कम अनुभव का यथार्थ प्रभावित नहीं करता।''

मैंने अनुभव किया कि आज छंदक बहुत भावुक हो गया है। यह भी हो सकता है कि युद्ध के आरंभ के बाद वह मुझसे पहली बार मिल रहा था। इधर

छह-सात दिनों की संवेदना समवेत होकर मुखर हो रही थी।

''तों क्या है तुम्हारे अनुभव का यथार्थ ?'' भोजन करते समय बात करने की इच्छा से मैंने पूछा।

''मेरा अनुभव तो विचित्र है।'' उसने कहा, ''मैंने देखा कि पैदल सैनिक ही अधिक मर रहे हैं। उनकी छाया में राजे-महाराजे अपनी रक्षा कर लेते हैं; पर वे घास की तरह काटकर फेंक दिए जाते हैं। सही बात तो यही है कि युद्ध के लिए ही ये पैदल सैनिक घास की तरह उगाए भी जाते हैं। पेट पालने के लिए युद्ध का पेशा स्वीकार करते हैं; पर युद्ध इन्हें निगलता रहता है और उसका पेट इन्हींके निर्दोष एवं निष्काम प्राणों से भरता है—और कभी तो नहीं भी भरता। इनके चले जाने के बाद इनके निर्दोष बेटों पर नियति फिर इसीका बोझ लाद देती है।''

मैंने अनुभव किया कि यह मात्र छंदक की ही आवाज नहीं है वरन् आर्यावर्त्त के एक सामान्य व्यक्ति की आवाज है, जो इस युद्ध की विभीषिका से बुरी तरह से प्रभावित है।

भोजन कर लेने के बाद छंदक एक बड़े से पात्र में उष्ण जल ले जाने लगा।

मैंने पूछा, ''किधर जा रहे हो ?''

उसने बताया—''जैसे जन्म लेते समय कौरव और पांडव में कोई भेद नहीं था वैसे ही मरते समय भी मुझे दोनों में कोई भेद दिखाई नहीं देता। दोनों पीड़ा से कराहते हैं, दोनों छटपटाते हैं और दोनों स्वर्ग की कामना करते हैं।''

युद्ध की वितृष्णा से भरी छंदक की मानसिकता में युद्ध का अंतिम परिणाम दिखाई देने लगा। उसने अपनी पिछली बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, ''मेरे लिए कौरव व पांडव बराबर हैं; क्योंकि मैंने अपनी अस्मिता किसीको सौंपी नहीं है।''

मुझे लगा कि आज तक मुझपर इतना बड़ा व्यंग्य किसीने नहीं किया था। क्षण भर के लिए मैं छंदक के सामने स्वयं को बहुत छोटा अनुभव करने लगा। मैंने खीज भरी मुसकराहट के बीच कहा, ''जाने कब यह युद्ध समाप्त होगा!''

''इसे तो आप मुझसे अधिक जानते होंगे।'' उसने बड़े रहस्यमय ढंग से कहा, ''कल कुछ होकर रहेगा।''

छंदक की सूचना कभी अविश्वस्त नहीं होती। मेरे कान खड़े हो गए।

मैंने पूछा, ''तुम यह कैसे कह सकते हो ?''

''कुछ समय पूर्व घायल दुर्योधन पितामह के शिविर में गया था—और जब वह वहाँ से निकला तब उसकी आकृति पर नूतन विश्वास की एक अद्भुत चमक थी।''

□

इस भयंकर और अद्भुत स्थिति में नींद भी बहुत साथ देने के पक्ष में नहीं थी। निश्चय और अनिश्चय की स्थिति में झकोर खाता मन आखिर थककर सो गया। लगता है, बाद में गहरी नींद आ गई; क्योंकि उसके आने की आहट तक मुझे नहीं लगी। द्वारपाल भी उसे देखकर स्तब्ध रह गए।

जब मैंने करवट ली तब मुझे लगा कि कोई मेरे पैर दबा रहा है। तुरंत आँखें खुल गईं। अरे, यह तो द्रौपदी है।

''इस निशीथ में तुम यहाँ कैसे?''

उसने बड़ी गंभीर आवाज में कहा, ''कल मैं विधवा होने जा रही हूँ। सोचा, विधवा होने के पहले मैं आपके चरण स्पर्श कर लूँ।''

विस्मय के साथ ही मेरी जिज्ञासा उसे एकटक देखती रह गई। मैं कुछ पूछ नहीं पाया। पर वह बोलती रही—''आज संध्या को दुर्योधन पितामह के शिविर में गया था। उसने उन्हें बहुत बुरा-भला कहा। वे तिलमिला उठे और बोले, 'अच्छा जाओ, कल तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। आज रात पूजा करके मैं पाँच बाण अभिमंत्रित करूँगा और उन पाँचों बाणों से पाँचों पांडवों का वध होगा।'

'' 'लेकिन उनके पुत्र कम पराक्रमी नहीं हैं।' दुर्योधन ने कहा।''

द्रौपदी ने बताया—''पितामह समझ गए। उन्होंने दुर्योधन से पूछा, 'तुम्हारी शत्रुता पांडवों से है या पांडवपुत्रों से? अरे, रणस्थल में पौत्र के हाथों कोई सौभाग्यशाली ही मृत्यु पाता है।'

''सुना, इसपर दुर्योधन फिर रुष्ट हो गया। वह बोला, 'मैं पीड़ा से छटपटा रहा हूँ और आप नीति वाक्य बोल रहे हैं। तो सुन लीजिए, मैं चाहता हूँ, कौरवों की रक्षा करते हुए पांडवकुल का विनाश।'

'' 'मनुष्य की ऐसी इच्छाएँ शायद ही कभी पूरी हों।' पितामह ने कहा, 'फिर भी मैं चेष्टा करूँगा। तुम ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही अपनी पत्नी भानुमती को भेज देना। पूजन से उठते ही मैं उसे आशीर्वाद दूँगा। पूजन के बाद की यह मेरी पहली ध्वनि होगी, जो कभी व्यर्थ नहीं जाएगी।' '' द्रौपदी ने बताया।

इतना सुनने के बाद द्रौपदी का व्यग्र होना स्वाभाविक था। उसी मानसिकता में मैंने उससे पूछा, ''तुम्हारे पतियों ने यह समाचार पाकर भी कुछ नहीं किया? कम-से-कम उस पूजन में विघ्न तो डाल सकते थे।''

''इसकी योजना बनाई गई थी; पर धर्मराज ने इसका कड़ा विरोध किया। उनका कहना था—'किसीके पूजन में विघ्न डालना राक्षसों का काम है। हमें राक्षसों

का काम नहीं करना चाहिए। भले ही हमें अपने प्राण गँवाने पड़ें।' "

"तब तुम्हारे अन्य पतियों ने कुछ नहीं कहा?"

"क्या कहते! सभी हतोत्साहित होकर चुपचाप पड़े हैं। उनका सोचना है कि इस स्थिति में आप ही कोई रास्ता निकाल सकते हैं। सभी प्रातःकाल आपसे मिलने वाले हैं।"

यह तो बड़ी विचित्र स्थिति हुई। पितामह की पक्षधरता इस सीमा तक जाएगी, इसका मुझे अनुमान तक नहीं था। किंकर्तव्यविमूढ़-सा कुछ समय तक मैं मौन बैठा रहा। फिर एक उपाय सूझा। मैं उठकर शिविर के बाहर आया। आकाश की ओर देखा। नक्षत्रों ने बताया कि अभी ब्राह्म मुहूर्त में कुछ देर है। मैंने तुरंत अपने कपड़े बदले। पीतांबर आदि उतारकर रख दिया। अधोवस्त्र भी श्वेत और उत्तरीय भी श्वेत। मैंने मुरली भी कमर से निकालकर सिरहाने रख दी। केवल सुरक्षा की दृष्टि से चक्र को कटि में छिपा लिया। स्थिति की गंभीरता इसीसे समझी जा सकती है कि जीवन में पहली बार मैंने पीतांबर और मुरली को अपने से अलग किया था।

इसके संबंध में द्रौपदी ने शंका भी व्यक्त की।

"मैं अपनी सभी पहचान हटा देना चाहता हूँ; क्योंकि ये मेरी योजना में घातक हो सकते हैं।" मैंने कहा, "यहाँ से काफी दूर चलना है और ब्राह्म मुहूर्त में ही पहुँचना है। यदि मार्ग में पहचान लिया गया तो सब मिट्टी हो जाएगा। तुम श्वेत वस्त्र में तो हो, अपना सिर ढक लो और अपरिचित-सी मेरे पीछे-पीछे आओ।"

आगे-आगे मैं चला, पीछे-पीछे द्रौपदी—एकदम मूक, चुपचाप पैर दबाए ज्योत्स्ना के क्षीरसागर में नवनीत-सा तैरते हुए।

ज्यों ही पांडवों का शिविर समाप्त हुआ, द्रौपदी ने पूछा, "हम लोग चल किधर रहे हैं?"

"मृत्यु से जीवन की ओर।" मैं बोला। फिर सोचा, यह बात बढ़ाने का समय नहीं है। मैंने स्पष्ट कहा, "पितामह के शिविर की ओर।"

"बाप रे बाप! इतनी दूर! कहीं मार्ग में पहचान न लिये जाएँ!"

"यदि यह शंका है तो निश्चित ही पहचान लिये जाएँगे।" मैंने कहा, "इसलिए निश्शंक हो चलो। निर्भीक हो चलो। धड़ल्ले से चलो। जरा और गति बढ़ाओ; क्योंकि इस समय एक-एक क्षण मूल्यवान् है।"

थोड़ी ही देर बाद हम लोग कौरवों के शिविर के निकट आ गए—चारों ओर के शीतल सन्नाटे में छिपते-छिपाते। चंद्रमा को ढकने की चेष्टा में आकाश में तैरते

मेघों के टुकड़े कभी-कभी उसे अपनी छाया में छिपा लेते थे; अन्यथा दूधिया चाँदनी में अपने श्वेत वस्त्रों में ही छिपना पड़ता था।

उस सन्नाटे में कुत्तों का भौंकना भी द्रौपदी को चिहुँका देने के लिए काफी था। ऐसी ही स्थिति में शिविर के पीछे गड़े एक खूँटे से उसका पैर टकराया। उसके पदत्राण से 'ठक' की आवाज हुई और वह गिरते-गिरते बची।

मैंने उसे तुरंत सँभाला और कहा, ''इतना घबराने की आवश्यकता नहीं, आराम से चलो; पर अपने पैर की जूतियाँ निकालकर मुझे दे दो। इस समय हमारे चलने की जरा भी आहट या खड़खड़ाहट घातक हो सकती है।''

पितामह का शिविर निकट आते ही मैंने उसे समझाया—''इस समय पितामह ध्यानावस्थित हो पूजन कर रहे होंगे। तुम चुपचाप जाकर उनके पीछे खड़ी हो जाना। अपनी आकृति घूँघट में छिपाए रखना और ज्यों ही पूजा समाप्त हो, तुरंत उनके चरणों पर गिर पड़ना।''

''फिर क्या होगा?''

''फिर क्या होगा, इसकी चिंता तुम छोड़ो। केवल कर्म करो। फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं।''

''और शिविर के प्रहरी ने रोक लिया तो?''

मैंने मुसकराते हुए कहा, ''वह तुम्हें रोकेगा नहीं वरन् तुम्हारा स्वागत करेगा।''

मैंने देखा, इतना समझाने के बाद भी द्रौपदी काँप रही थी। चोर का जी आधा। पर वह किसी तरह भीतर चली गई। मैंने छिपकर देखा, पितामह अब भी ध्यानावस्थित थे; पर वे उठने ही वाले थे। नाटक की चरम परिणति का फल निकट था। मेरा भी हृदय 'धक-धक' करने लगा।

क्षण भर बाद ही पितामह पूजन से उठे और द्रौपदी कटे पंख के पक्षी की तरह उनके चरणों पर गिर पड़ी।

''सौभाग्यवती भव!'' पितामह के मुख से निकली यह पूजन के बाद की पहली ध्वनि थी।

द्रौपदी तुरंत खड़ी हो मुसकराते हुए बोली, ''आभारी हूँ, पितामह!''

आखिर द्रौपदी बोलने से बाज नहीं आई। यदि वह कुछ नहीं बोलती तो शायद और अच्छा होता। मैंने सोचा, कहीं पितामह मुसकराकर उसके बोलने के ढंग पर चिढ़ न जाएँ। पर वे तो एकदम हक्का-बक्का थे। उन्हें लगा कि उनका सपना अचानक गिरकर चूर हो गया। इस पश्चात्ताप को वे सँभाल नहीं पाए और कपाल

पर हाथ धरे मंचक पर बैठ गए।

फिर वे नियंत्रित होते हुए बोले, "द्रौपदी, और इस समय यहाँ! वह भी अकेली!"

"मैं अकेली नहीं हूँ।" अब वह भी गंभीर हुई।

"फिर कौन है तुम्हारे साथ?"

"भैया!"

"क्या धृष्टद्युम्न भी आया है?"

"नहीं।" द्रौपदी बोली, "द्वारकाधीश श्रीकृष्ण आए हैं।"

"कहाँ है वह छलिया?"

इतना सुनते ही मैंने प्रवेश किया और एकदम उनके चरण छूने के लिए झुका। सदा की तरह उन्होंने मुझे छाती से लगाना चाहा, झुके। इसी हड़बड़ी में उत्तरीय में द्रौपदी की छिपाई हुई एक जूती गिर गई।

उसे देखते ही पितामह ठहाका मारकर हँस पड़े और बोले, "जब तुम पांडवों के लिए अपना पीतांबर त्याग सकते हो, जीवन से चिपकी वंशी को हटा सकते हो, द्रौपदी की जूतियाँ उठा सकते हो तब संसार की कोई भी शक्ति पांडवों का अहित नहीं कर सकती। जाओ, सुखी रहो।"

इसके बाद उन्होंने पूजन की चौकी पर रखे पाँचों बाण उठाकर तोड़ डाले। हम लोग चुपचाप शिविर से निकले। दो-चार पग ही आगे बढ़े होंगे कि हमें पीछे से कुत्तों के भौंकने की आवाज सुनाई दी। हमने मुड़कर देखा, एक नारी तीन-चार सैनिकों की सुरक्षा में बढ़ी चली आ रही है। मुझे यह समझते देर न लगी कि यह भानुमती है।

मैंने द्रौपदी से कहा, "पीछे मत देखो। उसके लिए सुरक्षित आशीर्वाद तुम लूट चुकी हो। एक लुटेरे की तरह पैर बढ़ाओ।"

वह तुरंत बड़ी तेजी से आगे बढ़ी।

आकाश का चंद्रमा भी हमारी इस विजय पर मुसकरा रहा था।

□

छह
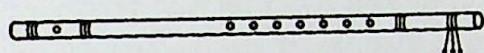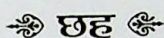
संघर्ष! संघर्ष!! संघर्ष!!!

दिन भर युद्ध। घमासान। मृत्यु का तांडव। और संध्या होते ही पीड़ा से छटपटाती थकी-हारी घायल शांति की कराह। यही था कुरुक्षेत्र का जीवन। दिन भर लोग मारते और मरते थे। संध्या को इन मरने और बच जानेवालों का हिसाब होता था। मिलने की व्यग्रता कुछ लोगों को मिलाती भी थी। किंतु घायलों की पीड़ा मिलने में बाधक हो जाती थी। जिन्हें कम चोट लगती थी, वे तो मरहम-पट्टी कराकर निकलते ही थे; पर अधिक घायल चौकी पर ही पड़े रह जाते थे। सत्ता के लिए जीवन-मरण के इस खेल पर मानवता अवश्य लज्जित हुई होगी।

आठवें दिन के युद्ध के पूर्वाह्न में ही भीम ने दुर्योधन के आठ भाइयों को मार डाला। कौरव पक्ष में हाहाकार मच गया। दूसरी ओर नागकन्या उलूपी से उत्पन्न अर्जुन के पुत्र इरावान् ने तबाही मचा दी थी। एक ओर भीम का युद्ध और दूसरी ओर इरावान् का भीषण प्रहार। कौरव सेना के पैर उखड़ने लगे। दुर्योधन ने तत्क्षण बकासुर के भाई अलंबुष नामक राक्षस को इरावान् का सामना करने के लिए बुलाया। अलंबुष का युद्ध-कौशल दानवी था। उसके सामने इरावान् टिक नहीं सका। संध्या के पूर्व ही वह मारा गया। दिन भर का सारा हर्ष विषाद में परिवर्तित हो गया। फिर भी पांडव हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होंने दानवी युद्ध के योद्धा घटोत्कच को दुर्योधन की ओर बढ़ाया। उसकी प्रहारक शक्ति अद्भुत दिखी। पांडवों को राहत मिली। कौरवों के शिविर में निराशा छाने लगी। सबसे दुःखी तो दुर्योधन था। अब उसके कुछ ही भाई शेष रह गए थे।

सुना है कि अपने पुत्रों के वध के समाचार से धृतराष्ट्र रो पड़े थे। उन्होंने शायद यह भी कहा कि अब किसके लिए युद्ध! मेरे तो इने-गिने पुत्र ही बचे हैं। एक व्यक्ति का तो यह भी कहना था कि धृतराष्ट्र आपसे पुनः मिलना चाहते हैं। पर पता नहीं क्या हुआ कि यह बात दबी-की-दबी रह गई।

अर्जुन अपने पुत्र इरावान् के वियोग में बड़ा दुःखी था। उसे सांत्वना देने में काफी समय बीत गया। रात्रि अपने चौथे प्रहर में पदार्पण कर चुकी थी। पौष की हिमानी रात जमने लगी। आज कुत्ते भी कम भौंक रहे थे। लगता है, वे भी कहीं दुबककर रात की शीतलता झेल रहे थे। शिविर की भीतरी मशालें बुझ गई थीं। केवल दूर, बहुत दूर एक शिविर के भीतर कुछ प्रकाश दिखाई दिया। मैंने अनुमान लगाया कि यह किसी और का नहीं, पितामह का शिविर है। आज भी कोई योजना बुनी जा रही है। पर इस आधी रात को क्या किया जा सकता है!

मैं चुपचाप छंदक के शिविर में आया। वह अभी सोया नहीं था। मुझे देखते ही अचकचाकर उठ खड़ा हुआ। बोला, ''अरे आप! वह भी इस समय?''

मैंने कहा, ''छंदक, एक काम ऐसा है, जिसे तुम्हीं कर सकते हो।'' फिर मैंने अपने कथन का विस्तार किया—''जब सारे शिविर अँधेरे में डूबे हैं तब पितामह के शिविर में प्रकाश दिखाई दे रहा है।''

''तब तो कोई बात अवश्य होगी।'' उसने कहा, ''आप अपने शिविर में विश्राम करें, मैं देखता हूँ।''

छंदक कुछ दूर तक मेरे साथ ही आया। अँधेरा घना होता गया। मेरा चिंतन कर्म चलता रहा। कल युद्ध का नौवाँ दिन होगा। अभी कितने दिनों तक यह संग्राम चलेगा। आधे से अधिक वीर मारे गए। सेना भी खेत रही। कौरवों की हानि तो हमसे अधिक हुई। कुरुवंश रिक्त होने को आया; किंतु अभी भी वे चेतना नहीं चाहते। विषाद की जो स्थिति अर्जुन के मन की है, या इस विनाश से युधिष्ठिर जितने दुःखी हैं, क्या कौरवों में उसका एक अंश भी नहीं होगा?

भले ही वे विषादयुक्त न हों, पर चिंतित तो अवश्य होंगे। शायद उसी चिंता में दुर्योधन आज फिर पितामह के पास गया होगा।

मेरा चिंतन चलता रहा कि छंदक आ गया। उसने बताया—''मैं पितामह के शिविर से दूर ही था कि दुर्योधन की आवाज सुनाई पड़ने लगी थी। वह पितामह को बुरा-भला सबकुछ कहता रहा। अंत में दुःखी मन से पितामह बोले, 'लगता है, विधाता ही तुम्हारे वाम है। यदि ऐसा न होता तो उस रात मैं छला न जाता। अब तो पाँचों पांडव मेरे लिए अवध्य हैं।'

'' 'इसका तात्पर्य है कि आप उनपर प्रहार भी नहीं करेंगे?' दुर्योधन बोला।

'' 'प्रहार तो करता रहूँगा। मैं उन्हें मरणासन्न तक कर दूँगा; पर उन्हें मारूँगा नहीं।'

“ ‘तब तो आपका प्रहार ही व्यर्थ है।’

“ ‘व्यर्थ क्यों है? मेरे प्रहार के बाद कोई दूसरा भी तो उन्हें मार सकता है।’

“दुर्योधन सोचने लगा। उसकी चिंता गंभीर हुई। उसने पूछा, ‘अच्छा, यह बताइए कि पांडवों के अतिरिक्त भी उस पक्ष में कोई दूसरा और है, जो आपके लिए अवध्य हो?’

“ ‘हाँ, एक वह है, शिखंडी।’

“ ‘क्यों, इसके अतिरिक्त भी आपका कोई संकल्प है?’

“ ‘क्यों, एक है न! बहुत पुराना संकल्प है कि मैं किसी स्त्री पर प्रहार नहीं करता और न करूँगा।’

“ ‘पर अब वह स्त्री है कहाँ? आप जानते नहीं क्या कि शल्यक्रिया से उसे पुरुष बना दिया गया है?’

“ ‘इससे क्या! उसका जन्म तो स्त्री योनि में ही हुआ है।’

“ ‘तब आप उसपर प्रहार नहीं करेंगे?’

“ ‘नहीं।’

“ ‘यदि वह सामने आया तो?’

“ ‘मैं अपने हथियार रख दूँगा।’

“ ‘तो मैं अभी से अपनी पराजय मान लूँ?’ दुर्योधन ने कहा।

“ ‘मानना, न मानना तुम्हारा काम है।’ पितामह बोले, ‘मेरी तो सलाह यही है कि तुम किसी भी शर्त पर युधिष्ठिर से संधि कर लो।’

“इतना सुनते ही दुर्योधन एकदम भभक उठा—‘यह बार-बार आप संधि-संधि क्या करते हैं? तो सुन लीजिए, पितामह! यह दुर्योधन जीते जी तो संधि नहीं करेगा—और आपसे भी निवेदन करता है कि संधि के लिए किया गया युद्ध निर्णायक नहीं होता। शायद इसीलिए आपके प्रहार में वह तीखापन नहीं है, जो होना चाहिए। इससे तो अच्छा था कि आप मैदान छोड़ देते।’ इतना कहकर वह आवेश में ही चला गया।”

“इसका तात्पर्य है कि कल के आक्रमण में वे कुछ भी उठा नहीं रखेंगे। पर जो भी होगा, देखा जाएगा।” मैं छंदक से बोला, “तुम्हारी इस सूचना के लिए तुम्हें बधाई।”

□

जैसाकि मेरा अनुमान था, उस दिन का युद्ध सबसे भयंकर था। कौरवों ने शिखंडी को ऐसा घेरा कि उसका हमसे कोई संपर्क न हो सका। इधर भीष्म सीधे

अर्जुन पर चढ़ आए। द्रोण ने भी भीष्म का साथ दिया।

अर्जुन ने भी अपना सर्वश्रेष्ठ हाथ दिखाया। तीन-तीन बार उसने भीष्म के धनुष को तोड़ डाला। हर बार पितामह ने उसकी प्रशंसा की; पर अर्जुन के प्रहार का तीखापन कभी भी कम नहीं हुआ।

अपराह्न होते-होते पितामह ने बाणों की ऐसी वर्षा की कि मेरा रथ चारों ओर से घिर गया। आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा। हमारे सैनिक भी धराशायी होने लगे। मैंने सोचा कि जब भीष्म द्रौपदी को वचन दे चुके हैं कि अब मेरी ओर से तुम्हारे पति अवध्य हैं, तब इतना कड़ा प्रहार क्यों?

ऐसा तो नहीं कि आज मुझे गिरा देने का ही इनका प्रयत्न हो। मैं एकदम व्यग्र हो उठा। एक क्षण तो ऐसा आया जब मैं आपे में नहीं था। तुरंत अपना चक्र लेकर दौड़ पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। अरे, यह क्या हो गया! कृष्ण ने अस्त्र उठा लिया। अर्जुन रथ से कूद पड़ा। मेरे सामने पितामह भी धनुष रखकर मुसकरा रहे थे।

"द्वारकाधीश, आज मेरी व्यक्तिगत जीत हुई।" पितामह मुसकराते हुए विनम्र भाव से बोले।

मैं अब तक नहीं समझ पाया कि आखिर क्या हुआ।

तब तक उनकी आवाज पुनः सुनाई पड़ी—"आप संकल्पभ्रष्ट हुए, माधव, आपने अस्त्र उठा लिया।"

अब मेरी चेतना लौटी। यह मैंने क्या किया? जो अब तक भीष्म के बाणों से घिरा था, अब अपने ही पश्चात्ताप से घिर गया। हे प्रभु! यह कैसे हो गया? मैंने अपने जीवन में जो कुछ भी किया हो, पर कभी वचनभंग नहीं किया। मैं चुपचाप लौट पड़ा—अत्यंत टूटा हुआ और ऐसी गति से कि मेरे पैर लड़खड़ाने लगे।

अर्जुन ने मुझे सहारा दिया और सांत्वना देते हुए बोला, "जो होना था, सो हो गया। अब उसपर सोचना क्या! यह पितामह का ही पराक्रम था कि आप आपे में नहीं रहे।"

उसी समय आज के युद्ध की समाप्ति का शंख बजा। मैंने पश्चिम के आकाश की ओर देखा, मेरी ग्लानि की लालिमा से आज अस्त होता सूर्य अधिक लाल हो गया था।

☐

शिविर में आने के बाद भी ग्लानि ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। संकल्पभ्रष्ट होने का पश्चात्ताप रह-रहकर मन को घेर लेता था। इस बीच मेरी मरहम-पट्टी भी

की गई। मेरे व्रणों पर लेप लगाया गया; क्योंकि कई बाण मुझे भी लगे थे और कई तो बड़ी गहराई तक बिंध गए थे।

चिकित्सा होने के बीच मैंने 'आह' तक नहीं की; क्योंकि इन घावों से तो अधिक गहरा मेरे भीतर का घाव था। अर्जुन आया और मेरी गंभीरता को देखकर चुप बैठ गया। थोड़ी देर बाद बोला, "आप सामान्य सी बात को भी बड़ी गंभीरता से लेते हैं और कभी-कभी गंभीर बात को भी बड़े सामान्य ढंग से उड़ा देते हैं। अरे भाई, आवेश में किया गया अपराध भी अपराध नहीं माना जाता। यदि आपने आवेश में अस्त्र उठा ही लिया तो क्या हुआ! फिर तो याद दिलाते ही आपने रख दिया।"

"तुम्हें क्या मालूम कि क्या हो गया! तुमने पितामह की आकृति पर उस समय की प्रसन्नता देखी थी!" मैं कहता गया—"आर्यावर्त्त में किसीको विश्वास नहीं था कि मैं इस युद्ध में अस्त्र उठाऊँगा। उनकी उस मुसकराहट के मूल में मेरा वचनभंग कराने का गर्व था। सचमुच आज पितामह विजयी हुए।"

इतना सुनते ही अर्जुन का अहंकार जागा। वह बोला, "आज क्या पितामह का ही पराक्रम अद्‌भुत था, मेरा पराक्रम कुछ नहीं? मैंने कई बार ऐसे बाण मारे कि उनका रथ काफी पीछे चला गया। उनके प्रहार पर शायद ही मेरे रथ को पीछे हटना पड़ा हो।"

मुझे हँसी आ गई—अर्जुन के अहंकार पर भी और उसकी मूर्खता पर भी। मैंने उसे झिड़कते हुए कहा, "रथ की बात सारथि जानता है या तुम जानते हो! यह जानते हो कि तुम्हारा रथ अभिमंत्रित था!" मुझे लगा कि मैं उस रहस्य का उद्‌घाटन कर रहा हूँ, जो मुझे नहीं करना चाहिए। फिर मैं मुसकराया—"यह सही है कि पितामह तुम्हारे आक्रमण की प्रशंसा करते थे; पर ठीक वैसे ही जैसे घर का कोई वृद्ध अपने परिवार के किसी शिशु के मुष्टि-प्रहार पर करता है।"

वह मौन हो गया। मुझे लगा कि उसका अहंकार चूर हो गया है।

मैंने फिर उससे कहा, "संप्रति इस घटना को मुझे भूलना ही पड़ेगा। (पर इतिहास इसे कभी नहीं भूलेगा वरन् वह बड़े गहरे रंग से रेखांकित करेगा।) हमें कल के युद्ध के बारे में सोचना चाहिए। कल का युद्ध अब तक का सबसे भयानक युद्ध होगा। पितामह भीष्म का प्रहार प्रलय आमंत्रित करेगा—और जब तक भीष्म के युद्ध का अंत नहीं हो जाता तब तक युद्ध का पलड़ा हमारी ओर झुकता दिखाई नहीं देता।"

"इसके लिए मैं पूरी चेष्टा करूँगा।" अर्जुन बोला, "कल कुछ भी मैं उठा नहीं रखूँगा।"

'फिर भी तुम उनका कुछ नहीं कर पाओगे।' मैं सोचता रहा। फिर अचानक मेरे मस्तिष्क में जैसे बिजली चमकी और निराशा के अंधकार में एक मार्ग सूझा।

मैंने अर्जुन से कहा, ''कल शिखंडी को तुम अपने रथ पर बैठा लो।''

''आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; पर मैं जानना चाहता हूँ, ऐसा क्यों?''

''आज तुमने देखा, कौरवों ने उसे किस तरह घेर रखा था! मैंने कई बार उसे बुलाने के लिए अपना पांचजन्य बजाया; पर वह आ नहीं पाया। यदि वह आ जाता तो भले ही आज पितामह का अंत न होता, पर मैं संकल्पभ्रष्ट तो नहीं होता। कल भी कौरव उसे आने नहीं देंगे। वे सब जानते हैं कि उसके आते ही भीष्म का प्रहार रुक जाएगा। इसलिए तुम उसे आते ही अपने रथ पर ले लो।''

''लोग क्या कहेंगे कि अर्जुन शिखंडी का आश्रय ले रहा है!''

''यह सब तो युद्धनीति है, अर्जुन! और जब तुम मत्स्यराज विराट के यहाँ स्वयं शिखंडी (बृहन्नला) बन सकते हो, तब युद्धक्षेत्र में शिखंडी का आश्रय नहीं ले सकते!''

अर्जुन चुप हो गया। स्पष्ट लगा कि ऐसी ग्लानि की स्थिति ले आने की अपेक्षा वह मर जाना अधिक गौरवशाली समझता है।

मैंने उसे फिर समझाया—''शिखंडी भी कम पराक्रमी नहीं है। उसकी आक्रामकता सामान्य योद्धाओं से कम नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि केवल उसके प्रहार से भीष्म धराशायी नहीं होंगे। उसे सामने देखकर वे प्रतिरोध नहीं करेंगे। अस्त्र रख देंगे। तब तुम्हारे प्रहार की आवश्यकता पड़ेगी—और यह भी कि कल उनके प्रहार की आक्रामकता तुम्हारे अंत तक जा सकती है।''

''पर आपने ही कहा था कि वे पांडवों का संहार नहीं करेंगे। द्रौपदी को उन्होंने वचन दिया है!''

''संकल्पबद्ध तो मैं भी था। वचन तो मैंने भी दिया था। तुम्हींने कहा था कि आवेश में कुछ भी हो सकता है। अर्जुन, देखना, इस महासमर में सारे वचन तोड़े जाएँगे। युद्ध के नियमों की धज्जियाँ उड़ाई जाएँगी। पहले दिन से ही मैं देख रहा हूँ। न ऐसा समर आर्यावर्त्त में कभी हुआ है और न कभी होगा।''

पर अर्जुन का मन अभी तैयार नहीं हो रहा था। उसका सोचना था कि किसीकी आड़ से प्रहार करना क्या उचित होगा?

''जब राम आड़ से बाली को मार सकते हैं तब तुम शिखंडी की आड़ से भीष्म को धराशायी नहीं कर सकते?''

इतना सुनते ही अर्जुन मुसकराया। उसकी मुसकराहट कह रही थी कि

आपके तर्कों का कोई जवाब नहीं।

अगले दिन युद्ध की स्थिति हमारी कल्पना के अनुसार ही थी। भीष्म का प्रबल आक्रमण प्रलय ढा रहा था। लोगों को देखकर आश्चर्य था कि आज मेरे रथ पर अर्जुन के स्थान पर शिखंडी है। अर्जुन उसके पीछे एकदम छिपकर बैठा था और बाणों की ऐसी वर्षा कर रहा था कि लोग उसे देख नहीं पा रहे थे।

दो घड़ी बीत चुकी थी। कौरवों ने शिखंडी को ऐसा घेरा था कि किसी भी ओर निकल पाना कठिन था। मैंने अपना पूरा कौशल लगाया, तब कहीं मेरा रथ भीष्म के सामने पहुँचा। एक तो अर्जुन का प्रहार और दूसरी ओर शिखंडी का प्रहार, पितामह तिलमिला उठे। वह यह भी कहते सुने गए कि ये बाण शिखंडी के नहीं हैं, कहीं-न-कहीं से अर्जुन प्रहार कर रहा है।

क्रोध एवं आवेश की चरम सीमा पर उन्होंने शक्ति छोड़ी।

मैंने अर्जुन को तुरंत सावधान किया—"देखो, यह अभिमंत्रित शक्ति तुम्हारे लिए छोड़ी गई है। तुम्हें खोजकर मारेगी।"

अर्जुन ने ऐसा बाण चलाया कि शक्ति आकाश में ही टुकड़े-टुकड़े हो गई।

इसके बाद ही पितामह को जैसे झटका-सा लगा। उन्होंने अस्त्र रख दिए। मुसकराते हुए मेरी ओर देखकर ऊँची आवाज में कहा, "न तो मैं शिखंडी पर प्रहार कर सकता हूँ और न अर्जुन की हत्या। फिर मैं किस आवेग में युद्ध करता जा रहा था!"

"अस्त्र रख देने के बाद मैं कैसे प्रहार करूँ?" अर्जुन का फिर विवेक जागा।

"पागल मत बनो। इससे अच्छा दूसरा अवसर नहीं मिलेगा। युद्ध के सारे नियम ताक पर रखे जा चुके हैं। यदि तुमने उन नियमों की ओर देखा तो अनर्थ हो जाएगा। इसलिए प्रहार करो और लगातार प्रहार करो।" मेरे इतना कहने पर अर्जुन की द्विविधा मिटी और उसने वैसा किया जैसा मैंने कहा था।

देखते-देखते पितामह का शरीर छलनी हो गया। अब उन्होंने अपना रथ रणक्षेत्र से बाहर की ओर ले चलने का सारथि को आदेश दिया।

यह क्या, पितामह रण छोड़ रहे हैं! ऐसा हो नहीं सकता। मेरे सिवा और कोई भी 'रणछोड़' हो सकता है, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी। अब मैंने आक्रमण भी बंद करा दिया। हम लोग उनके पीछे हो लिये। यद्यपि सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ था। कौरव-पांडव सीधे उस ओर बढ़े, जिधर पितामह जा रहे थे।

गंगा के तट पर जाकर पितामह ने अपना रथ रुकवाया। उन्होंने स्वयं को रथ

से उतार लेने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने कहा, "मेरी पीठ में लगा कोई भी बाण निकालो मत। उसीके सहारे मुझे धरती पर लिटा दो। अब मैं इसी शर-शय्या पर विश्राम करूँगा।"

पांडवों एवं कौरवों—दोनों ने मिलकर उन्हें रथ से उतारा और वैसे ही लिटा दिया। वक्ष, बाँहों और पैरों में लगे ऊपर के बाण निकाल लिये गए। फिर भी उनका सिर नीचे की ओर लटक रहा था।

उन्होंने कहा, "एक बाण नीचे की ओर मारकर मेरा सिर ऊपर किया जाए।"

बात सुनने में तो बड़ी आसान लगी, पर काम बड़ा कठिन था। बाण धरती की ओर ऐसा मारना था कि वह वहाँ से टकराकर पितामह के सिर के नीचे लगकर उसे ऐसा उठाए कि नीचे आड़ हो जाए और उनका सिर बिंधे भी नहीं।

दुर्योधन ने कहा, "इसके लिए बाण मारने की क्या आवश्यकता है? एक बाण लगाकर आपके सिर को सहारा भर दे देना काफी है।"

पितामह हँसे। उन्होंने कहा, "अब मैं तुम्हारा कोई अहसान लेना नहीं चाहता। जिसने इतने बाण मारे हैं, वह और एक बाण मार देगा। उसका कौशल तो देखो।"

उनका संकेत अर्जुन की ओर था। अर्जुन ने तुरंत अपनी प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया और पितामह की इच्छानुसार ऐसा मारा कि बाण धरती से टकराकर उनके सिर के नीचे लग गया। सचमुच अर्जुन का यह कौशल अद्भुत था।

पितामह ने उसकी बड़ी सराहना की। उन्होंने कहा, "सचमुच, अर्जुन, मैंने तुम्हारे जैसा धनुर्धर नहीं देखा।"

बात औरों को तो उतनी बुरी नहीं लगी जितनी कर्ण को। पितामह के धराशायी होने का समाचार सुनते ही वह भी वहीं आ गया था; पर कुछ बोल नहीं रहा था।

इसके बाद दुर्योधन उनपर एक व्यवस्थित छाया करने का प्रयत्न करने लगा। पितामह फिर मुसकराए। बोले, "अब तो तुम अपनी छाया से मुक्त करो। मृत्यु के द्वार पर होकर भी मैं अभी उसमें प्रवेश नहीं करूँगा; क्योंकि सूर्य अभी दक्षिणायन है, उत्तरायण होने पर ही मैं अपने प्राण त्यागूँगा।"

"अभी तो बहुत दिन हैं, पितामह।" मैंने प्रणाम करते हुए कहा।

"हाँ, तब तक सोचता हूँ, मेरे रक्त में प्रवाहित कौरवों के अन्न के एक दाने का भी प्रभाव शेष न रह जाए।"

"इसका तात्पर्य है कि अब इस धरती पर आप कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे?" अर्जुन ने पूछा।

"केवल जल के सिवा और कुछ भी नहीं।" पितामह बोले, "उसकी आवश्यकता तो मुझे तुरंत है। मैं प्यास का अनुभव कर रहा हूँ।"

लोग पात्रों में जल लाने के लिए दौड़े; पर पितामह ने स्पष्ट मना कर दिया—"मैं किसी पात्र और कुपात्र का भी जल ग्रहण नहीं करूँगा।"

"फिर क्या व्यवस्था की जाए?" दुर्योधन बोला।

"तुम चिंता मत करो। जिसने इतना किया है, वह उसकी भी व्यवस्था कर देगा।" उनका संकेत अर्जुन की ओर था।

अब अर्जुन ने एक सनसनाता बाण धरती में मारा। वह मुख की दाईं ओर से सनसनाता हुआ भूमि में घुस गया। पानी तो निकट था ही; क्योंकि गंगा का तट था। एक महीन धारा धरती फोड़कर फव्वारे की तरह निकली और पितामह के मुख तक आ गई।

उन्होंने वैसे ही लेटे-लेटे जल पिया तथा अर्जुन की प्रशंसा करने लगे। उसे अनेक आशीर्वाद दिए और कहा, "तुमने मेरी माँ* को इस समय मेरे पास ला दिया, मैं धन्य हुआ! अब मैं धरती की गोद में और माँ की शीतलता की छाया में बड़ी शांति से प्राण त्याग सकूँगा।...तुम्हारा यह कौशल, अर्जुन, इतिहास याद करेगा।"

"और आपकी शर-शय्या को भी।" मैं बीच में ही मुसकराते हुए बोला।

उन्होंने वैसे ही मुसकराते हुए उत्तर दिया—"और इतिहास इस बात को भी याद करेगा कि भीष्म अर्जुन के बाणों से धराशायी नहीं हुआ, वह धराशायी हुआ द्वारकाधीश की युक्ति से।"

□

दोनों पक्ष पितामह भीष्म का आशीर्वाद लेकर धीरे-धीरे हटने लगे; पर कर्ण हाथ जोड़े वहीं बैठा रहा।

पांडव पक्ष प्रसन्न अवश्य था, पर परिवार के एक वरिष्ठ, अनुभव-प्राप्त, महाप्रतापी के धराशायी होने का दुःख सबको था। सबके मन में यही भाव था कि वे अच्छे थे या बुरे थे, पर हमारे पितामह थे। उनके जाने के साथ ही एक युग समाप्त होगा। उनकी सेवा में कोई कमी नहीं होनी चाहिए।

---

* यह तो आप जानते ही हैं कि भीष्म गंगापुत्र थे।

मैंने उनकी सेवा में किसी पांडुकुल के व्यक्ति को लगाने का विचार किया। फिर मुझे तुरंत याद आया कि वहाँ कर्ण है। उसकी वास्तविकता पितामह को ज्ञात है। नारद ने उन्हें सारी बातें बताई थीं। अब स्थिति बदल गई है। वे किसी भी परिस्थिति में युद्ध का अंत चाहेंगे। इस दिशा में वे कर्ण को उसकी वास्तविकता बताएँगे। शायद उसका कर्ण पर कोई प्रभाव पड़े। इसलिए मैंने छंदक को उनकी सेवा के लिए भेजा।

उसके जाते ही अर्जुन घबराया हुआ आया। बोला, ''एक बात पर तो हम लोगों का ध्यान ही नहीं गया!''

''क्या?''

''यही कि हम लोग पितामह के यहाँ से चले आए, पर कर्ण तो वहीं है। इस समय पितामह का सबसे बड़ा विरोधी तो वही है। वह कुछ भी कर सकता है। अमर्ष और प्रतिशोध में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती।''

''जिस जघन्या के स्तर पर तुम्हारा सोच है, अर्जुन, उस स्तर तक कर्ण का सोच नहीं जा सकता।''

''पर हमने कर्ण को जो भोगा है, उसका निष्कर्ष यही है कि वह नीचता के किसी भी स्तर तक जा सकता है।'' अर्जुन ने कहा, ''द्यूतक्रीड़ा में द्रौपदी को हार जाने के बाद वह कितनी नीचता पर उतर आया था, इसकी जानकारी शायद आपको नहीं है।''

''सारी जानकारी मुझे है; पर शायद तुम बहुत कुछ नहीं जानते।'' मेरी आवाज में थोड़ा और तीखापन आया—''यह समय विवाद का नहीं है। हमें कल के बारे में सोचना चाहिए। देखना है, कल युद्ध की बागडोर किसके हाथ आती है।''

''निश्चित ही दुर्योधन कर्ण को कौरव सेनापति बनाएगा।'' अर्जुन बोला।

''कर्ण बनना चाहेगा तब न! कर्ण को पहचानने की शक्ति तुममें नहीं है। यह सत्य है कि जी जान से तुम्हारा विनाश चाहनेवाले दुर्योधन के पास कर्ण के अतिरिक्त कोई योद्धा नहीं है। पर दुर्योधन के कहने पर भी कर्ण यह पद स्वीकार नहीं करेगा।''

''क्यों?''

''एक तो कर्ण केवल अर्धरथी है। दुर्योधन की सेना में अभी बहुत से अतिरथी जीवित हैं। कर्ण के सेनापति होते ही वे सभी अतिरथी अप्रसन्न हो जाएँगे। यह अंतर्विरोध कर्ण को भारी पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि इन सभी पदों का

विभाजन पितामह ने किया है। उनके जीवित रहते कर्ण को सेनापति बनाना पितामह की स्पष्ट अवमानना होगी। इसका परिणाम भी अच्छा नहीं होगा।''

''लेकिन अतिरथियों में मेरी दृष्टि से कोई भी सेनापति के योग्य नहीं है।''

''तब वह किसीको भी बना सकता है। कोई भी मापदंड अपना सकता है। वृद्धता का, योग्यता का, पराक्रम का, अनुभव और रण-कौशल का।''

फिर हम दोनों इसी संदर्भ में सोचने लगे। इस निष्कर्ष पर पहुँचने में देर न लगी कि अब कौरव सेना के सेनापति आचार्य द्रोण ही होंगे।

रात कुछ और आगे बढ़ी। तब तक छंदक आ गया। आते ही वह बोला, ''जब मैं गया था तब भी कर्ण बैठा ही रहा और मेरे आने पर भी वह बैठा ही रहा।''

''तुम्हारे जाने पर पितामह ने क्या कहा?''

''मैंने अपने आने का प्रयोजन बताया। वे हँस पड़े। बोले, 'वत्स, मैंने पहले भी कहा था कि मेरा धराशायी होना अपनी मौसी की गोद में गिरना होगा। फिर अर्जुन के प्रताप से गंगा माता का आ जाना भगवान् की कृपा ही है। माँ और मौसी के होते हुए भी अब मुझे किसी और की सेवा की आवश्यकता नहीं है। हाँ, सूर्यास्त के बाद युद्ध समाप्त होने पर मेरी इच्छा परिजनों से मिलने की अवश्य होगी।' ''

''पर हम लोगों की जिज्ञासा तो कर्ण के विषय में है।'' मैंने सीधे-सीधे उसे अपने बिंदु पर खींचा।

अब छंदक ने बताया—''आरंभ में ही कर्ण ने प्रणाम करते हुए उनके चरण छुए। बोला, 'सर्वथा निर्दोष रहने पर भी मैं राधापुत्र आपकी कृपा का पात्र बना रहा।'

'' 'वत्स, वस्तुतः मैंने कभी तुमसे घृणा नहीं की। तुम अकारण पांडवों का विरोध करते रहे। इससे दुर्योधन का मन बढ़ता गया। तुम्हारे जैसे पराक्रमी को पाकर किसे गर्व नहीं होगा! पर तुम स्वयं ही अपनी वास्तविकता से परिचित नहीं हो। वस्तुतः तुम राधा के पुत्र नहीं हो।...' इतना कहते-कहते पितामह अचानक चुप हो गए। इसके बाद ऐसा लगा जैसे वे कुछ ऐसा बताना चाहते हैं, जिसके कहने में मेरी उपस्थिति कुछ बाधक हो रही हो। उन्होंने तुरंत बात बदली—'कर्ण, तुम्हारे पराक्रम पर मैं मुग्ध हूँ। पर चाहे जो हो, जिस प्रकार की भी स्थिति आई हो, मैंने तुममें कभी सूतपुत्रत्व देखा नहीं। तुम मुझे क्षत्रियपुत्र ही दिखाई दिए। पर तुम्हारी जिद और पांडवों के प्रति तुम्हारी व्यर्थ की शत्रुता मुझे कभी अच्छी नहीं लगी। ऐसे में यदि कभी मेरी बात से तुम्हें कष्ट पहुँचा हो तो

उसे भूल जाओ और अब कुछ ऐसा करो कि कौरवों एवं पांडवों की शत्रुता भी मेरे धराशायी होने के बाद समाप्त हो जाए।' ''

''तब उसने क्या कहा?'' मेरी जिज्ञासा ने उछाल मारा।

'' 'सबकुछ जानने के बाद भी मैं कृतघ्न नहीं हो सकता।' कर्ण ने कहा, 'दुर्योधन ने जो उपकार मुझपर किए हैं, जीवन की अंतिम साँस तक मैं उन्हें चुकाने की चेष्टा करूँगा।'

''फिर पितामह ने कहा, 'तुम महान् हो, बेटा, जो किसीके किए उपकार कभी नहीं भूलते। अब कौरवों की शक्ति के दारोमदार तुम्हीं हो। दुर्योधन की सारी आशा तुम्हीं पर लगी है। भगवान् तुम्हें शक्ति दे।' ''

छंदक के इतना बताने पर अर्जुन ने पुनः पूछा, ''इसका कुछ पता चला कि तुम्हारी उपस्थिति के कारण पितामह उससे क्या नहीं कह पाए?''

''तुम सब इसी समय जान लेना चाहते हो? अरे, कुछ भविष्य के लिए भी छोड़ो।'' उसने झिड़ककर बात उसी समय समाप्त कर दी।

दूसरे दिन वही हुआ, जिसका मुझे अनुमान था। कर्ण ने स्वयं जाकर आचार्य द्रोण से प्रार्थना की कि जाति, कुल, शस्त्रज्ञान, वय, बुद्धि, वीरता, रण-कौशल आदि सभी में आप सबसे बड़े हैं। अब आप ही कौरव सेना का सेनापतित्व स्वीकार करें।

इसपर पांडव पक्ष के हर व्यक्ति को आश्चर्य हुआ। जिस व्यक्ति को आचार्य द्रोण ने सूतपुत्र कहकर कभी प्रतियोगिता से बाहर कर दिया था, उसी कर्ण ने उनसे कौरव पक्ष का सेनापति होने का प्रस्ताव रखा। कर्ण के इस व्यवहार पर स्वयं द्रोण भी पानी-पानी थे।

आज प्रातः ही द्रोणाचार्य का सेनापति पद पर अभिषेक हुआ। इस अवसर पर कौरव और पांडव दोनों उपस्थित थे। ब्राह्मणों ने स्वस्तिगान किया। जयघोष के वाद्य बजने लगे।

मुझे वहीं एक दूसरी सूचना और मिली कि सारा निर्णय रात्रि में ले लिया गया था। रात्रि में ही कर्ण, दुर्योधन और शकुनि ने गंभीर मंत्रणा की कि आचार्य को समझाया जाए कि पितामह चाहते थे कि युद्ध समाप्त कर दिया जाए और संधि कर ली जाए; पर यदि इस स्थिति में संधि की गई तो बहुत दबकर संधि होगी। सम्मानजनक संधि की कोई संभावना नहीं बनती। यदि आप आज के युद्ध में किसी तरह जीवित युधिष्ठिर को पकड़ लें तो हमारी स्थिति उनके बराबर हो जाएगी। ऐसी स्थिति में संधि सम्मानजनक होगी।

सुना है, इससे द्रोण बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि वर्तमान समस्या का एकमात्र समाधान युधिष्ठिर को जीवित पकड़ लेना ही है। मन से भी वे पांडवों के मारे जाने के विरुद्ध थे। यदि वे युधिष्ठिर को पकड़ लेंगे तो एक धर्मसंकट से बच जाएँगे। युद्ध भी समाप्त हो जाएगा, एक महाविनाश से मुक्ति मिल जाएगी। वे पूर्णतया दुर्योधन के चंगुल में आ गए।

आधी रात के बाद ही यह बात किसी तरह पांडवों के खेमे में आ गई। उन लोगों ने इसपर मंथन शुरू किया। युधिष्ठिर बड़े सहज व्यक्ति थे। किसी समस्या पर सोचने का उनका तरीका भी अपने ही ढंग से होता था। उनका कहना था—''यदि मेरे बंदी होने से युद्ध समाप्त हो जाए और पांडवों को उनका पावना मिल जाए तो इससे उत्तम क्या हो सकता है! अरे, इतनी उपलब्धि के लिए यदि प्राण भी देना पड़े तो मैं देने को तैयार हूँ।'' वे तुरंत आचार्य द्रोण के शिविर में जाने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने स्पष्ट कहा, ''जिसे हम युद्ध कर प्राप्त करना चाहते हैं, उसे अब मैं युद्ध के पूर्व ही समर्पित होकर प्राप्त कर लूँगा।''

पर अन्य पांडवों को यह स्वीकार नहीं था। वे दुर्योधन के षड्यंत्र से इतने जले थे कि मट्ठे को भी फूँककर पीना चाहते थे। दुर्योधन के इस निर्णय में भी उन्हें कुचक्र की गंध लग रही थी।

सवेरे-सवेरे कौरवों की योजना और उसपर युधिष्ठिर के विचार से मुझे अवगत कराया गया। इसके लिए भीम और अर्जुन दोनों मेरे पास आए।

सुनते ही मैं धर्मराज की सहजता पर हँस पड़ा। मैंने पूछा, ''कौरवों की ओर से कोई इस तरह का प्रस्ताव आया है?''

दोनों मौन थे।

''तो इसे प्रस्ताव के रूप में मत देखिए। सेना की व्यूह रचना की तरह इसे भी बुद्धि की व्यूह रचना मानिए। और देखिएगा, आज कौरवों का आक्रमण भी इसी व्यूह रचना के आधार पर होगा। हमें आज रक्षात्मक युद्ध की तैयारी करनी चाहिए। महाराज युधिष्ठिर को ऐसा घेरे रहना चाहिए कि वे किसी प्रकार भी आचार्य द्रोण के सामने न पड़ें। फिर संध्या को जब युद्ध समाप्त हो जाए तब आप पाँचों भाई आचार्य द्रोण के शिविर में जाएँ और धर्मराज उनसे कहें कि यदि मुझे बंदी बनाने से युद्ध समाप्त हो जाए तो मैं स्वयं आपके चरणों में समर्पित हूँ।''

भगवान् की बड़ी कृपा थी कि सभी पांडवों ने मेरी यह सलाह स्वीकार कर ली।

सचमुच आज घोर युद्ध हुआ। द्रोण का ऐसा रण-कौशल और पराक्रम

मैंने इसके पूर्व कभी देखा नहीं था। गरजते बादलों के बीच तड़ित तरंग की तरह उनका रथ कभी यहाँ और कभी वहाँ दिखाई देता था। कुछ लोगों को तो ऐसा भी लगा कि आज एक ही द्रोण लड़ रहे हैं या कई! एक समय तो ऐसा आया कि हाहाकार मच गया। द्रोण ने धृष्टद्युम्न का व्यूह तोड़ दिया और युधिष्ठिर के निकट तक पहुँच गए।

मैंने अर्जुन से कहा, "आज ही तुम्हारे भी पराक्रम की परीक्षा है। यदि अभी नहीं तो कभी नहीं।" मैंने ललकारा ही नहीं, घोर युद्ध के लिए पांचजन्य भी बजाया। पांडव सेना में बुझते दीपक की अंतिम भभक दिखाई पड़ी। अर्जुन ने भी बाण चलाने की अपनी गति इतनी बढ़ाई कि उसकी प्रत्यंचा दिखाई नहीं देती थी। उसके बाणों ने चारों ओर से युधिष्ठिर को घेरे रखा।

इसी बीच संध्या हुई और आज के युद्ध की समाप्ति का शंख बज़ा।

□

मुझे बताया गया कि आज दुर्योधन बहुत दुःखी है और खिन्न भी। वह झुँझलाया हुआ पुनः आचार्य द्रोण के यहाँ गया। उसके साथ त्रिगर्त नरेश सुशर्मा भी था; पर कर्ण नहीं।

जब यह बात अर्जुन को ज्ञात हुई तब उसने मुझसे कहा, "या तो कर्ण गंभीर रूप से घायल है या किसी बात को लेकर दुर्योधन से उसका विरोध हुआ है।"

अर्जुन के कहने का तात्पर्य मैं समझ गया। मैंने मुसकराते हुए कहा, "चाहे जो भी परिस्थिति हो, कर्ण दुर्योधन का साथ छोड़ नहीं सकता।"

अर्जुन अत्यंत गंभीर हो गया।

तब छंदक ने बताना आरंभ किया—"दुर्योधन की झुँझलाहट आचार्य द्रोण से कह रही थी—'आज आपका संकल्प पूरा नहीं हुआ। इतने कौरव सैनिक मारे गए, पर आप युधिष्ठिर को बंदी नहीं बना पाए। कई बार आप युधिष्ठिर के पास जाकर भी पीछे हट गए।'

" 'हट नहीं गए, अर्जुन के प्रहार से हटा दिए गए।' द्रोण बीच में ही बोले।

" 'यह कहते हुए आपको जरा भी लज्जा नहीं आ रही है कि आप अपने शिष्य से पराजित हो रहे हैं!' "

छंदक ने बताया—"उस समय द्रोणाचार्य की आत्मगौरव से भरी हुई मुखमुद्रा देखने योग्य थी। उन्होंने बड़े गर्व से कहा, 'शिष्य से पराजित होना जीवन

का सबसे बड़ा सम्मान है।'

"'तब होइए आप पराजित। सभी तो आपके शिष्य हैं।'

"'पर औरों में तथा अर्जुन में अंतर है।'

"'यही बात यदि मुझे पहले ज्ञात होती तो आपको सेनापति बनाने की मैं भूल न करता।' दुर्योधन भभक उठा—'फिर आपको दिए गए वचन का भी ध्यान नहीं है!'

"'अंतिम क्षण तक ध्यान था और अब भी है।' आचार्य गंभीर चिंतन में डूब गए। उन्होंने अपनी असफलता स्वीकार करते हुए कहा, 'आज के युद्ध से मेरा यही निष्कर्ष है कि जब तक अर्जुन युद्धक्षेत्र में रहेगा तब तक युधिष्ठिर को बंदी नहीं बनाया जा सकता।'

"'यह कैसे होगा?' दुर्योधन चिंता में डूब गया। तब त्रिगर्त नरेश ने ढाढ़स दिया—'घबराइए नहीं, इसकी व्यवस्था मैं करूँगा।' "

जब छंदक ये सारी बातें बता रहा था तब अर्जुन मेरे पास बैठा था। वह युद्ध की समाप्ति के बाद एक बार मेरे यहाँ अवश्य आता। इस समय मैंने अर्जुन से इस संदर्भ में पूछा भी। उसने दार्शनिकों जैसी गंभीरता से कहा, "युद्ध केवल रणक्षेत्र में ही नहीं होता और न रणक्षेत्र में पैदा होता है। पैदा तो होता है शत्रुओं के मस्तिष्क में और वहाँ लड़ा भी जाता है; किंतु उसकी अंतिम परिणति रणक्षेत्र में होती है। मैं उसका सारथ्य प्राप्त करने यहाँ आया हूँ।"

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, "अर्जुन, तुम्हारा सारा दर्शन धरा-का-धरा रह जाएगा और तुम युद्ध से अलग कर दिए जाओगे।"

"यह कैसे हो सकता है?"

"यह तो कल का सवेरा ही बताएगा।"

□

दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व ही त्रिगर्त सैनिकों के संशप्तक व्रत* लेने का समाचार मिला। इसके आधी घड़ी बाद ही अर्जुन को ललकारने की ध्वनि से कोलाहल मच गया। यह भी पता चला कि यह युद्ध रणक्षेत्र से दूर जंगलों में होगा। अद्भुत स्थिति पैदा हुई। किसीको इस युद्ध की कल्पना भी नहीं थी—और

---

* संशप्तक व्रतधारी किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए कटिबद्ध होकर निकलते हैं और संकल्पित कार्य पूरा किए बिना जीवित नहीं लौटते। संशप्तकों की चुनौती स्वीकार करना युद्धधर्म है। इन संशप्तकों ने अर्जुन को युद्ध की चुनौती दी थी कि या तो हम अर्जुन को मारेंगे या मर जाएँगे, जीवित वापस नहीं लौटेंगे।

सत्य कहूँ तो मुझे भी नहीं। यद्यपि मैं सोच ही रहा था कि द्रोण के सुझाव का पालन त्रिगर्त नरेश कैसे करते हैं। पर यह तो मारने-मरने का निर्णायक युद्ध होगा—और चुनौती स्वीकार करना अनिवार्य है।

अर्जुन भी बड़े असमंजस में पड़ा। उसे जय-पराजय की उतनी चिंता नहीं थी जितनी इस बात की थी कि कम-से-कम एक दिन के लिए कुरुक्षेत्र तो छोड़ना ही पड़ेगा—और इतना समय आचार्य को अपना कार्य पूरा करने के लिए काफी होगा। पर चुनौती तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

धृष्टद्युम्न ने अपनी रक्षात्मक व्यूह रचना की और यह निश्चय हुआ कि युधिष्ठिर के चारों ओर हमारे पराक्रमी योद्धा उन्हें घेरे रहेंगे। उन्हें कभी अकेला नहीं छोड़ा जाएगा।

सारी व्यवस्था कर लेने के बाद हम त्रिगर्त के संशप्तकों की ओर बढ़े। कुरुक्षेत्र से लगभग दो योजन दूर, मार्ग में ही अर्जुन ने एक बड़ा ही मौलिक प्रश्न किया—''यह युद्ध कुरुक्षेत्र का ही युद्ध माना जाएगा या उससे अलग?''

''यदि अलग माना जाता तो क्या बात थी!'' मैंने कहा, ''मुझे शस्त्र उठाने की स्वतंत्रता होती। पर यह माना नहीं जाएगा। वस्तुतः यह कुरुक्षेत्र युद्ध का ही एक उपयुद्ध है, जो कौरवों की रणनीति के अंतर्गत है।''

अर्जुन चुप हो गया। वह कुछ दबे स्वर में बोला, ''तब तो मैं अकेला पड़ सकता हूँ।''

''तुम अकेले कहाँ हो! तुम्हारा पराक्रम तुम्हारे साथ है, तुम्हारी विद्या तुम्हारे साथ है, तुम्हारा धर्म तुम्हारे साथ है—और फिर मैं तो हूँ ही।''

घने अरण्य में हमारा-संशप्तकों का सामना हुआ। सबसे बड़ा संकट यह था कि कुछ संशप्तकों ने उसी जंगल की पत्तियों और लताओं से स्वयं को लपेट लिया था। आक्रमण करते और अपनी रक्षा के लिए जंगलों में घुस जाते। फिर जब अन्य सैनिक हमें घेरते तो वे सब भी हमपर टूट पड़ते।

जंगलों में उन्हें पहचानना कठिन हो जाता, इसलिए मुझे रथ को इतनी क्षिप्रता से चारों ओर घुमाना और दौड़ाना पड़ा कि एक अर्जुन एक ही समय कई स्थानों पर उपस्थित दिखाई देता। अब उनके छिपने का प्रश्न ही नहीं था।

संध्या होते-होते अनेक संशप्तक व्रतधारी मारे गए। अब भी उनमें कुछ शेष रह गए। युद्ध समाप्त होने पर ही परिणाम अगले दिन तक के लिए टल गया।

अब हमारा मन कुरुक्षेत्र की ओर आया। जिज्ञासा शिखर चढ़ी। आज क्या हुआ होगा उस युद्ध में? अँधेरा बढ़ने लगा था। मैं अभीषु खींचे हुए अत्यंत द्रुत गति

से कुरुक्षेत्र की ओर बढ़ा।

पहले कौरवों का शिविर पड़ा। चहकता हुआ तो नहीं लगा, पर कोलाहलपूर्ण था। यह तो निश्चित था कि युधिष्ठिर को बंदी नहीं बनाया जा सका; पर कोई सफलता उन्हें अवश्य मिली है। इसी अनुमान में उलझे हम आगे बढ़े। पांडव शिविर भी शांत दिखा; पर शोकमग्न नहीं। अब स्पष्ट हो गया कि धर्मराज आज कुशल हैं; पर आज का युद्ध कौरवों के पक्ष में ही रहा होगा।

शिविर में आने पर पता चला कि मत्स्यराज विराट के अनुज शतानीक और द्रुपदपुत्र सत्यजित् मारे गए। विराट और द्रुपद का शोकमग्न हो जाना स्वाभाविक था। हम लोग सीधे उन्हींके शिविर में गए। विराट द्रुपद से अधिक शोकाकुल लगे। मैंने उन्हें सांत्वना दी कि क्षत्रिय का जन्म इसी दिन के लिए होता है।

थोड़ी देर बाद ही हम वहाँ से चल पड़े और द्रुपद के शिविर में आए। वहाँ अधिक लोग थे। धृष्टद्युम्न शोकग्रस्तता से अधिक अपने पर क्रोधित था। उसका सोचना था कि यदि मैंने जरा सा भी ध्यान दिया होता तो यह दुर्घटना न घटती।

मैंने कहा, ''तब भी घटती, क्योंकि इसे घटना था।''

मेरे बुद्धिजन्य तर्क उनकी भावना के आगे अधिक काम नहीं कर रहे थे।

यह सब होते हुए भी हमारे सोच के विपरीत आज का युद्ध पांडवों के ही पक्ष में रहा। गंधारराज सुबल के दो पुत्र—वृषक और अचल के साथ ही भगदत्त भी मारा गया।

□

दूसरे दिन हम लोग सूर्योदय के बाद ही संशप्तकों की ओर बढ़ चले। हमारे चले जाने के बाद द्रोणाचार्य ने ऐसी व्यूह रचना की कि उसमें युधिष्ठिर का बंदी बनाया जाना लगभग निश्चित हो गया। आज कौरव सेना का चक्र व्यूह बनाया गया था और उस व्यूह को भेदना पांडवों में केवल अर्जुन जानता था। अब क्या किया जाए? पूरा पांडव पक्ष किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। अब तो द्रोण की मंशा पूरी होती दिखाई दी। किसीको कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। हम भी उनकी पुकार से बहुत दूर थे।

उस स्थिति में अभिमन्यु सामने आया। उसने नया उत्साह भरा—''आप जरा भी न घबराएँ। चक्र व्यूह में प्रवेश मैं करूँगा।''

लोगों ने दाँतों तले अँगुली दबाई। यह सोलह वर्षीय किशोर क्या कर सकेगा! पर अभिमन्यु ने अपने ताऊ और चाचा को विश्वास दिलाया—''आप व्यग्र न हों। मुझे कभी पिताजी ने चक्र व्यूह का भेदन बताया था। उस समय मैं गर्भ में

था। सारी कथा मेरी माँ को मालूम है। भूले-बिसरे सुखद स्वप्न की तरह आज कुछ-कुछ याद है। मैं ध्यानावस्थित होकर उसे याद करने की चेष्टा करता हूँ। आप लोग विधिवत् सैन्य-सज्जा में लग जाएँ और मुझे छोटा न समझें। मैंने अपने पिता अर्जुन और मामा कृष्ण से रण-कौशल सीखा है। मुझपर विश्वास करें।''

अभिमन्यु की बात मानने के सिवा अब पांडवों के पास कोई चारा न था। पांडवों द्वारा बड़ी सूझ-बूझ के साथ अत्यंत आक्रामक व्यूह रचना की गई थी। उनकी योजना थी कि किसी भी स्थिति में व्यूह का भेदन होना चाहिए। उनका सोचना था कि आगे-आगे अभिमन्यु तो चलेगा ही, पीछे-पीछे हम उसकी रक्षा करते हुए आक्रामक रहेंगे। विशेषकर धर्मराज, भीम और धृष्टद्युम्न ने यह योजना बनाई थी। साथ में सात्यकि और चेकितान को भी रखा गया।

व्यूह की आंतरिक जटिलता का ज्ञान न होते हुए भी पांडवों ने पूरे उत्साह से तैयारी की। इसका पूरा ध्यान रखा गया कि अभिमन्यु और युधिष्ठिर की रक्षा अवश्यमेव की जाए।

आज के युद्ध की भयंकरता का ऐसा आतंक था कि शिविर में महिलाएँ भी प्रात:काल से ही आ गई थीं। रह-रहकर अभिमन्यु को एक बात भीतर-ही-भीतर साल रही थी कि सब तो मुझे याद आ रहा है, पर व्यूह से बाहर निकलना याद नहीं आ रहा है। क्यों नहीं यह बात स्पष्ट रूप से लोगों को बता दी जाए।

यह सुनकर कुंती बुआ ने कहा, ''तुम कहते तो ठीक हो, वत्स! पर जानते हो, इसका क्या परिणाम होगा? लोग जितने उत्साह में हैं, उसमें कुछ-न-कुछ तो ठंडक अवश्य आ जाएगी—और युद्ध के आरंभ से ही ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना खतरनाक होगा।''

''फिर भी, पितामही, मुझे अपने ताऊ और चाचाओं से यह स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए।'' अभिमन्यु बोला।

सुना है, उसने भीम और युधिष्ठिर को वस्तुस्थिति बताई।

भीम ने कहा, ''घबराने की कोई बात नहीं। तुम प्रवेश करो। फिर तो जो भी स्थिति आएगी, हम उसे देखेंगे।''

इसके बाद अभिमन्यु ने अपनी पितामही कुंती से आशीर्वाद लिया और फिर माता सुभद्रा से आशीर्वाद लेने उसके शिविर में गया। उसके चरण छुए और कहा, ''आज पिताजी संशप्तकों के युद्ध में गए हैं। उन्हें त्रिगर्तों ने ललकारा है। और आज ही हमें युद्धक्षेत्र ने ललकारा है। आज मैं संशप्तक व्रत लेकर जा रहा हूँ। या तो आज चक्र व्यूह का भेदन होगा या मैं फिर लौटकर नहीं आऊँगा।''

सुभद्रा ने उसकी पीठ थपथपाई और आशीर्वाद देते हुए कहा, "एक क्षत्राणी इन्हीं दिनों के लिए अपने बेटे को जन्म देती है।" इतना कहते-कहते उसका गला रुँध गया।

वहीं अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा थी। उसने तिलक किया और बोली, "जीवन का मोह छोड़कर आज अपने पराक्रम का परिचय दीजिए, देव! यदि विजयी होगे तो मेरी माँग के सिंदूर की अरुणिमा और बढ़ जाएगी, अन्यथा हम दोनों साथ स्वर्गारोहण करेंगे।"

□

अपराह्न के बाद ही त्रिगर्त संशप्तकों ने दम तोड़ दिया। बाद में तो कई ऐसे भी थे, जो अपने प्राण लेकर भागना चाहते थे। अर्जुन ने उन्हें भी अपने बाणों का लक्ष्य बनाया। फिर मैंने उसे सावधान किया—"रण छोड़कर भागनेवाला तो यों ही संकल्पभ्रष्ट हो चुका है। यह उसकी मृत्यु से अधिक लज्जाजनक है—और तुम उसीको मारना चाहते हो!"

"कौन जाने वे जंगल में अपनी रक्षा के लिए गए हों और फिर आक्रामक हो जाएँ।"

"तो तुम भी अपने शंख 'देवव्रत' के उद्घोष से उन्हें ललकारो।" मैंने कहा।

अर्जुन ने 'देवव्रत' बजाया। कोई भी संशप्तक आगे नहीं आया। तब मैंने 'पांचजन्य' से जयघोष किया और हम लौट पड़े।

संध्या हो चली थी। हम विजयी होकर लौट रहे थे; पर पता नहीं क्यों, आज हममें प्रसन्नता नहीं थी। पौष की थरथराती संध्या की उदासी से अधिक हमारा मन उदास था। कई बार अर्जुन ने मुझसे कहा, "माधव, आज कुरुक्षेत्र में कहीं कुछ हो तो नहीं गया? आप योगिराज हैं। कुछ तो बताइए।"

मुझे भी लग रहा था कि कुछ हो गया है। शायद मैं ध्यानावस्थित होता तो सत्यता को निकट से देख भी लेता, पर हाथ कंगन को आरसी क्या! अब कुछ ही समय में हमारा तीव्रगामी रथ पहुँचना ही चाहता था।

दूर से ही हमें कौरव शिविरों की चहक सुनाई पड़ने लगी। कौरव सैनिक मुसकराते हुए रथ को देखते थे; पर पांडव सैनिक दिखाई नहीं पड़ रहे थे। यदि वे दिखाई भी पड़ते तो किसी अप्रत्याशित पीड़ा से दबे-दबे। बिना कुछ बोले वे आँखें छिपाकर बगल से निकल जाते। हमने समझ लिया कि कुछ ऐसा जरूर हुआ है, जो नहीं होना चाहिए था।

"लगता है, भैया बंदी बना लिये गए।" अर्जुन एक निष्कर्ष पर पहुँच भी गया।

"अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।" मैंने कहा, "ऐसा नहीं हो सकता कि तुम्हारे अन्य भाइयों के होते हुए उन्हें कोई बंदी बना ले।"

अब हमारा रथ पांडव शिविरों की ओर बढ़ा। एक अजीब सन्नाटे से हमारा साक्षात्कार हुआ। शोकग्रस्त स्तब्धता की थरथराहट उस सांध्य शीत से अधिक थी। अर्जुन और घबराया।

मैंने कहा, "कुछ अनहोनी अवश्य हो गई है। ढाढ़स रखो, बात शीघ्र ही सामने आ जाएगी।"

और हम सबसे पहले युधिष्ठिर के शिविर में ही पहुँचे। हमने देखा, लोगों की आँखें निरंतर बह रही हैं। हमें देखकर भी लोग चुपचाप बैठे हैं। युधिष्ठिर हमें देखते ही दोनों हाथों से मुँह छिपाकर सिसकने लगे।

कल इस समय जब हम आए थे, लोगों ने प्रसन्नता से हमारा स्वागत किया था—और अभिमन्यु तो पहले से ही हमारी बाट जोह रहा था; पर आज कहीं दिखाई नहीं दे रहा है।

मेरे मुख से तुरंत निकल पड़ा—"अभिमन्यु को कहीं कुछ हो तो नहीं गया?"

किसी पांडव के मुख से बोली नहीं निकली। उनकी सिसकन और तेज हो गई। हम लोगों को अपार कष्ट हुआ। अर्जुन तो चेतनाशून्य होने लगा। हम लोगों ने उसे सहारा दे लिटा दिया। तुरंत चिकित्सकों ने उसका उपचार किया। चेतना आते ही उसे क्रोध ने धर दबाया। फिर उसकी बुद्धि कहाँ ठिकाने रहती!

उसने अपने धर्मराज जैसे भाई को बुरा-भला कहना आरंभ किया—"आप जानते थे कि अभिमन्यु को चक्र व्यूह से निकलना नहीं आता। इस कमजोरी को उसने बताया भी था; फिर भी आपने अपने प्राणों की रक्षा के लिए उसे युद्ध की अग्नि में झोंक दिया। आपके जीवन का मोह पुत्र-प्रेम पर हावी हो गया। ऐसे नीच, कायर और पापी ताऊ के विषय में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे!"

वह ऐसी ही निम्न कोटि की बातें कहता चला गया, जिन्हें धर्मराज के क्या, अन्यों के संबंध में भी उसने कभी सोची न होगी। इस समय मैंने सबको शांत रहने का संकेत किया कि अर्जुन के क्रोध के इस भीषण आवेग को इस समय निकल जाने दीजिए; क्योंकि तर्क और सांत्वना का कोई भी बाँध इसे रोक नहीं पाएगा।

सबके सब चुप रह गए।

पांडवों पर जब कभी विपत्ति पड़ती थी तब व्यासजी उन्हें सांत्वना देने चले आते थे। युद्ध के आरंभ के पहले से ही व्यासजी कुरु के अरण्य प्रदेश में सरस्वती के किनारे अपना आश्रम डाले पड़े थे।

हम लोगों के वहाँ से लौटने के पहले ही वे आकर पांडवों को समझाने लगे। उन्होंने एक प्राचीन कथा का सहारा लिया। उन्होंने बताया था—"ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण किया और भाँति-भाँति के जीव बनाए। कालांतर में उनकी संख्या बढ़ती गई। अब समस्या आई कि धरती तो सीमित है, ये रहेंगे कहाँ? तब उन्हें अपने ही पर क्रोध आया कि मैंने ऐसे जीवों की रचना क्यों की, जो अपने क्रोध पर नियंत्रण नहीं कर पा रहे हैं?

"ब्रह्माजी की चिंता और संताप से उनके क्रोध की ज्वाला भयंकर हो गई। अब वह जीवों को भस्म करने लगी। तब सभी जीवों ने रुद्र की अभ्यर्थना की। तब रुद्र ब्रह्मा के पास गए और कहा कि आप अपनी ज्वाला को समेट लीजिए। ब्रह्मा ने संप्रति वैसा ही किया। किंतु शीघ्र ही उनके मन में क्रोध की ज्वाला ने मृत्यु का रूप धारण किया।"

व्यासजी का कहना था—"इसीलिए आपको कभी मृत्यु पर क्रोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि सृष्टिकर्ता की इच्छा का परिणाम है जीवन, तो उसके दमित क्रोध का रूपांतर है मृत्यु। जीवन है तो मृत्यु होगी।"

पर महर्षि का यह बौद्धिक उपदेश युधिष्ठिर आदि के मन को शांत नहीं कर पाया—और अर्जुन ने तो उसे सुना भी नहीं।

धीरे-धीरे उसके क्रोध का वेग समाप्त हो गया। तब पश्चात्ताप के मेघों ने उसकी चेतना को बेतरह घेर लिया। वह सोचने लगा कि मैंने यह क्या किया? मैंने उस भाई को अपशब्द कहा, जिसे संसार धर्मराज कहता है। मेरा प्रिय पुत्र चला गया तो क्या! मुझे धर्मराज के प्रति ऐसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए था। लोग क्या कहेंगे? अब मैं जीवित रहकर भी क्या करूँगा? अब मैं आत्मदाह कर लूँगा।

अर्जुन के इस निर्णय से हाहाकार मच गया। कुंती बुआ, सुभद्रा, द्रौपदी, उत्तरा आदि पहले से ही अभिमन्यु की व्यथा का संवरण नहीं कर पा रही थीं। अब तो उनपर पहाड़ टूट पड़ा। आँसू सूख गए। सबकी रिक्त आँखें मेरी ओर लगीं; जैसे कह रही हों, अब आप ही कोई रास्ता निकालिए।

पर मैं समझ रहा था कि क्रोध की बाढ़ यदि रोकी नहीं जा सकती तो पश्चात्ताप का सिंधु भी बाँधा नहीं जा सकता। इसलिए मैंने उन्हें सांत्वना देने की

भूल नहीं की। जब अर्जुन ने मुझसे कहा कि अनुमति दीजिए, मैं आत्मदाह करूँ, तब मैंने कहा, ''तुम्हें अवश्य आत्मदाह करना चाहिए; क्योंकि तुमने ऐसी-ऐसी बातें अपने बड़े भाई के लिए कहीं, जिसे उनके कट्टर शत्रु भी नहीं कहते। जो धर्मराज के नाम से पूरे आर्यावर्त्त में विख्यात हों, तुमने उन्हें ऐसा कहा!''

अब तो पूरे वातावरण को जैसे साँप सूँघ गया। काटो तो खून नहीं। क्या होगा, जब श्रीकृष्ण ने ही आत्मदाह का समर्थन कर दिया। जिस डाल पर उम्मीद का घोंसला था, वही टूट गया।

अर्जुन के आत्मदाह के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी की जाने लगीं। सारी तैयारी पूरी होने को आई कि अचानक सुभद्रा के मौन का विस्फोट हुआ। वह बड़ी जोर से रो पड़ी।

उत्तरा ने भी जोर का विलाप कर अर्जुन के पैर पकड़ लिये और रोते हुए बोली, ''पतिदेव तो चले ही गए, अब आप भी चले जाएँगे तो हम लोगों का क्या होगा?''

फिर तो ऐसा हाहाकार हुआ, जिसे सँभालना कठिन हो गया। अब मैंने अवसर देखा। मैंने अर्जुन से कहा, ''आत्मदाह का एक विकल्प भी है।''

''वह क्या?''

''कि तुम अपनी प्रशंसा स्वयं करो।'' मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, ''आत्मस्तुति से बढ़कर कोई आत्मदाह हो नहीं सकता।''

अब गंभीर शांति के बीच अर्जुन ने आत्मप्रशंसा आरंभ की और लगभग एक घड़ी तक आत्मप्रशंसा करता रहा।

अँधेरा घना हो गया था। शिशिर के मेघ आकाश में छाने लगे। शोक की यह लहर भी धीरे-धीरे थमने लगी। तब मैंने अभिमन्यु की प्रशंसा करते हुए कहा, ''आचार्य द्रोण को जिसकी कल्पना नहीं थी, वह हमारे बेटे ने कर दिखाया। हम सबको ऐसे पुत्र पर गर्व करना चाहिए।''

अब लोग और खुलने लगे।

सात्यकि ने कहा, ''किसीका ऐसा पराक्रमी पुत्र तो इतिहास में ढूँढ़े नहीं मिलेगा। उसने धृतराष्ट्र के आठ बेटों की नाक में दम कर दिया। दुःशासन को पराजित किया। उसका पुत्र न पहुँच गया होता तो वह मारा ही जाता।''

''आचार्य की व्यूह रचना की धज्जियाँ उड़ा दीं। दुर्योधनपुत्र लक्ष्मण का वध कर दिया। सारी व्यूह रचना गड़बड़ा गई थी। यह तो जयद्रथ था, जिसने भागती सेना को फिर एकत्रित कर व्यूह निर्मित किया।'' भीम बोला।

"ऐसे में आप लोग कहाँ थे?" मैंने पूछा।

"जब जयद्रथ ने दूसरी बार व्यूह रचना की तो हम लोग अभिमन्यु से अलग पड़ गए। जब वह गिरा तब हमारा कोई भी योद्धा उसके पास नहीं था। अभिमन्यु अकेला पड़ गया।" और अँगुली पर गिनते हुए धृष्टद्युम्न ने बताया—"द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्‌वल तथा कृतवर्मा ने उसे घेर लिया। फिर भी यदि हम लोग साथ होते तो और ज़ो भी होता, पर वह मारा तो नहीं जाता।" फिर धृष्टद्युम्न थोड़ा आवेश में आया—"इतना होने पर भी युद्ध के सारे नियम तोड़कर अभिमन्यु के साथ बड़ा अत्याचार किया गया! द्रोण जैसे वृद्ध आचार्य ने कर्ण से कहा, 'यह ऐसे नहीं मारा जा सकता, जब तक इसका कवच नहीं टूटेगा। इसे पीछे से मारो। इसका धनुष तोड़ दो। इसका रथ भग्न कर दो।' कर्ण ने यही किया। बेचारा निहत्था हो गया। वह धरती पर आ गिरा। फिर उसने रथचक्र से आक्रमण किया। अंत में जयद्रथ ने उसपर गदा मारी। वह अचेत होकर गिर गया। फिर भी जयद्रथ ने नहीं छोड़ा, वह मारता चला गया। अभिमन्यु का प्राणांत हो गया।"

सब सुन लेने के बाद अर्जुन ने जैसे संतोष की साँस ली। उसने कहा, "तब तो हमें शोक नहीं करना चाहिए। उसने वह कर दिखाया, जो लंबी अवस्था जीने के बाद भी बहुत से लोग नहीं कर सकते।"

"यही तो मैं भी कहता हूँ।" अब मैंने कहा।

"पर मन नहीं मानता न!" इतना कहते-कहते युधिष्ठिर फिर रो पड़े—"यह सब हमारे कारण हुआ। यदि मैं बंदी हो गया होता तो यह स्थिति ही नहीं आती।"

"तब तो हम सबकी विजय आकांक्षा बंदी हो जाती। पांडवों की अस्मिता बंदी हो जाती और आप बिना लड़े युद्ध हार जाते।" मैंने कहा, "यह सब आपके कारण नहीं वरन् जयद्रथ की नीचता के कारण हुआ।"

इतना सुनते ही द्रौपदी दाँत पीसने लगी। उसे अपना पुराना संदर्भ याद आया। उसने कहा, "उस नीच ने मेरा बदला मेरे पुत्र से निकाला!"

अब अर्जुन के रक्त में फिर उबाल आया। उसने प्रतिज्ञा की—"कल सूर्यास्त तक उस पापी को अवश्य मार गिराऊँगा। यदि ऐसा नहीं कर पाया तो कल निश्‍चित आत्मदाह कर लूँगा।"

इसके बाद अभिमन्यु की अंत्येष्टि की तैयारियाँ होने लगीं।

☐

दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व ही मैं युधिष्ठिर के शिविर में गया। मेरे साथ

छंदक भी था। युधिष्ठिर मुझे देखते ही एकदम घबरा गए। उन्होंने सोचा कि कोई अप्रत्याशित समस्या आ गई क्या? किंतु मेरे इतना कहते ही वे शांत हो गए कि मैं आप लोगों से कुछ सलाह करने आया हूँ। अच्छा होता, अन्य पांडवों को बुला लिया जाता।

तुरंत युधिष्ठिर ने अपने प्रहरियों को इस कार्य के लिए भेजा। शेष पांडव वहाँ शीघ्र उपस्थित हुए। सबमें हड़बड़ाहट थी। मैंने उन्हें भी शांत किया और कहा, ''अब आपके विचार के लिए एक समस्या रखने आया हूँ। इसमें अंतिम निर्णय आपका होगा।''

''आप यह क्या कह रहे हैं! आप स्वयं अंतिम निर्णय लेकर आज्ञा देने के अधिकारी हैं।'' युधिष्ठिर ने कहा।

''कैसे अधिकारी हूँ?'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''मैं केवल सारथि हूँ। मैं अपनी सीमाएँ जानता हूँ। जहाँ उन सीमाओं के पार जाने की कोशिश करूँगा वहीं आपके धर्म की दीवार आगे खड़ी हो जाएगी।'' अब लोग और भी गंभीर हो गए। पर मैं बोलता रहा—''आपने देखा, कल युद्ध के सारे नियम तोड़ डाले गए। वे नियम तोड़ डाले गए, जो इसी युद्ध के लिए युद्ध होने के पहले बनाए गए थे। मैं जानता था कि जो कौरव अपने जीवन में धर्म और सामान्य नियमों का पालन न कर सके, वे युद्ध में क्या करेंगे! इसीलिए जब उस समय मुझसे उस नियम-निर्माण समिति में चलने के लिए आग्रह किया गया था, तब मैं नहीं गया था; क्योंकि मैं जानता था कि इस युद्ध में सबकुछ निरर्थक हो जाएगा। फिर अपने बनाए बंधन से स्वयं को बाँधने से क्या लाभ!''

फिर मैं जोर से हँसा—''भैया, मैं किसी नियम से बँधा नहीं हूँ; पर आप लोग बँधे हैं। इतना होने पर भी क्या अब भी युद्ध के नियमों के प्रति आपकी वैसी आस्था रह गई है?''

''धर्म तो यही कहता है।'' युधिष्ठिर बोले।

''धर्म तभी तक है जब तक जीवन है। जब जीवन का अस्तित्व खतरे में पड़ता है तब धर्म का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। ऐसे समय धर्म यदि बंधन की तरह सामने आ जाए तो उससे मुक्त होना ही जीवनधर्म है। इसलिए अब तक जो हुआ, वह हुआ; अब हमें भी युद्ध के नियमों की परवाह किए बिना युद्ध करना चाहिए। इस संदर्भ में आपकी क्या राय है?''

युधिष्ठिर की गंभीरता अधिक बढ़ी; पर सभी भाइयों ने मेरा समर्थन किया।

फिर मैंने कहा, ''धर्म तो समाज की देन है। धर्म लेकर व्यक्ति पैदा नहीं

होता। हम अर्थ और काम लेकर पैदा होते हैं, धर्म समाज दे देता है—और तीनों के समन्वय से हम मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इसलिए जब तक समाज है तब तक धर्म है। जब समाज ही छूट रहा हो, शरीर का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया हो, तब हम धर्म को सिर पर लादे हुए क्या करेंगे?''

''आखिर आपका तात्पर्य क्या है?'' युधिष्ठिर ने पूछा।

''मेरा तात्पर्य है कि अब युद्ध में किसी नियम से न बँधे रहना चाहिए और न धर्म का लबादा ओढ़कर युद्ध करना चाहिए। अब हमारा धर्म युद्ध में केवल विजय प्राप्त करना होना चाहिए; क्योंकि युद्ध का रहा-सहा धर्म पितामह के साथ चला गया। अब कौरव पक्ष पर पूर्णतया कर्ण का आधिपत्य है, सेनापति चाहे जो हो।''

सभी भाइयों ने मेरा समर्थन किया।

युधिष्ठिर भी दबी जबान बोले, ''पर एकदम अधर्मियों की तरह नहीं।''

''यह बात दूसरी है।'' मैंने कहा, ''जहाँ तक हो सकेगा, हम धर्म का पालन करेंगे—और यदि कभी आपसे धर्म का उल्लंघन भी कराना होगा तो धार्मिकों की तरह ही कराया जाएगा।'' इतना कहकर मैं भी हँसा तथा मेरे साथ और लोग भी।

फिर मैं वहाँ से कुंती बुआ से मिलने महिलाओं के शिविर की ओर चला। शोकग्रस्त सन्नाटे में डूबे महिला शिविर की ओर बढ़ने का साहस तो नहीं था, पर विवशता थी। मैं पैर आगे बढ़ाता चले चला। मुझे देखते ही सब हड़बड़ाकर खड़ी हो गईं। रात भर रोईं, फूली-फूली उनकी आँखें अब भी डबडबाई थीं। उन्हें देखकर मैं कुछ बोल नहीं पा रहा था। किसी तरह की शाब्दिक संवेदना का अर्थ होता, आँखों की नील झील के स्थिर होते जल को फिर पत्थर मारकर आंदोलित करना।

मैं कुछ समय तक मौन बैठा रहा। फिर बुआजी को हलका सा संकेत किया। वे उठकर एकांत में चली आईं। मैं भी उनके साथ हो लिया। छंदक वहीं बैठा रह गया।

''कल की स्थिति तो आपने देखी है। अब मेरे विचार से युद्ध की विभीषिका और बढ़ेगी। कौरव पक्ष पूर्णत: कर्ण पर निर्भर करेगा। एक अभिमन्यु के अभिमंत्रित कवच को काटने के लिए लोगों को छठी का दूध याद हो गया; पर कर्ण का कवच तो परम तेजवान् सूर्य का दिया है और कुंडल भी। उस कवच और कुंडल के रहते उसका पराभव कठिन ही नहीं, असंभव है।''

"फिर क्या करना चाहिए?" बुआ अत्यंत चिंतित दिखीं।

"केवल चिंता करने से कुछ होगा नहीं, उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।"

"इस विषय में मुझसे क्या आशा करते हो?"

अब मैंने उनके कान में धीरे से कहा, "दुर्वासा ने जो आह्वान मंत्र आपको दिया था, वह तो आपको याद ही होगा?"

वह बहुत सोचकर बोलीं, "याद तो है।"

"तो एक दिन चुपचाप मध्य रात्रि में उठकर इंद्र का फिर आह्वान करो, बुआ! उनसे स्पष्ट कहो कि तुम्हारे पुत्र को मारने के लिए कर्ण संकल्पबद्ध है। उसके पिता सूर्य ने उसे ऐसा अभेद्य कवच और कुंडल दिया है, जिससे वह अपराजेय है।"

"तो वे क्या कर सकते हैं?"

"सूर्य अपने बेटे के लिए इतना कर सकते हैं तो उन्हें भी अपने बेटे के लिए कुछ करना चाहिए।"

"आखिर वे क्या कर सकते हैं?"

"क्यों नहीं कर सकते!" मैंने कहा, "उनसे कहिए कि किसी तरह आप कर्ण का कवच-कुंडल प्राप्त करिए।"

"पर यह तो बड़ा असंभव कार्य है। वह दैवी कवच उसके शरीर से ऐसा जड़ा है कि उसे निकाला नहीं जा सकता—और यही स्थिति तो कुंडलों की भी है।"

"यह चिंता आपको नहीं करनी है। आपको तो केवल इंद्र को चिंतित कर देना है।" मैंने कहा, "बुआजी, यदि उनके मन में बात बैठ गई तो वह कुछ भी कर सकते हैं। उनके जैसा मायावी देवता दूसरा नहीं।"

□

सात
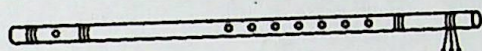
आकाश मेघाच्छन्न था। आधी रात के बाद से ही बूँदाबाँदी होने लगी थी। रह-रहकर शीतल हवा के झोंके शिविरों को कँपाते रहे। कभी-कभी उनका आक्रमण इतना तेज हुआ कि किसी-किसी शिविर के एकाध खंभे उखड़ गए थे। हर शिविर के बाहर आग जलाई गई थी।

यह प्राकृतिक-प्रकोप दिन की प्रथम घड़ी लगभग निगल गया। फिर बूँदाबाँदी बंद हुई। बादल भी फटे। स्पष्ट लगा कि अब धूप भी निकलेगी। पर हवा अब भी तेज थी। पूजन का दीप जलना कठिन था। पांडवों का मन पहले से ही आशंकित था। अर्जुन ने जयद्रथ को मार डालने की प्रतिज्ञा की थी, अन्यथा आत्मदाह करने का संकल्प लिया था। स्वयं में यह संशप्तक व्रत ही था। संशप्तक व्रत में जयद्रथ को ललकारकर कौरवों से अलग करना होता; पर ऐसा संभव नहीं हुआ, अन्यथा काम आसान हो जाता।

छंदक से सूचना मिली—''अर्जुन की प्रतिज्ञा की खबर जब से जयद्रथ को मिली है, वह व्यग्र हो उठा है। उसे अपनी मृत्यु निकट दिखाई दे रही है। इस युद्ध के पूर्व भी अर्जुन से उसका सामना हो चुका था। उसकी क्या गति बनाई गई थी, यह भी उसे याद है। इस घबराहट में उसने कुरुक्षेत्र से भाग चलने का निश्चय किया; क्योंकि वह इतना डरा था कि सोच रहा था कि मैं युद्ध करूँ या न करूँ, कहीं भी रहूँगा तो अर्जुन खोजकर मुझे मार डालेगा। एक बार तो वह मुझे छोड़ भी चुका है, पर इस बार यह संभावना नहीं है।

''इसकी भनक दुर्योधन को लगी। उसने सोचा, कल का सारा युद्ध जयद्रथ पर ही केंद्रित है। यदि वही चला गया तो आग जलने के पहले ही बुझी हुई मान ली जाएगी। फिर कुरुक्षेत्र में कौरवों का पैर जमना कठिन हो जाएगा।

''इसके बाद अपने दल-बल के साथ वह स्वयं जयद्रथ के शिविर में गया। उसे साहस दिलाया—'मेरे भगिनीपति होकर भी इतना घबरा रहे हो। अरे, मेरी

सारी सेना तुम्हारी रक्षा में लग जाएगी।' इस क्रम में उसने दुःशासन, भूरिश्रवा, कर्ण, अश्वत्थामा आदि वीरों के भी नाम गिनाए। 'ये सब तुम्हारी रक्षा में रहेंगे। फिर दोनों आचार्यों का एकमात्र लक्ष्य होगा तुम्हें बचाए रखना। यदि सेना की बलि देकर भी तुम बचा लिये गए तो भी विजय हमारी होगी। अर्जुन की चिता में हम सब अपनी काष्ठ हवि देंगे।' ''

छंदक का कहना था—''इससे जयद्रथ का भय थोड़ा कम हुआ। फिर भी वह असमंजस में था। तब दुर्योधन उसे द्रोणाचार्य के पास ले गया। उन्होंने उसे समझाया—'मेरे रहते तुम्हें डर किस बात का? तुम और अर्जुन दोनों मेरे शिष्य हो। दोनों को मैंने समान रूप से शिक्षा दी है। इसलिए इसे समान महारथियों की स्पर्धा समझकर स्वीकार करो।'

'' 'सारी शिक्षा समान होने पर भी मुझे नहीं लगता कि मैं उसके सामने टिक पाऊँगा।' जयद्रथ बोला।

'' 'आखिर क्यों?' दुर्योधन ने पूछा।

'' 'वस्तुतः यह उसकी शिक्षा से भयभीत नहीं है; यह भयातुर है उसके कठिन अभ्यास और तपस्या से।' '' छंदक ने बताया—''यह आवाज किसकी थी, मैं नहीं कह सकता। इसपर आचार्य बोले, 'जो कुछ किया जा सकता है, किया जाएगा। पर तुम्हारे युद्ध से हटने का तात्पर्य होगा कि दुर्योधन का भगिनीपति का युद्धक्षेत्र से भागना—और तुम्हारा अपयश तुम्हारी मृत्यु से भी अधिक कष्टकारक होगा। अब तुम्हें चुनना है। एक ओर है चुल्लू भर पानी में डूबता तुम्हारा जीवन और दूसरी ओर है स्वर्गगंगा में स्नान करती तुम्हारी मृत्यु। अब रह गया तुम्हें जीवित बचा लेने का जिम्मा, वह मैं लेता हूँ।' ''

मैंने उसी समय अर्जुन को बुलवाया और उसे वस्तुस्थिति बताई। वह भी थोड़ा चिंतित हुआ।

मैंने कहा, ''जो पहले से अधमरा है, उसके लिए चिंता करना क्या!''

''पर आचार्य उसे बचाने के लिए कोई कोर-कसर उठा नहीं रखेंगे।'' अर्जुन बोला, ''फिर आज मौसम की मुद्रा भी गड़बड़ है। वायु में काफी नमी है। हमारे आग्नेयास्त्रों की प्रहारक क्षमता भी कम हो सकती है।''

''प्रकृति की इस मुद्रा का क्या ठिकाना! चंचल जल पर बुलबुले जैसी।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''हो सकता है, यही प्रकृति तुमपर सदय हो जाए।''

□

आज द्रोणाचार्य ने अपनी सेना को शकट व्यूह में सजाना आरंभ कर दिया।

यह व्यूह रचना चक्र व्यूह रचना से ज़टिल भी है और आक्रामक होते हुए रक्षात्मक भी; पर पांडवों को इसकी कोई विशेष चिंता नहीं थी। आज उनके साथ अर्जुन भी था और मैं भी।

द्रोणाचार्य की यह सैन्य रचना बड़ी चालाकी से भरी थी। सामने कुछ कमजोर लोगों को रखकर उन्हें अपार सेना दी गई और भीतर की ओर जयद्रथ की रक्षा के लिए कर्ण, भूरिश्रवा, शल्य, वृषसेन, अश्वत्थामा एवं कृपाचार्य जैसे महावीरों को लगा दिया गया। सबसे आगे दुर्योधन का एक भाई दुर्मर्षण था।

सबसे पहले दुर्मर्षण ने ही ललकारा—"कहाँ है वह अर्जुन, जिसके शौर्य का प्रचार अपराजेय के रूप में किया जाता है?" उसकी मंशा थी कि अर्जुन पहले उससे युद्ध करे।

घनघोर युद्ध आरंभ हुआ। देखते-देखते दुर्मर्षण की सेना छितरा गई। व्यूह का अनुशासन भंग हुआ। मैंने अर्जुन से कहा, "दुर्मर्षण के वध की चिंता छोड़ो। व्यूह का दक्षिण अंश टूट चुका है। उधर से ही घुसो और तीर की तरह मध्य में पहुँचो। इसकी चिंता छोड़ो कि तुम घेर लिये जाओगे।"

अब पहला सामना दु:शासन से हुआ। वह भग्न व्यूह को ठीक करने के लिए बढ़ा था। भीषण युद्ध हुआ और भयंकर नर-संहार। बड़ा बीभत्स दृश्य था। कहीं रुंड तो कहीं मुंड। लाशों से धरती पटने लगी। मैं निर्मम होकर लाशों पर से ही रथ को इधर-उधर भगाता रहा।

दु:शासन को भी अनेक बाण लगे। उसकी सेना मध्याह्न होते-होते लगभग भाग चली। अब हम सीधे द्रोण के सामने थे। अर्जुन ने अपने गुरुदेव को प्रणाम कर कहा, "आचार्य, अपने पुत्र को गँवाकर मैं सीधे जयद्रथ की खोज में आया हूँ। शायद वह कायर आपकी छाया में है।"

"पर आज मुझे परास्त किए बिना उसे पाना असंभव होगा, अर्जुन! मैंने उसकी रक्षा का वचन दिया है।" और गुरु तथा शिष्य में घोर युद्ध होने लगा। आचार्य ने तो जैसे बाणों की वर्षा कर दी। उनमें कई मुझे भी लगे। अर्जुन ने भी अपनी पूरी शक्ति लगा दी; पर द्रोण जरा भी पीछे नहीं हटे। गुरु गुरु ही था।

मैंने अर्जुन से कहा, "आज तुम्हारा युद्ध द्रोण से नहीं है। उनके दाहिनी ओर से आगे बढ़ो।"

अपराह्न हो चला था। अब कुछ ही घड़ी हमारे पास शेष थी। आकाश में बादलों को परास्त कर सूर्य चमकने लगा था; पर यह चमक अधिक देर तक रहने वाली नहीं थी। पश्चिम से घने बादलों का एक टुकड़ा पूरे जोर-शोर से उठता

दिखाई दे रहा था। पश्चिम से ही बर्फीली हवा का झोंका तीर की तरह आ रहा था। पौष की यह कँपकँपी घायलों के लिए और भी कष्टदायक थी।

इतना सब करने के बाद भी जयद्रथ तक पहुँचना अब भी कठिन था। भूरिश्रवा और कृतवर्मा उसकी सुरक्षा के लिए आगे आ गए थे। दूसरी बात और थी, ज्यों-ज्यों दिन ढलता जाता था, कौरवों का उत्साह बढ़ता जाता था। इसके विपरीत पांडव कुछ बुझते दिखाई दिए। यह स्थिति भयावह थी।

मैंने अर्जुन से कहा, ''नया उत्साह भरने के लिए देवदत्त (शंख) बजाओ।''

फिर क्या! भीम, धृष्टद्युम्न, द्रुपद—सभी आ गए। सबने मिलकर कौरव सेना पर चढ़ाई कर दी। प्राणों का मोह छोड़कर कौरवों ने भी सामना किया। निस्संदेह एक भयंकर संग्राम से जूझना पड़ा।

उधर आकाश में भी दुंदुभी बजने लगी। मेघों ने सूर्य को घेर लिया। अँधेरा बढ़ा। ऐसा लगा जैसे संध्या हो चली है। कौरवों को अपना मंतव्य पूरा होता दिखाई दिया। उनकी आकृति पर प्रसन्नता की चंद्रिका बिखर गई।

द्रोण और दुर्योधन के शंख बजने लगे। उन्हें लगा कि उनका अभीप्सित मिल गया।

अर्जुन तुरंत चिल्लाया—''आप भूल में हैं! अभी संध्या नहीं हुई है।''

मैंने अर्जुन को डाँटा—''जो प्रकृति तुम्हारे अनुकूल बन रही है, तुम उसी को नकार रहे हो! चुपचाप स्वीकार करो कि संध्या हो रही है, बल्कि हो गई है।''

अब कौरव खुशी में बाँसों उछल रहे थे। एक तरफ युद्ध समाप्ति के लिए द्रोणाचार्य और दुर्योधन के शंख बजे। नियम के अनुसार पांडवों को भी युद्ध रोकना पड़ा।

कौरव पक्ष का हर व्यक्ति प्रसन्नता में नाच रहा था और पांडव पक्ष की हर आकृति बुझे दीप की तरह पश्चात्ताप का धुआँ उगल रही थी।

तब तक दुर्योधन जयद्रथ को लेकर आगे आया और हँसते हुए बोला, ''अर्जुन, अच्छी तरह देख लो, सिंधुराज जयद्रथ जीवित हैं। तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर पाए।''

मैंने भी कौरवों का समर्थन किया और अर्जुन से कहा, ''दुर्योधन की बात मानने के सिवा संप्रति तुम्हारे पास कोई उपाय नहीं।'' ठंडी हवा और तेज हो गई थी। मेरा पीतांबर उड़ा जा रहा था। पांडव पक्ष पर श्मशान जैसी शांति छा गई थी।

मैंने पीड़ा भरे स्वर में कहा, ''अब अर्जुन के आत्मदाह के लिए चिता बनाई जानी चाहिए।''

"बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम लोगों ने पहले से बना रखी है।" कौरव पक्ष के लोगों ने कहा।

अब अर्जुन अपने अस्त्र त्यागकर रथ से उतरने लगा।

मैंने उसे फिर सावधान किया—"पागल मत बनो। युद्धक्षेत्र में क्षत्रिय के शरीर से अंतिम समय तक अस्त्र लगा रहता है। कौन जाने कब आवश्यकता पड़ जाए!"

इस समय सभी पांडव अर्जुन के निकट आ गए थे। सभी की डबडबाई आँखों में विजय के सारे स्वप्न डूब गए थे। सब मेरी ओर बड़ी निरीहता से देख रहे थे। मैं अपनी प्रकृति के विरुद्ध आवश्यकता से अधिक गंभीर था।

"अब क्या विलंब है, कृष्ण? शुभ कार्य जितना शीघ्र हो उतना ही उत्तम।" दुर्योधन ने व्यंग्य करते हुए कहा।

मैंने पश्चिम की ओर देखा। प्रकृति की मुद्रा बदल रही था। बादल छँटने वाले थे।

मैं अर्जुन को लेकर कौरवों द्वारा बनाई चिता की ओर बढ़ा। कौरव पक्ष में आह्लाद का ऐसा विस्फोट और पांडव पक्ष में मृत्यु का ऐसा सन्नाटा अपूर्व था।

चिता के निकट पहुँचकर मैंने कौरव पक्ष से पूछा, "चिता में अग्नि कौन देगा?"

"इसके लिए तो मैं तैयार हूँ ही।" दुर्योधन हँसते हुए बोला।

"आप तो तैयार ही हैं।" मैंने कहा, "पर इस कार्य के दो ही अधिकारी हैं—या तो जयद्रथ या सेनापति द्रोणाचार्यजी!"

द्रोणाचार्य का नाम लेते ही सबकी दृष्टि उनकी ओर गई। वे दोनों हाथ मुख पर रखे रथ पर ढुलके पड़े थे; जैसे वह इस दृश्य को देख नहीं पा रहे हों। हर देखने वाले को वे पश्चात्ताप के जीवंत विग्रह दिखाई दिए। उनका मन बड़ी व्यथा से सोच रहा था कि आज उन्हींके कारण उनका प्रिय शिष्य मृत्यु का वरण कर रहा है।

तब तक जयद्रथ एक जलती हुई मशाल लेकर आ गया। अब लोगों की दृष्टि पुनः चिता की ओर गई; पर मैं पश्चिम का आकाश देख रहा था। मेरी व्यग्र दृष्टि प्रकृति की मुद्रा बदलने की प्रतीक्षा कर रही थी। संयोग देखिए कि इसी समय बादल का एक टुकड़ा हटा और सूर्य की चमक दिखाई दी।

मैं पागलों-सा चिल्लाया—"अभी तो दिन शेष है!" मैंने अर्जुन से कहा, "क्या देखते हो, मारो जयद्रथ को!"

फिर क्या था, अर्जुन ने बाणों की झड़ी लगा दी। कौरव पक्ष चिल्लाता

रहा—"यह अन्याय है, धोखा है!" पर अब कौन सुननेवाला था। जयद्रथ धराशायी हो गया।

इसके बाद युद्ध की समाप्ति का शंख बजा।

"देखो, यह न्याय की ध्वनि सुनाई दे रही है।" मेरा व्यंग्यात्मक उद्घोष कौरव पक्ष में बड़ी गहराई तक डूब गया।

□

अँधेरा तो बढ़ ही गया था, पर कौरव शिविर उससे भी गहरे अंधकार में डूबे थे। एक गंभीर सन्नाटा कुहरे के कंबल के नीचे दुबककर रह गया था। कौरवों को जयद्रथ की मृत्यु का दुःख जो था, सो था, पर उनकी कल्पना चूर हो गई थी। उनके लिए आज युद्ध समाप्त हो जाना था। विजय हाथ में आकर फुर्र हो गई थी। लहरों में नाव डूबती तो कोई बात नहीं, किनारे पर आकर डूब गई थी।

अर्जुन के मारे जाने पर आचार्य दुःखी अवश्य होते, पर उसके बच जाने और जयद्रथ के मारे जाने से प्रसन्न नहीं थे। उनकी सारी योजना असफल हुई थी। उन्होंने एड़ी-चोटी का पसीना आज एक कर दिया था। अब अगले दिन क्या किया जाएगा?

दूसरी ओर पांडव शिविर प्रसन्न तो था, पर उसकी प्रसन्नता प्रगल्भ नहीं थी। आज जो कुछ हुआ, वे सबका श्रेय मुझे दे रहे थे। इसे वे मेरे चमत्कारी व्यक्तित्व का परिणाम मान रहे थे। मेरा चमत्कार तो कौरवों पर भी छा गया था। मेरे ईश्वरत्व पर एक परत और चढ़ गई। सुना है, आज युद्ध समाप्त होते ही दुर्योधन शर-शय्या पर पड़े पितामह के पास भी गया था।

उन्होंने आज भी वही कहा, जिसे अनेक अवसरों पर कहा था—"मैं कह रहा था कि संधि कर लो। तुम्हारी यह पराजय युद्धक्षेत्र में नहीं हो रही है। तुम उसी समय युद्ध हार गए थे, जब तुम सबसे पहले सहायता के लिए द्वारका गए थे। अब भी तुम संधि कर लो। सबकुछ नष्ट होने से अच्छा है कि जो कुछ बचता है, उसे बचा लो।"

सुना है, ऐसी ही बातें द्रोण ने भी कहीं। उनका कहना था—"इस समय यदि हम संधि कर लेंगे तो अधिक लाभ में रहेंगे।"

इसपर दुर्योधन ने कहा था—"आप कुछ तो कर नहीं पाते, या करना नहीं चाहते, इसे तो आपका मन जानता है और संधि की रट लगाए रहते हैं।"

आचार्य के यहाँ से आकर दुर्योधन की व्यग्रता ने शकुनि एवं कर्ण को अपने यहाँ बुलवाया था और उनसे आचार्य तथा पितामह के परामर्श की चर्चा की थी।

शकुनि और कर्ण दोनों ने इस परामर्श को ठुकराते हुए कहा, "यह स्थिति संधि करने की नहीं है। अब तो जो होगा, देखा जाएगा। हम कौन सा मुँह लेकर पांडवों के पास इस समय जाएँगे? कहेंगे कि हार गए हैं और संधि के लिए आए हैं! आधी हार हारने से तो अच्छा है, पूरी हार हारना।"

मैं इन्हीं समाचारों से उलझा मंचक पर पड़ा था कि छंदक ने मुसकराते हुए कहा, "आपकी बुआजी आ रही हैं।"

हो सकता है, वे आज की विजय के लिए बधाई देने या आभार व्यक्त करने आ रही हों, मैंने सोचा।

"वे अकेली नहीं हैं, उनके पीछे तीन सैनिक भी आ रहे हैं।" छंदक ने बड़े रहस्यमय ढंग से बताया।

मेरी जिज्ञासा और बढ़ी। मैं कुछ और पूछूँ, इसके पहले ही कुंती बुआ मेरे शिविर में आ चुकी थीं।

उन्होंने सैनिकों से कहा, "इसको कन्हैया के आगे रख दो।"

सैनिकों ने बड़ी श्रद्धा से रेशमी वस्त्र में लिपटी वह वस्तु मेरे आगे रख दी।

मैंने बुआजी से पूछा, "यह क्या है?"

"मेरे जघन्य मातृत्व को झुलसा देनेवाले मेरे योग्यतम पुत्र की कृतज्ञता और दान का प्रतीक चिह्न।"

मैं कुछ-कुछ तो समझ गया। मैंने तुरंत उसे खोला। अरे, यह तो स्वर्ण कवच और कुंडल हैं। इसमें रक्त और मांस के चीथड़े अब भी लगे हैं। लगता है, कर्ण ने इसे बड़ी निर्ममता से नोचकर निकाल दिया।

मैंने बुआ से कहा, "काम तो आपने बहुत बड़ा कर डाला; पर यह हुआ कैसे?"

"यह मत पूछो, कन्हैया!" उनकी आँखें भर आईं—"मैं मर नहीं गई और सबकुछ हो गया। मैंने एक महापाप तो उसे जन्म लेते ही गंगा में बहाकर किया था। दूसरा महानतम पाप उसके विरुद्ध इंद्र से दुरभि करके किया। कैसे कर पाऊँगी इसका प्रायश्चित्त इस जीवन में?"

"इसे तो इंद्र को भी सोचना है न!"

"उन्होंने तो अपना प्रायश्चित्त कर लिया।" अब बुआजी ने पूरी घटना बताई। उन्होंने कहा, "जैसा तुमने कहा था, मैंने वैसे ही इंद्र का आह्वान किया। पहले तो वे किसी तरह तैयार नहीं हो रहे थे। उन्होंने कहा, 'कर्ण के प्रति यह धोखा है, महापाप है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। अर्द्धरात्रि में गौतम नारी

अहल्या के पास जाने का एक पाप का शाप तो मैं भोग ही रहा हूँ। अब इस पाप से तुम अभिशप्त कराना चाहती हो!'

"मैंने कहा, 'गौतम तो ऋषि थे। पर कर्ण तो साधारण मनुष्य है। उसमें शापित करने की वैसी शक्ति कहाँ!'

" 'तुम कर्ण को क्या समझती हो, कुंती!' इंद्र ने कहा, 'जो झूठ न बोलता हो, जिसमें सत्ता की लिप्सा न हो, जिसकी प्रजा किसी अभाव का अनुभव न करती हो, जो ब्राह्मणों को मुँहमाँगा दान देता हो, जो जीवन में कभी कृतघ्न न हुआ हो, वह किसी ऋषि या महर्षि से भी महान् है।'

"मैं तो इंद्र की यह बात सुनकर अवाक् रह गई।" कुंती बुआ ने बताया—"अब मैं कहती भी तो क्या कहती! मैंने बड़ी हिम्मत बाँधी और बोली, 'आप कह तो ठीक रहे हैं; पर इस समय आपके पुत्र के प्राण संकट में हैं। आपका क्या धर्म है? अब आप जैसा उचित समझें, करें।'

"तो उन्होंने उसके पास चलने का वही समय चुना, जब प्रातः सूर्य की आराधना करके वह ब्राह्मणों को दान देता है।" बुआ बोलती गईं—"इंद्र ब्राह्मण के वेश में चले। मुझे भी लेते गए; क्योंकि उनका सोचना था कि ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है, जिसका सामना मैं न कर सकूँ और तुम्हारी सहायता लेनी पड़े।...तो आगे-आगे वह और पीछे-पीछे मैं चली।"

"तो उनका क्षत्रीत्व कर्ण की तेजस्विता का सामना करने को तैयार नहीं था!" मैंने कहा।

"चाहे जो बात रही हो, पर मुझे उनके साथ जाना पड़ा।" बुआ बोलीं, "पर मैं कर्ण के सामने नहीं गई। दूर गुल्म और लताओं के पीछे चुपचाप बैठ गई। संयोग कुछ ऐसा था कि उस समय कर्ण से दान प्राप्त करने आए दो-चार ही ब्राह्मण थे। इंद्र पहले नहीं गए। वे तट के एक वृक्ष की आड़ में थे। आदित्य की साधना कर लेने के बाद जब कर्ण सभी ब्राह्मणों को दान दे चुका तब उसका अमात्य चिल्लाया—'और कोई ब्राह्मण है?'

"तब इंद्र ब्राह्मण के वेश में बड़े संकोच के साथ उसके सामने गए।

" 'बोलो, क्या चाहिए ब्राह्मण देवता?' कर्ण ने पूछा।

"पहले तो इंद्र के मुख से बोली नहीं निकली। वे बड़े संकोच में पड़े, कैसे माँगूँ और कैसे न माँगूँ!

" 'लगता है, आप कुछ संकोच में पड़ गए। ब्राह्मण माँगते समय इतना संकोच नहीं करता।' कर्ण बोला।

" 'बात यह है कि मैंने कभी किसीसे कुछ माँगा नहीं है।'

" 'यह तो आपकी मानसिकता से ही लगता है।' कर्ण बोला, 'मैंने आज तक ऐसा ब्राह्मण नहीं देखा, जिसने कभी किसीसे कुछ माँगा न हो।'

"इंद्र का कहना था कि इतना सुनते तो भीतर-ही-भीतर वह पानी-पानी हो गए। फिर उन्होंने स्वयं को सँभाला। कर्ण से कहा, 'मैं सोचने लगा हूँ कि माँगूँ कि न माँगूँ! क्योंकि मैं यदि मुँह भी खोलूँ और आप न दे पाएँ, तो मुझे बड़ा पछताना होगा—और आप संकल्पभ्रष्ट भी होंगे।'

" 'इसकी चिंता आप क्यों करते हैं! आप माँगिए, जो भी माँगना हो, माँगिए।'

" 'आप अच्छी तरह समझ लीजिए; क्योंकि आप अपने संकल्प को सूर्य आराधना करने के बाद गंगा में खड़े होकर दुहरा रहे हैं!'

" 'आपका मन इतना शंकाकुल क्यों है? ब्राह्मण तो कभी माँगने में इतना शंकाकुल नहीं होता।' इतना कहने के बाद कर्ण ने इंद्र को बड़े गौर से देखा। ऐसा लगा, उसकी दृष्टि माँगनेवाले को बहुत भीतर तक चुभती चली जा रही है। फिर एक प्रगल्भ मुसकराहट के साथ कर्ण बोला, 'जो माँगना हो, माँग लीजिए। कहीं ऐसा न हो कि आप संकोच में रह जाएँ और आपकी वास्तविकता सामने आ जाए।'

"अब तो इंद्र पर घड़ों पानी पड़ गया। वह एकदम पसीने-पसीने होने लगे। उन्होंने तुरंत माँगा—'आप अपने कवच और कुंडल दे दीजिए।' " बुआ कहती गईं—"इतना सुनते ही कर्ण ठहाका मारकर हँसा। बोला, 'मेरा सोचना ठीक निकला कि आप ब्राह्मण नहीं हैं; क्योंकि कोई ब्राह्मण मेरे कवच और कुंडल लेकर क्या करेगा! वह संपत्ति माँग सकता है, स्वर्ण और रत्न माँग सकता है; पर कवच और कुंडल नहीं।'

" 'इसका तात्पर्य है कि आप बहाना बनाकर मुझे मेरी अभीप्सित वस्तु देना नहीं चाहते।' इंद्र के इतना कहते ही कर्ण ने सूर्य की ओर देखा। उसकी आकृति द्विगुणित ओज से चमक उठी। उसने तुरंत दोनों कानों के कुंडल नोचे और इंद्र के काँपते हाथों पर रख दिए। फिर कमर से कटार निकाली और अपने शरीर में प्राकृतिक रूप से जड़ित स्वर्ण कवच को चीरकर निकाल दिया। सारा वक्ष लहूलुहान हो गया। उसने फिर सूर्य को प्रणाम किया तथा गंगा में एक डुबकी और लगाई। आसपास का सारा जल रक्ताभ हो गया। मैं उसे छिपे-छिपे देख रही थी। उस लालिमा के बीच एक विद्रूप हँसी हँसते हुए कर्ण मुझे रक्तकमल के मध्य झूमते पराग केसर की तरह आकर्षक दिखाई दिया।

''इंद्र भी जैसे सम्मोहित हो गए। उनमें इतना साहस नहीं था कि आगे बढ़कर कवच उठा लें।

'' 'अब क्या देखते हैं, ब्राह्मण देवता, अपनी अभीप्सित वस्तु उठाइए। मैंने तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, अब आप अपने वचन का निर्वाह कीजिए।'

''इंद्र ने काँपते हाथों से उस कवच और कुंडल को उठाया।

'' 'निश्चित रूप से आप ब्राह्मण तो नहीं हैं। अब तो आप अपना असली रूप दिखाइए। आपका काम तो हो गया।'

''इंद्र ने तुरंत अपनी नकली दाढ़ी-मूँछें हटा दीं। कर्ण और जोर से हँसा— 'मैं तो समझ ही रहा था कि आप इंद्र हैं। आपके सिवा इतना बड़ा छल कोई दूसरा नहीं कर सकता। फिर भी अपने पुत्र की रक्षा के लिए यह सब किया आपने। यह बहुत अनुचित नहीं है। हर पिता ऐसा करता है। पर आप भूल गए कि कर्ण भी किसी सीमा तक आपका पुत्र ही है।'

''इंद्र पर तो हजारों घड़े पानी पड़ गया। उन्हें लगा कि उनकी सारी अस्मिता एक मंगन भिखारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वार्थ की आग जब भभकती है तब पश्चात्ताप का धुआँ उसकी लपट के बहुत ऊपर तक जाता है। इंद्र भी इस समय उसी धुएँ से परेशान हो गए। उन्हें लगा कि इस समय क्या उनके पास हो और क्या वे उसे दे डालें।

'' 'मैं तुमपर कितना खुश और अपने पर कितना क्रोधित हूँ, सो कैसे बताऊँ!' इंद्र कहने को तो कह गए, फिर वह बड़े संकोच में पड़े और बोले, 'तुम भी मुझसे कुछ माँग लो।'

'' 'मैंने कभी किसीसे कुछ माँगा ही नहीं, अब आपसे क्या माँगूँ?'

''इसपर इंद्र ने बड़ी लज्जा और संकोच के साथ अपनी अमोघ शक्ति उसे दे दी और कहा, 'यह एकघ्नी है। बस एक ही बार इसका प्रयोग हो सकता है। जिसपर यह शक्ति मारी जाएगी, उसका अंत निश्चित है; पर उसके अंत के बाद यह मेरे पास लौट आएगी।' ''

बुआजी के चुप होते ही मेरा सपना टूटा। अब तक मैं जैसे कोई स्वर्गिक पुरुष का चरित्र सुन रहा था। धरती पर तो मुझे ऐसा कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया। मेरे मन ने कहा कि कर्ण, तुम सचमुच महान् हो।

फिर मैं सोचने लगा कि इस पूरे नाटक का निष्कर्ष मेरे पक्ष में होकर भी मेरे पक्ष में नहीं रहा। मैंने बुआजी से कहा, ''इतना सब करने के बाद भी हम जहाँ थे वहीं रह गए।''

बुआजी ने पूछा, ''वह कैसे?''

''अरे, पाँच भाइयों में से चार भाइयों के लिए वह अभयदान पहले ही दे चुका है। ले-देकर केवल अर्जुन की रक्षा का प्रश्न था। पहले उसे कर्ण के कवच-कुंडल से खतरा था। अब इंद्र की दी हुई एकघ्नी का संकट उसपर मँडराता रहेगा। नाव किनारे आकर भी घाट पर नहीं लग सकी।''

कुंती बुआ मौन सोचती रह गईं।

□

कौरव पक्ष कल उदासी में ही सोया, आज उससे भी गहरी उदासी में जागा। पता नहीं कैसे समाचार को पंख लग गए कि कर्ण अपने कवच-कुंडल किसी ब्राह्मण को दे बैठा है। सुना है, इस समाचार को सुनते ही दुर्योधन जैसे विक्षिप्त-सा हो गया। जिस डाली पर आशा का नीड़ था, वही टूटकर गिर गई। उसने तत्क्षण कर्ण को बुलाया। लोगों का कहना था कि वह कुछ समय तक कर्ण को देखता ही रह गया। कुंडलहीन आकृति सूँड़ कटे हाथी की तरह लगी। उसकी अभावजन्य उदासी ने उसे तिलमिला दिया।

उसने वैसी ही व्यग्रता में कहा, ''जरा वक्ष पर से वस्त्र हटाओ।''

कर्ण ने मुसकराते हुए हटा दिया।

''यह क्या किया तुमने?''

''कवच-कुंडल ब्राह्मण को दान कर दिया।''

''इसी समय उसे दान करना था?''

''दान का भला कोई समय होता है! एक ब्राह्मण ने बड़ी चतुराई से उसकी याचना की और मैंने दे दिया।''

''आखिर ब्राह्मण कवच-कुंडल लेकर क्या करेगा?''

''यह तो वह जाने।''

दुर्योधन झुँझलाते हुए पूछता रहा और कर्ण मुसकराते हुए उत्तर देता रहा।

''इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हें अब अर्जुन के हाथों ही मरना है।''

''यह तो भविष्य ही बताएगा कि कौन किसके हाथों मरेगा!'' इसी क्रम में उसने बताया—''मुझे एक शक्ति 'एकघ्नी' मिल गई है। वह जिसपर चलाई जाएगी, उसे संसार की कोई शक्ति बचा नहीं सकती। उसका प्राणांत निश्चित है। किंतु उसके वध के बाद तुरंत लुप्त हो जाएगी।''

दुर्योधन की आशा की डगमगाती नाव थोड़ी स्थिर हुई। फिर भी उसने बड़ी वेदना से कहा, ''कर्ण, तुम कवच-कुंडल खोकर आधे हो गए हो।''

''न कभी मैं पूरा था और न कभी मैं आधा होऊँगा।'' कर्ण अब भी मुसकरा रहा था।

कर्ण की प्रसन्नता के बावजूद कौरव पक्ष बड़ा दुःखी था। शकुनि को तो ऐसा लग रहा था कि वह पासा फेंकने के पहले ही एक दाँव हार गया।

जब पांडव पक्ष को इसका पता चला तो उन लोगों ने इस घटना को दैवी कृपा से प्राप्त एक सामान्य उपलब्धि की तरह स्वीकार किया।

युधिष्ठिर ने तो दाँतों तले अँगुली दबाई। बोले, ''इतना बड़ा दानी है कर्ण! उसने तो शिवि, दधीचि, हरिश्चंद्र आदि को भी पीछे छोड़ दिया। कौरव पक्ष में वही एक ऐसा व्यक्ति है, जिसके जीवन और व्यक्तित्व में कहीं कोई खोट नहीं। मन तो उसके चरण छू लेने को कहता है।''

मैंने सोचा कि इस मन:स्थिति में यदि धर्मराज रहेंगे तो शायद इनकी आक्रामकता का तीखापन कम हो जाए। मैंने उन्हें सावधान करते हुए कहा, ''कर्ण के प्रति हमारा प्रणम्य भाव आप जैसा ही है; पर इस समय वह हमारा शत्रु है। शत्रु के प्रति हमें पूरी निर्ममता से पेश आना होगा; क्योंकि आज से युद्ध की विभीषिका शिखर की ओर बढ़ेगी। युद्ध के हर नियम की हत्या होगी। मृत्यु का तांडव होगा। अनैतिकता नंगा नाच करेगी। हमें बुझते दीप की भभकती लौ का सामना करना पड़ेगा।''

''तो ऐसे में क्या करना चाहिए?''

''हमें बंदरिया के मरे बच्चे की तरह व्यर्थ में नैतिकता को छाती से चिपकाए नहीं रहना चाहिए।''

मेरे इस कथन पर युधिष्ठिर चिंतित हो गए। उन्होंने कहा, ''जीवन भर धर्म का पालन करने के बाद अब अनैतिकता की ओर चरण बढ़ाऊँ!''

मैं मुसकराया। मैंने कहा, ''आपकी अनैतिकता भी धार्मिकता की परिधि में रखी जाएगी।''

अब अनैतिकता इस सीमा तक आ गई थी कि सूर्यास्त के बाद भी युद्ध चलता रहा। दुर्योधन का कहना था कि जयद्रथ के संदर्भ में हम सूर्यास्त को लेकर धोखा खा चुके हैं। अब स्थिति यह थी कि जब तक लोग थककर चूर नहीं हो जाते थे, या किसी पक्ष का पैर नहीं उखड़ जाता था, तब तक युद्ध चलता रहता था। आज तो एक घड़ी रात के बाद युद्ध विराम का शंख बजा।

युद्ध के तेरहवें दिन एक ऐसी स्थिति आई, जिसने मुझे फिर विचलित कर दिया। भूरिश्रवा और सात्यकि में कई घड़ी तक लगातार युद्ध चलता रहा। अंत में

मुझे स्पष्ट लगा कि सात्यकि शिथिल हो रहा है।

मेरे साथ अर्जुन भी यह स्थिति देख रहा था। वह बड़े असमंजस में था कि दो व्यक्तियों के युद्ध में मैं कैसे कूदूँ? उसने मुझसे पूछा, ''क्या दो व्यक्तियों के युद्ध में मेरा पड़ना युद्ध के नियम के विरुद्ध नहीं होगा?''

तब तक भूरिश्रवा सात्यकि को धराशायी कर उसे अपने एक पैर से दबा चुका था।

अब मैंने अर्जुन को ललकारा—''क्या देखते हो! सात्यकि की रक्षा करो। अरे, किसीने युद्ध के नियमों का पालन तुम्हारे बेटे का वध करते समय किया था कि तुम असमंजस में हो!''

फिर क्या था, अर्जुन ने भूरिश्रवा पर बाणों की बौछार कर दी। उसका हाथ काट डाला। वह निहत्था हो गया। उसने क्रुद्ध सर्प की तरह मुड़कर अर्जुन को फुफकारा और उसे युद्ध के नियमों की याद दिलाई। अर्जुन ने भी उत्तर दिया कि जब तुम मेरे पुत्र का वध कर रहे थे तब किस नियम का पालन कर रहे थे?

भूरिश्रवा को पता चल ही गया था कि अर्जुन को मैंने ही उकसाया है। उसने मुझे बहुत भला-बुरा कहा; पर मैं मुसकराता ही रहा। अर्जुन का प्रहार चलता रहा। पर अब भूरिश्रवा लड़ने के पक्ष में नहीं था। वह युद्धभूमि में पद्मासन लगाकर बैठ गया और झुँझलाकर बोला, ''मैं इस अन्याय के विरोध में प्रायोपवेशन व्रत करूँगा।''

क्षण भर के लिए युद्ध रुक गया। पर सात्यकि अपमान की पराकाष्ठा पर क्रोध में अब भी काँप रहा था। उसे पता नहीं क्या सूझा कि हम लोगों के रोकने पर भी उसने भूरिश्रवा का सिर काट दिया। उस दिन का युद्ध समाप्त हो गया।

हम विजयी होकर भी पराजित अनुभव कर रहे थे और कौरव क्रोधाग्नि में झुलसने लगे थे। मैंने समझ लिया कि कल का युद्ध और भयानक होगा। दुर्योधन किसी भी तरह अर्जुन से बदला लेना चाहेगा। कहीं कर्ण ने 'एकघ्नी' का प्रयोग कर दिया तो क्या होगा?

अचानक मुझे एक उपाय सूझा। मैंने भीम से कहा, ''तुम अपने पुत्र घटोत्कच को मेरे पास भेजो। मैं उससे कुछ परामर्श करना चाहता हूँ।''

भीम हँस पड़ा। बोला, ''आप उससे परामर्श करेंगे, राक्षस के बेटे से!''

''अभी तक तो मैं उसे तुम्हारा ही बेटा समझता था।'' मैंने व्यंग्य किया।

''बेटा तो मेरा ही है, पर राक्षसिन के गर्भ से पैदा हुआ है।'' भीम बोला, ''उसमें राक्षसी प्रवृत्तियाँ ही प्रमुख हैं।''

"हमें इस समय राक्षसी वृत्ति की ही आवश्यकता है; क्योंकि अब युद्ध रात तक चलता है—और रात में राक्षसों का मायायुद्ध प्रबल हो जाता है। इसी संबंध में मैं उससे बातें करना चाहता हूँ।"

घटोत्कच तुरंत बुलवाया गया। मैंने उससे कहा, "बेटा, स्थिति तो तुम देख ही रहे हो। युद्ध का ऊँट किस करवट बैठेगा, कहा नहीं जा सकता। प्रतिदिन हम किसी-न-किसी की बलि दे रहे हैं। फिर भी रणचंडी का खप्पर अभी भरा नहीं है।" थोड़े समय के लिए मैं बड़े नाटकीय ढंग से चुप हो गया। फिर बड़ी गंभीरता से बोला, "गुप्तचरों ने अभी एक बड़ी भयंकर सूचना दी है।"

"क्या?"

"कैसे कहूँ!" मैं बोला, "उन लोगों ने कल तुम्हारे पिताजी को घेरकर वैसे ही धराशायी करने की योजना बनाई है जैसे अभिमन्यु के लिए योजना बनाई थी; लेकिन यह बात मैंने किसीसे कही नहीं है, क्योंकि सुनते ही लोग उत्तेजित भी हो सकते हैं और हतोत्साहित भी। ये दोनों स्थितियाँ इस समय हमारे प्रतिकूल होंगी। नाव काफी डाँवाँडोल है। इसी संबंध में मैंने तुम्हें बुलाया है।"

"तो बस, आज्ञा करें कि मुझे क्या करना है?"

"वही तो बता रहा हूँ।" मैंने कहा, "अब तुम देख रहे हो कि युद्ध रात तक होता रहता है। मशालें जल जाती हैं और बाण चलते रहते हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हारी बड़ी आवश्यकता है। पांडव पक्ष में तुम्हीं ऐसे हो, जो मायावी युद्ध जानते हो। तुम्हें यह कला मातृपक्ष से दाय के रूप में मिली है।"

"आप बिलकुल व्यग्र न हों।" उसने बड़े उत्साह से कहा, "यदि लोगों ने अभिमन्यु का पराक्रम देखा है तो अब वे मेरा भी देखेंगे। यदि रात्रि हो गई और युद्ध चलता रहा तो कौरव पक्ष का विनाश ही समझिए।"

इसके बाद मैंने उसे आशीर्वाद दिया और फिर सावधान भी किया कि इस विषय में किसीको कुछ ज्ञात नहीं होना चाहिए।

फिर मैं स्वयं पांडव शिविर में गया। उन्हें भी आज के युद्ध के लिए तैयार किया और कहा, "आज मुझे युद्ध का फन पकड़ना है।"

"क्यों, आपको कोई विशेष सूचना मिली है क्या?"

"सूचना तो ऐसी कोई नहीं मिली है; पर यह मेरा आग्रह है।" इतना सुनते ही पांडव पक्ष गंभीर हो गया। फिर मैंने कहा, "आज का युद्ध पूरी तरह आक्रामक होना चाहिए—और रक्षात्मक पंक्ति में कोई होगा तो वह एकमात्र अर्जुन।"

औरों ने तो कुछ नहीं कहा, पर अर्जुन का विस्मय बोल उठा—"आज क्या

उलटी गंगा बहेगी, माधव?''

''व्यर्थ विवाद नहीं। आज जो मैं कहता हूँ वही होगा; क्योंकि सारथि मैं हूँ। कब कहाँ से लड़ना है, इसका निश्चय मैं करूँगा। तुम केवल युद्ध करो।'' मेरा स्वर अनुशासनात्मक था।

पांडवों ने अपनी व्यूह रचना कुछ इसी प्रकार की और वे आरंभ से आक्रामक भी रहे; पर कौरव भी पीछे हटते दिखाई नहीं दिए। दोपहर होते-होते सात्यकि ने दुःशासन को धर दबाया। उसे धराशायी कर उसकी छाती पर सवार हो गया। निश्चित रूप से दुःशासन का अंत दिखाई दिया; पर पता नहीं क्या सोचकर सात्यकि ने यह कहते हुए उसे छोड़ दिया—''जाओ, मैं आज तुम्हें छोड़ता हूँ; क्योंकि मैं दूसरे का आखेट नहीं मारता।''

दुःशासन इतना भयभीत हुआ कि उस दिन युद्धक्षेत्र छोड़कर भाग गया। मुझे भी आश्चर्य था कि सात्यकि ने सर्प का फन पकड़कर, उसे मरोड़कर जीवित क्यों छोड़ दिया।

उसका कहना था—''मुझे अचानक याद आया कि यदि मैं इसके प्राण ले लूँगा तो भीमसेन के संकल्प का क्या होगा। इसलिए मैंने दूसरे का शिकार मारना उचित नहीं समझा।''

मैंने सात्यकि की बड़ी प्रशंसा की—केवल इसलिए नहीं कि उसने दूसरे का शिकार छोड़ दिया था वरन् इसलिए भी कि भयंकर क्रोध में भी उसने बुद्धि का संतुलन नहीं खोया।

□

सचमुच आज का युद्ध भयानक था। दोनों ओर से आग्नेय अस्त्रों का खुलकर प्रयोग हुआ। संध्या हुई। धरती तो रक्तमय थी ही, आकाश भी रक्तवर्णी हो गया। धीरे-धीरे सूर्य डूब गया; पर आज युद्ध का सूर्य नहीं डूबा। वह अँधेरे में भी चलता रहा।

अब घटोत्कच ने वह मायावी युद्ध छेड़ा, जिसके लिए कौरव तैयार नहीं थे। अद्भुत था वह घटोत्कच का युद्ध। कभी यहाँ, कभी वहाँ और कभी आकाश में। लोग चमत्कृत रह गए। यह एक घटोत्कच है या कई। चारों ओर जैसे बाणों की वर्षा होने लगी। अभी तक कौरवों ने अभिमन्यु का पराक्रम देखा था। आज वे घटोत्कच के आक्रमण से विचलित हो रहे थे।

फिर भी मैंने ललकारा—''अद्भुत है, वत्स, वीर माताएँ इसी दिन के लिए अपने पुत्र को पैदा करती हैं।''

इतना सुनना था कि घटोत्कच महाकाल हो गया।

कौरवों पर इसके पूर्व ऐसी मार कभी नहीं पड़ी थी। उनके पैर लड़खड़ा गए। दुर्योधन को लगा कि अब तो मेरे थोड़े ही भाई रह गए हैं। कहीं वे भी आज ही न मार डाले जाएँ। उसने द्रोणाचार्य से कुछ करने का आग्रह किया।

द्रोणाचार्य ने कहा, ''जो भी संभव था, वह तो किया ही। अब असंभव भी करके देख लिया। लगता है, यह आज रात मारा नहीं जाएगा। मायावी युद्ध के इस आक्रमण को रात्रि में धराशायी नहीं किया जा सकता। कल दिन में देखा जाएगा।''

''कल का दिन हम देख पाएँगे, तब तो!'' दुर्योधन बोला।

''तब इसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ?'' द्रोणाचार्य ने झुँझलाते हुए कहा।

''आप सेनापति हैं। आप नहीं कर सकते तो कौन करेगा?'' दुर्योधन की इस बड़बड़ाहट में क्रोध से अधिक निराशा थी। पर वह क्या करता, चुपचाप वहाँ से हट गया।

जब देखा कि अब कोई चारा नहीं है तब दुर्योधन कर्ण के पास गया। वह भी रक्त से लथपथ था। इस समय स्पष्ट लगा कि कवच-कुंडल खोकर कर्ण कितना असहाय हो गया। लड़ते-लड़ते उसमें भी शिथिलता आ रही थी।

इस समय भी मैंने अर्जुन को पीछे ही रखा और धृष्टद्युम्न को संकेत किया कि शेष पांडवों को आगे बढ़ाओ। अब भीम के 'वायव्य' धनुष ने बाणों की झड़ी लगाई। दुर्योधन अपना संतुलन खोने लगा।

उसने कर्ण से कहा, ''अब तुम अपनी अमोघ शक्ति मारो, अन्यथा घटोत्कच हम सबका सफाया कर देगा।''

अंत में लाचार होकर कर्ण को 'एकघ्नी' चलानी पड़ी। घटोत्कच आकाश से चीख मारता हुआ एक भयंकर उल्का की तरह गिरा। लोगों को लगा कि आकाश मार्ग से जाते हुए हनुमान के हाथ से छूटकर पहाड़ गिरा हो और वह ज्वालामुखी हो गया हो।

इसी समय मैंने अपना पांचजन्य बजाया। कौरवों की ओर से भी शंखध्वनि हुई। यों विजय के शंख दोनों ओर से बज रहे थे, पर मेरे शंख में लोगों को पराजय की आवाज सुनाई दे रही थी।

जब हम लौटे तो पांडव बड़े दुःखी थे। अंतिम क्षण तक युद्ध उनके हाथ में था; पर पराजय ही उनके हाथ लगी। और तो और, अर्जुन भी दुःखी था। भीम की दशा सबसे अधिक खराब थी। वह रो भी रहा था और अपनी गदा क्रोध में धरती

पर पटक भी रहा था। रौद्र और करुण का यह मिलन आग और पानी का मिलन था, जिसके वाष्प में पांडव शिविर घुट रहे थे।

वस्तुत: आज कौरव भी हारे थे और पांडव भी। यदि कोई जीता था तो मैं था और हारा था तो कर्ण था। सुना है, जब कर्ण के शिविर में दुर्योधन आदि बधाई देने पहुँचे तो वह एकदम झुँझला गया—"आप लोग बड़े प्रसन्न हैं; पर मैं आज सबसे अधिक दु:खी हूँ। मेरा लक्ष्य भ्रष्ट हुआ। मैं संकल्पच्युत हो गया। मुझसे अर्जुन की मृत्यु घटोत्कच के द्वारा छिन गई।"

अब कौरव पक्ष की समझ में आया कि आज के युद्ध में उसकी क्या हानि हुई; पर पांडव अब भी नहीं समझ पा रहे थे कि वह किस लाभ में रहे। मैंने उन्हें नहीं छेड़ा। पीड़ा के प्रथम प्रवाह को चुपचाप निकल जाने दिया। जब घायलों की मरहम-पट्टी के बाद लोग युधिष्ठिर के शिविर में इकट्ठा हुए, तब मैं भी वहाँ पहुँचा। बुझे हुए दीपकों के बीच एक धुआँ उगलती ज्वाला अब सुलग रही थी। वह था घटोत्कच का पिता भीमसेन।

मैंने उसे सांत्वना देते हुए कहा, "आपको बिलकुल दु:खी नहीं होना चाहिए। आपके पुत्र ने ऐसी वीरगति पाई है, जो शायद ही किसीको मिलती हो।"

"हाँ-हाँ, आए हो मुझे समझाने!" भीम के मनस्ताप में उबाल आया—"वह वीरगति मुझे क्यों नहीं मिली?"

"वह तुम्हें नहीं मिल सकती थी।" मैं बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया। फिर मैंने कर्ण का संकल्प बताया। मैंने यह तो नहीं बताया कि कर्ण ने ऐसा संकल्प किसके सामने किया था; क्योंकि ऐसा बताने से सारा-का-सारा वह उघड़ जाता, जिसे अब तक छिपाया गया था।

अब पांडव पक्ष की पीड़ा को थोड़ी राहत मिली। आँसू थमे। तब मैंने सबको सुनाते हुए भीम से कहा, "आपके पुत्र ने केवल वीरगति ही नहीं पाई है, बल्कि उसने अपने प्राण अपने चाचा के जीवन पर उत्सर्ग कर दिया। घटोत्कच का जीवन इससे अधिक सार्थक क्या हो सकता है! अर्जुन के लिए रखी सुरक्षित मृत्यु आज कर्ण के हाथ से निकल गई। आज कर्ण का मन ही जानता होगा।"

पांडवों की मानसिकता में चामत्कारिक परिवर्तन हुआ। भीम की आँखों में एक अपूर्व चमक दिखाई दी।

"अब आप कल के युद्ध की चिंता कीजिए। अब अर्जुन भी आगे बढ़कर लड़ेगा।" मैंने मुसकराते हुए कहा और अर्जुन की आँखें नीची हो गईं। उसे इस बात की ग्लानि थी कि आज वह अपने भ्रातृज के प्राणों के मूल्य पर जीवित है।

□

अगले दिन का युद्ध और भी भयंकर था। एक ओर तो कौरव पक्ष कल की झूठी जीत से उत्साहित था और दूसरी ओर आचार्य द्रोण आज भीषण रूप से आक्रामक थे। हो सकता है, उनकी दुर्योधन से कुछ बातें हुई हों। उधर भीम की गहरी मार कृतवर्मा पर पड़ रही थी। वह भीम के बाणों से ऐसा घायल हुआ कि युद्धक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। सात्यकि ने उसके भागने की सूचना मुझे भी दी। उसके कथनानुसार—कृतवर्मा ऐसा घायल नहीं था कि युद्धक्षेत्र छोड़ दे।

"कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो दिखाई देता है, वह कारण होता नहीं।" इसके बाद फिर बात आगे नहीं बढ़ी। वह युद्ध में संलग्न हो गया।

पर दूसरी ओर उसका परिणाम यह हुआ कि भीम अधिक उत्साहित होकर युद्ध करने लगा। वह अर्जुन के साथ ही द्रोण पर आक्रामक हुआ। फिर भी आज आचार्य को रोक पाना धधकते ज्वालामुखी को ढकना था।

द्रोणाचार्य को रोकने के लिए मैंने अर्जुन को ही आगे बढ़ाया; पर आज गुरु हर दृष्टि में शिष्य से भारी पड़ रहे थे। अभी मध्याह्न नहीं हुआ था, फिर भी हमारी सेना आचार्य की मार से छितरा गई। तबाही मच गई।

अब मैंने अर्जुन से कहा, "बिना आचार्य को धराशायी किए काम नहीं बनेगा। लगता है, वे आज ही युद्ध को किनारे लगा देंगे। आज काल भी उन्हें परास्त नहीं कर सकता, जब तक उनके हाथ में अस्त्र हैं।"

"ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?"

तुरंत आचार्य के बताए पर मेरा ध्यान गया। मैंने कहा, "ऐसा कुछ करना चाहिए कि आचार्य शोकमग्न हो जाएँ और अस्त्र स्वयं उनके हाथ से छूट जाए।" मैंने उसे सुझाव दिया—"तुरंत यह अफवाह उड़ाओ—अश्वत्थामा मारा गया।"

"क्या यह ठीक होगा?"

"अब तक जो हुआ है, क्या वह ठीक था?" मैं झुँझलाया—"ठीक और अठीक का बाद में निर्णय होता रहेगा। इस समय जैसा मैं कहता हूँ वैसा निर्णय करो।"

यह बात बगल के ही रथ पर भीम सुन रहा था। वह तुरंत वायु वेग से मालव नरेश इंद्रवर्मा की ओर बढ़ा और उसपर मार शुरू कर दी। उसने घुमाकर गदा मारी। वह उसके हाथी 'अश्वत्थामा' के मस्तक पर लगी। वह अश्वत्थामा हाथी मारा गया। शीघ्र ही इस शोर ने द्रोण के रथ को चारों ओर से घेर लिया। फिर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने धर्मराज से पूछना चाहा। अब मेरे सामने एक

दूसरा संकट खड़ा हो गया। कहीं इस सूचना का समर्थन युधिष्ठिर ने नहीं किया, तब हम झूठे हो जाएँगे तथा द्रोण का प्रहार और भी तेज हो जाएगा।

मैंने युधिष्ठिर से कहा, ''इस बार आपने नहीं सँभाला तो अनर्थ हो जाएगा।''

''पर झूठ नहीं बोलूँगा।''

''जितना सत्य है उतना ही बोलिए।'' मैंने कहा, ''इतना तो सत्य है कि अश्वत्थामा मारा गया?''

उन्होंने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

''तब जोर से कहिएगा—'अश्वत्थामा हतो'।''

''असत्य को भी सत्य की तरह व्यक्त करना सत्य के साथ धोखा है।'' युधिष्ठिर बोले।

''तब आप एक काम कीजिए। आप इतना ही अंश जोर से कहिए—'अश्वत्थामा हतो'। अपने सत्य की रक्षा के लिए आप चाहें तो यह भी कहिए—'नरो वा कुंजरो वा'। पर यह कहते हुए अपनी आवाज धीमी कर दीजिएगा।''

फिर भी वे सोचने लगे।

तब मैंने कहा, ''जल्दी कीजिए। आपके पास और कुछ सोचने का समय नहीं है। कुछ ही क्षण आपके हाथ में हैं। अश्वत्थामा अभी दूर है, किसी तरफ से आ जाएगा तो सारा नाटक चौपट हो जाएगा।''

'अश्वत्थामा हतो', 'अश्वत्थामा हतो' का स्वर अभी गूँज ही रहा था कि उसी स्वर में युधिष्ठिर ने भी अपना स्वर मिला दिया। एकदम हो-हल्ला हो गया। मैंने भी जोर से पांचजन्य फूँका। बगल के व्यक्ति को भी यह आवाज सुनाई न पड़ी कि 'नरो वा कुंजरो वा'; फिर भला द्रोण के कानों तक कैसे पहुँचती।

अब तो यह समाचार सत्यापित हो चुका था कि अश्वत्थामा मारा गया। अब आचार्य पुत्र का वियोग सह नहीं पाए। इकलौता बेटा था, वह भी चला गया। अब जीकर क्या करूँगा? वे अस्त्र त्यागकर ध्यानावस्थित हो गए।

अर्जुन तो बाण पर बाण मारे जा रहा था; पर सब पत्थर से टकराकर फूल की तरह व्यर्थ होते जा रहे थे। अब मैंने धृष्टद्युम्न को ललकारा—''तुम्हारा जन्म ही द्रोण के वध के लिए हुआ है। तुम पुत्रेष्टि यज्ञ के परिणामस्वरूप अयोनिज हो। अपने पिता का उद्देश्य पूरा करो।''

उसे बस याद दिलाने भर की देर थी। वह आगे बढ़ा—और असि के एक ही प्रहार से ध्यानावस्थित आचार्य द्रोण का सिर धड़ से अलग हो गया। रुंड एक

ओर और मुंड दूसरी ओर गिरा।

मेरा पांचजन्य फिर बजा। यह विजयध्वनि थी। सेनापति गिर गया था। युद्ध बंद हो गया। मुँह लटकाए कौरव अपने शिविरों की ओर लौट चले; पर पांडव उत्साहित थे। यदि किसीके चेहरे पर कोई भी उत्साह नहीं था तो वे थे धर्मराज। मैंने समझ लिया कि युधिष्ठिर को विषाद ने घेर लिया है।

विषाद की भूमि पर ग्लानि का अंकुर बड़ी जल्दी फूटता है। यह मानसिकता सांसारिकता के प्रति बड़ी घातक होती है। इस स्थिति में धर्मराज युद्ध से विरक्त भी हो सकते थे। हम उनके रथ के पीछे-पीछे चले।

हम लोग उन्हींके साथ और उन्हींके शिविर के पास उतरे। भीतर आकर वे चुपचाप पर्यंक पर लेट गए। हम लोगों को बैठने के लिए कहने की भी औपचारिकता नहीं बरती। अर्जुन उनके पैर के पास बैठा और मैं निकट के मंचक पर।

एक सन्नाटा कुछ देर तक हम लोगों को घेरे रहा।

कुछ देर बाद वे ही बोले, ''आप सब भले ही विजय का अनुभव कर रहे हों, पर मैं तो पराजित होकर लौटा हूँ; क्योंकि मैं भले ही न मारा गया होऊँ, पर आज मेरा धर्म मारा गया है, मेरा सत्य मारा गया है।''

''पर मैं तो समझता हूँ कि न तो आप पराजित हुए हैं और न आपका धर्म, न आपका सत्य।'' एक प्राचीन संदर्भ लेते हुए मैं बोलता गया—''जब समुद्र-मंथन के समय हलाहल निकला, तब देवताओं और असुरों दोनों का जीवन संकट में पड़ गया। अब सृष्टि का क्या होगा? अब शिव की शरण में जाने के सिवा उनके पास कोई चारा नहीं था। दोनों शिव के पास गए! उनसे संकट निवारण की प्रार्थना की। उन्होंने वह हलाहल पी लिया; पर उसे पेट में नहीं जाने दिया, कंठ में ही रखा। वैसे ही पांडवों के संकट के समय आपके सत्य ने हलाहल पिया; पर उसे पेट में जाने नहीं दिया, उसे कंठ में ही रखा। इससे आपका सत्य मरा नहीं, वह तो अमर है।''

युधिष्ठिर की आकृति पर मुसकराहट उगी। वे बोले, ''मुझसे ही परिहास करते हो, कन्हैया!''

□

आठ
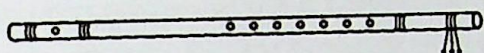
मेरे एकांत के अधिक क्षण आत्मविश्लेषण में बीतते थे या भोगे हुए अतीत की स्मृति में, जो धुँधला होकर भी एकांत में चमकने लगता है। स्मृति के घेरे में आकर विस्मृति बड़ी मोहक हो जाती है। पर इस समय तो वर्तमान ने ही मुझे घेर लिया था। कहीं-न-कहीं यह बात मेरे मन में बैठ गई थी कि आज जो मैंने किया, वह अच्छा नहीं किया। पर इसके अतिरिक्त और कुछ किया भी तो नहीं जा सकता था। द्रोणाचार्य की अवध्यता के कारण मुझे सत्य को असत्य और असत्य को सत्य बनाना पड़ा। धर्मराज जैसे निष्कलुष व्यक्तित्व को दागदार करने के लिए विवश होना पड़ा। पश्चात्ताप के पारदर्शक धुएँ से घिरा मेरा मौन बहुत देर तक अपराधी के कटघरे में मुझे खड़ा रखे था कि अचानक किसीके आने की आहट लगी।

रात का प्रथम प्रहर बीत चुका था। दूसरा बीतने को था। मुझे पहचानते देर न लगी कि यह अश्वत्थामा है। यद्यपि वह अत्यधिक बदला हुआ दिखाई दे रहा था। ग्रीष्म में जंगलविहीन पर्वत की तरह उसकी आकृति तपती दिखाई पड़ी।

आते ही वह भभका—"मैं तुमसे कुछ पूछने आया हूँ।" उसने अपना स्वागत-सत्कार करने का अवसर ही नहीं दिया। उसके क्रोध का इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने मुझे जीवन में पहली बार 'तुम' शब्द से संबोधित किया था; जबकि मैं आयु में उससे बड़ा था।

"तुम तो धर्म के संरक्षक बनते हो! धर्म की स्थापना के लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, ऐसा प्रचारित किया जाता है; पर आज जिस तरह मेरे पिताश्री की हत्या हुई, उसमें किस धर्म की रक्षा की गई?"

"आपद्धर्म की।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "जब मनुष्य का अस्तित्व स्वयं खतरे में हो तब अपने अस्तित्व की रक्षा करना ही सबसे बड़ा धर्म है। आज आपके पिताजी पांडवों के लिए काल हो गए थे। उनके बाण वज्र बनकर पांडवों के अस्तित्व पर गिर रहे थे। ऐसी स्थिति में उन्हें किसी तरह धराशायी करना ही धर्म

था। तुम क्या समझते हो, उनके चले जाने से हम बहुत प्रसन्न हैं? हमारी मन:स्थिति का तुम्हें सही अनुमान नहीं है। यदि तुम्हें पांडवों के मन की सही स्थिति जाननी हो तो तुम महाराज युधिष्ठिर से बातें करो।''

''मैं उनसे क्या बात करूँ! सारे षड्यंत्र के केंद्र में तो तुम हो। मेरा वश चले तो मैं पांडवों के साथ ही तुम्हें भी कच्चा चबा जाऊँ!''

''तुम्हारा वश चलता तो आज मैं कौरवों का बंदी होता। तुम्हारा वश चलता तो विष खिलाकर नदी में फेंका गया भीम फिर उठकर न आता। तुम्हारा वश चलता तो सारे पांडव लाक्षागृह में भस्म हो जाते। और जब तुम्हारा वश चला तब तुमने घेरकर एक निरीह बालक अभिमन्यु की हत्या कर दी। उसकी हत्या करना किस धर्म के अनुकूल था?''

अश्वत्थामा का मौन एकदम मुझे देखता रह गया। उसकी आँखों से निकली चिनगारियाँ बराबर मुझपर बरसती रहीं।

थोड़ी देर बाद मैंने ही मौन तोड़ा—''इन्हीं कुकृत्यों का फल आज कौरव भोग रहे हैं।''

''यदि ऐसा है तो पांडवों को भी अपने इस कुकृत्य का फल भोगना पड़ेगा। अवश्य भोगना पड़ेगा।'' इतना कहते-कहते वह क्रोध में काँपने लगा और तप्त हवा के झोंके-सा चला गया।

यद्यपि युद्ध का पलड़ा पांडवों की ओर बहुत कुछ झुक चुका था, परिस्थितियाँ भी अनुकूल होती जा रही थीं; पर पांडव पक्ष बहुत प्रसन्न नहीं था। कौरव पक्ष तो दु:खी था ही। उनका तो तीन-चौथाई विनाश हो चुका था। विधवाओं के आँसू थमते नहीं थे।

इस महानाश के बाद यदि सत्ता हाथ में आई तो क्या! दूसरे दिन युधिष्ठिर की इस मन:स्थिति का और भाइयों को भी ज्ञान हो गया था; पर उनके जीवन का मुख्य संघर्ष अभी शेष था।

द्रोणाचार्य की मृत्यु के बाद कर्ण सेनापति बनाया गया। रात में ही मुझे इसकी सूचना मिली। मेरा विश्वास था कि अभिषेक के समय मैं अवश्य बुलाया जाऊँगा; क्योंकि उसके मन में मेरे प्रति तब से विशेष सम्मानभाव था जब से उसके बारे में मैंने उसे बताया था।

पर उसने सेनापति पद-ग्रहण के समय किसी प्रकार के समारोह का विरोध किया और किसीको भी नहीं बुलाया। यहाँ तक कि पद-ग्रहण के समय उसने अपनी सेना के मुख्य लोगों को भी नहीं बुलाया; वरन् सामान्य ढंग से पूजन करके

ही अपना पदभार स्वीकार कर लिया। उसका सोचना था कि इस महाविनाश के बाद यदि सत्ता मिली तो किस काम की।

छंदक ने बताया—"कल सूर्योदय के समय वह आदित्य मंत्र से अपने रथ को अभिमंत्रित करेगा और वहाँ से सीधे युद्धस्थल पर आएगा। अभिमंत्रण के समय वह किसीको भी अपने साथ नहीं रखेगा।"

"सारथि को भी नहीं?"

"नहीं। गुप्तचरों ने तो ऐसी ही सूचना दी है।" छंदक ने बताया—"किसी की उपस्थिति में उस मंत्र का प्रभाव कम हो जाता है। निश्चित है कि यदि किसी तरह उसका रथ अभिमंत्रित हो गया तो उसे पराजित करना असंभव हो जाएगा।"

"तो इसके लिए हम क्या कर सकते हैं?" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

"उसके अभिमंत्रण में बाधा तो डाल सकते हैं।" छंदक बोला।

पर मेरा मन इस कुकृत्य के लिए तैयार नहीं था। मैं सोचने लगा, जिसके साथ इतना छल किया गया, उसके साथ एक और छल! इससे तो अच्छा था कि हम उसका प्राण ही माँग लेते—और शायद वह दे भी देता। फिर याद आया कि उसका रथ तो यों ही अभिशापित है। वह तो एक ब्राह्मण के शाप से घोर विपत्ति के समय रणक्षेत्र में धँस जाएगा। फिर छंदक को पता नहीं था कि हम लोगों ने कर्ण के साथ कैसा-कैसा धोखा किया है।

मैंने बड़ी सहजता से कहा, "तुम चाहते हो कि सबकुछ युद्धक्षेत्र के बाहर ही हो जाए। किसीकी पूजा या अभ्यर्थना में खलल डालने का काम राक्षस का है। एक वर्ग तो मनुष्यत्व को मिटाने में लगा है। अब हम लोग भी उन्हींकी श्रेणी में आ जाएँ!"

मैंने उस समय बात तो टाल दी, पर इतना अनुमान तो लग ही गया कि कल कुछ-न-कुछ हो ही जाएगा; क्योंकि अश्वत्थामा भी चोट खाया नाग था और कर्ण भी बार-बार छला गया योद्धा। वे दोनों कुछ भी उठा नहीं रखेंगे। पांडवों को इसके लिए तैयार करना चाहिए। एक बात अच्छी हुई कि शल्य कर्ण का सारथि सर्वसम्मति से नियुक्त किया गया। यद्यपि यह मेरी ही तैयारी थी; पर हमें आशा न थी कि कर्ण के रथ पर ही उसके पराक्रम और उत्साह का विरोधी बैठा दिया जाएगा।

□

आज युद्ध का सोलहवाँ दिन था। जब मेरा रथ युद्धस्थल पर आया तब कर्ण सामने ही दिखाई पड़ा। अभिमंत्रित रथ पर वह सूर्य की तरह ज्योतित लगा। मेरे मन ने कहा, सेनापति को ऐसा तेजस्कर होना चाहिए। पर जब ऐसा सेनापति हुआ

तब सेना ही नहीं रही। कोई सैनिक व्यूह रचना हो नहीं सकती; तब उसकी ऊर्जा और शौर्य का क्या उपयोग!

अब युद्धक्षेत्र इतना बीहड़ हो गया था कि कोई भी किसीके सामने जा सकता था। मेरा रथ कर्ण के सामने था ही। उधर भीम दु:शासन से भिड़ गया और उसपर बिजलियाँ गिराने लगा। दुर्योधन भी उसकी रक्षा में आ गया। पर आज महाकाल से दु:शासन को कोई छुड़ा नहीं सका। मृत्यु उसके सामने साक्षात् खड़ी थी। आज कौरवों का कोई पराक्रम और साहस काम नहीं आया। दोपहर होते-होते भीम ने ऐसी गदा मारी कि दु:शासन धराशायी हो गया।

उसकी छाती पर चढ़कर, उसका कलेजा चीरते हुए भीम पागलों-सा चिल्लाया—''खबरदार, यदि कोई सामने आया! केवल चुपचाप खड़े रहो। रणचंडी का रक्तपान देखो।''

मैंने ऐसा बीभत्स दृश्य जीवन में कभी नहीं देखा था। ऐसा लगा जैसे कोई विकराल दैत्य युद्ध में चीथड़े-चीथड़े हुए दु:शासन की छाती से रक्त निकालकर पी रहा है। भीम इतना भयानक भी हो सकता है, इसकी कल्पना शायद ही किसीको रही हो। लोग स्तब्ध रह गए। युद्ध भी थम गया। लोगों की मनोदशा ठीक वैसी ही हो गई थी जैसी द्रौपदी का चीर खींचते समय कौरव सभा की हुई थी। उस समय भी कर्ण, दुर्योधन और दु:शासन के पागलपन के आगे सभी ऐसे ही स्तब्ध रह गए थे।

भीम की चिल्लाहट का पागलपन लगातार बढ़ता ही गया। रक्त से प्यासे कई राक्षसों की समवेत दहाड़ की तरह उसकी पुकार थी—''आज मेरा संकल्प पूरा हुआ। इतने दिनों से खुली द्रौपदी की वेणी इस पापी के रक्त से स्नान करेगी। उसके मन को शांति मिलेगी।''

रक्त से लथपथ, पागलों-सा चिल्लाते भीम को स्वयं युधिष्ठिर देख नहीं पाए। वे दोनों हाथों से आँखें बंद किए रथ पर ही बैठे रहे। मुझे लगा कि यह स्थिति भयंकर हो सकती है। कौरव सेना की स्तब्धता जरा भी टूटी तो युधिष्ठिर बंदी बनाए जा सकते हैं, या उनका वध किया जा सकता है।

मैं जरा भी हिलने-डुलने की स्थिति में नहीं था; क्योंकि इससे आतंक का वह मायाजाल टूट सकता था और सभी कौरव एक होकर युधिष्ठिर पर आक्रमण कर सकते थे। अभी तक तो दुर्योधन भी दूर से काँपता हुआ यह बीभत्स दृश्य देख रहा था। वह क्रोध से काँप रहा था या भय से, यह तो समझना कठिन था; पर इतना निश्चित था कि वह आपे में नहीं था।

हम लोगों की निगाहें एकटक भीम पर थीं। अचानक उसे जैसे कुछ याद हो आया। उसने अपने लौह शिरस्त्राण में कुछ रक्त और लिया तथा चला उसे लेकर भाग; जैसे कोई अभीप्सित वस्तु पा गया हो और छीने जाने के भय से भाग रहा हो। इस समय उसकी भयानकता और भी बढ़ गई थी।

अर्जुन ने धीरे से पूछा, ''आखिर भीम भैया यह क्या कर रहे हैं?''

तब तक भीम की विक्षिप्त आवाज फिर सुनाई पड़ी—''तेरह वर्षों से खुली द्रौपदी की वेणी आज गुँथेगी।''

मुझे उस समय पता चला कि प्रतिहिंसा कितनी निष्ठुर और कठोर होती है। वह संबंधों का कोई भी बंधन स्वीकार नहीं करती।

□

यों शल्य ने मेरी इच्छा के अनुसार करने का वचन दिया था, किंतु कर्ण का सारथ्य स्वीकार करने में उसने बड़ी नाटकीयता दिखाई। उससे कहा गया कि कर्ण जैसे महारथी का सारथि भी उसीके स्तर का होना चाहिए; क्योंकि अब सीधे-सीधे कर्ण-अर्जुन युद्ध होगा—और उसी पर इस युद्ध का परिणाम भी निश्चित होगा।

कौरवों के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि कर्ण का सारथि बनने के लिए शल्य से प्रस्ताव कौन करे। दुर्योधन आदि कोई कौरव तैयार नहीं हुआ; क्योंकि हस्तिनापुर आते समय मार्ग में उसके साथ जो किया गया था, शल्य उसे एक प्रकार का छल समझता था। इसलिए तय यह किया गया कि कर्ण स्वयं उससे अपना सारथि होने का आग्रह करे।

इसका एक कारण यह भी था कि कर्ण उस छल में शामिल नहीं था। फिर सेनापति सर्वसम्मति से चुना गया था। उसकी आवाज में एक वजन था।

सुना है, जब शल्य से यह प्रार्थना कि गई तब वह एकदम उबल पड़ा—''क्या मेरे भाग्य में अब सूतपुत्र का ही रथ हाँकना बदा है?''

तब दुर्योधन ने सविस्तार उसे समझाया तथा उसके सारथ्य कर्म की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि हमें कर्ण के लिए वैसा ही सारथि चाहिए जैसा अर्जुन के लिए कृष्ण हैं। हमारे पास आपसे अच्छा कोई दूसरा सारथि नहीं है।

शल्य को तो कर्ण का सारथि बनना ही था। शल्य का यह सारा नाटक कर्ण पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए था। उसने कहा, ''आप लोग कह रहे हैं तो मैं कर्ण का सारथ्य करूँगा; पर मैं उसकी आज्ञा-पालन के लिए बाध्य नहीं होऊँगा वरन् उसे मेरी आज्ञा माननी होगी।''

कौरवों को शल्य की शर्त स्वीकार करनी पड़ी और कर्ण को भी उसका

परिणाम भोगना पड़ा। फिर उसने कर्ण की कभी बात नहीं मानी—और मानी भी तो उसका परिहास करते हुए।

आज का युद्ध तो दु:शासन की मृत्यु के बाद लगभग समाप्त हो चुका था। शेष दिन के संघर्ष की मुख्य घटना यह थी कि पांडवों पर हुए कर्ण के भीषण आक्रमण के परिणामस्वरूप सहदेव और नकुल दोनों के पैर उखड़ चुके थे। फिर अचानक कर्ण को जैसे कुछ याद हो आया। वह चुपचाप पीछे हट गया। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वास्तविकता तो केवल मैं जानता था।

युधिष्ठिर और भीम का तो स्पष्ट मत था कि दोनों के मामा शल्य ने ऐन मौके पर दोनों को कर्ण के चंगुल से छुड़वा दिया। लोगों ने नकुल और सहदेव से पूछा भी। उनका तो बस इतना ही कहना था कि जब हमारी मूर्च्छा टूटी तब कर्ण और उसके सैनिक हम लोगों को छोड़कर जा चुके थे।

''बड़ा रहस्यमय व्यक्तित्व है इस सूतपुत्र का भी!'' अर्जुन ने भीम के शिविर में प्रवेश करते हुए कहा।

''मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है। उस सूत की वास्तविकता को समझना आप लोगों के लिए बड़ा कठिन है।'' मैंने कहा।

भीम के शिविर के वातावरण के उल्लास में यह बात वहीं छूट गई।

इस समय वहाँ ऐसा लगता था जैसे युद्ध समाप्त हो चुका है और विजयलक्ष्मी ने अपनी वरमाला पांडवों के गले में डाल दी है। द्रौपदी तो विह्वलता में विक्षिप्त-सी लगी। मेरे सामने आकर अट्टहास करते हुए वह बोली, ''मुझे देख रहे हो, माधव! आज तेरह वर्षों के बाद मेरी वेणी गुँथी है। अच्छी लगती है न! एक-दो नहीं, तेरह वर्षों तक प्यासी रही। आज इसकी प्यास बुझी है। इतनी लंबी प्रतीक्षा की है इस नागिन ने।'' और फिर वह चिड़िया की तरह फुदकती चली गई।

आज कोई किसीके घाव की ओर नहीं देख रहा था। लोग भीम को बधाई देने में उल्लसित थे। किसीकी भी दृष्टि माद्रीपुत्रों—नकुल एवं सहदेव को प्राणदान मिलने की ओर नहीं गई—शायद नकुल और सहदेव की भी नहीं। वे उस प्रसन्नता में अपने स्वर मिलाते हुए स्वयं बीच-बीच में चौंक अवश्य पड़ते थे; जैसे मृत्यु के अंतिम क्षणों की निरीहता आकर खड़ी हो जाती थी।

भीम का आह्लाद मुझे देखकर और उछला—''कन्हैया, हम युद्ध जीत गए! हमारा संकल्प पूरा हुआ।''

आत्मस्तुति और प्रसन्नता के इन क्षणों में मुझे पांडवों का अहंकार प्रगल्भ होता दिखाई दिया। मुझे यह स्थिति बड़ी खतरनाक लगी; क्योंकि उपलब्धता के

बड़े-से-बड़े अरण्य को अहंकार भस्म कर देता है।

मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, "तुम्हारा संकल्प पूरा अवश्य हुआ, पर अभी विजय दूर है। जैसे तुम्हारे संकल्प थे वैसे विरोधियों के भी संकल्प हैं। स्पष्ट समझो, भीमसेन, अभी तुमने राख में दबी वह चिनगारी देखी है, जो बुझने की ओर अग्रसर थी; पर तुमने बुझते दीप का भभकना नहीं देखा है।"

इसके बाद मैंने वहाँ रहना उचित नहीं समझा, एकदम उठकर बाहर चला आया। पीछे से कुंती बुआ की आवाज सुनाई पड़ी—"रुको, मैं भी आती हूँ।"

मैं शिविर के बाहर निकलकर रुक गया और बुआ के साथ ही रथ में बैठा। दूर छंदक दिखाई दिया। वह शिविर के बाहर मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।

उसने रथ से उतरते ही बताया—"लगता है, अब दुर्योधन और कर्ण में खटपट हो गई है।"

"क्यों?"

"दुर्योधन कर्ण से नाराज है। उसका कहना है कि 'एक ओर मेरे परम प्रिय भाई की ऐसी जघन्य हत्या हो रही थी और दूसरी ओर हाथ में आई नकुल एवं सहदेव की मृत्यु को भी कर्ण ने जानबूझकर छोड़ दिया।' जब इसकी उलाहना उसने कर्ण को दी तब वह बड़े सामान्य ढंग से मुसकराते हुए बोला, 'मैं चूहे को नहीं, सिंह को मारता हूँ।'

" 'नकुल-सहदेव क्या चूहे हैं? शायद अंतर्मन से तुम उन्हें चूहा मानते भी नहीं।' दुर्योधन की मुद्रा आक्षेपात्मक हो गई—'यह क्यों नहीं कहते कि शल्य ने अपने सगे भानजों को छुड़वा दिया!'

" 'यह तुम्हारा भ्रम है।' कर्ण ने कहा।

" 'तब क्या बात है कि उन्हें प्राणदान मिला?'

" 'बहुत से प्रश्नों का उत्तर दिया नहीं जाता। उसे काल पर छोड़ दिया जाता है। प्रतीक्षा कीजिए, समय ही उसका उत्तर देगा।'

" 'क्या प्रतीक्षा करूँ!' दुर्योधन ने झुँझलाते हुए कहा, 'यदि ऐन मौके पर तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती तो पांडव आज तीन ही शेष रहते।'

" 'पांडव तो हर स्थिति में पाँच ही रहेंगे—हमारी पराजय के बाद भी और विजय के बाद भी।' कर्ण के मुख से इतना सुनते ही दुर्योधन अवाक् रह गया। वहाँ से तो वह हट गया, पर अपने शिविर में आकर बड़बड़ाया—'लगता है, हम किसी दुरभिसंधि के शिकार हो गए हैं। मुझे कर्ण से ऐसी आशा नहीं थी।' "

छंदक का निष्कर्ष था कि यह संदेश कौरव पक्ष को कमजोर कर देगा।

अब मैंने बुआजी की ओर देखा और उन्होंने मेरी ओर। मुझे वह पहले से अधिक गंभीर लगीं; जैसे वह कुछ कहना चाह रही थीं और कुछ कह नहीं पा रही थीं। मेरे साथ आई भी थीं कुछ कहने के लिए ही और छंदक को देखकर चुप रह गईं।

मैंने संकेत किया और छंदक चुपचाप चला गया। तब बुआजी ने कहा, ''परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल चुकी हैं। तीन-चौथाई से भी अधिक लोग मारे जा चुके हैं। क्या ऐसी स्थिति में कोई बात नए सिरे से चलाई जा सकती है?''

''किस तरह की बात?''

''समझौते की या युद्ध बंद कर देने की।''

''श्मशान पर खड़े होकर जीवन की बात!'' मैंने हँसते हुए कहा, ''और अब बात चलाने का कोई अर्थ नहीं, जब कौरव बरबादी के छोर पर आ गए हैं।''

''शायद अब उनकी बुद्धि ठिकाने आ जाए और वे यथार्थ को समझें।'' बुआजी ने बताया—''सुना है, अश्वत्थामा ने भी ऐसी सलाह दुर्योधन को दी है।''

मुझे आश्चर्य था कि अश्वत्थामा ने बदला लेने की कल बात कही है, आज उसका मन ऐसा बदल कैसे गया?

मैंने पूछा, ''तो क्या दुर्योधन मान गया है?''

''माना तो नहीं है, पर शायद अब मान जाए; क्योंकि दो ही महारथी उसके पास बचे हैं। एक के प्रति उसका मन शंकाकुल हो चुका है और दूसरे को हताशा ने घेर लिया है।''

''मैंने इस संदर्भ में भी सोचा है और इस निष्कर्ष पर आया हूँ कि अब तो उसका सबकुछ लुट चुका है। अब वह किसके लिए संधि करेगा, केवल अपने प्राणों की रक्षा के लिए! दुर्योधन जैसा स्वाभिमानी, जो अब तक नहीं झुका, अब भी नहीं झुकेगा। यह बात दूसरी है कि अश्वत्थामा के मन में पांडवों के प्रति सहानुभूति रही है और आज भी हो; पर उसे तो दुर्योधन ने पहले ही नकार दिया है।'' मैंने बुआजी से कहा, ''हमारे हजार रोकने पर भी अब तक जो होना था, हो चुका और अब जो होना है, वही होगा।''

''क्या यह नहीं हो सकता कि पांडव पाँच से छह हो जाएँ?''

मुझे हँसी आ गई। इस ज्वालामुखी में रहकर भी माँ की ममता एक अनहोनी शीतलता का स्वप्न पाले है। मैंने कहा, ''यदि वे पाँच ही रह जाएँ, तो भी हम अपना सौभाग्य समझेंगे; क्योंकि मुझे लग रहा है कि अब दुर्योधन भीम से बदला लेने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखेगा।''

□

सचमुच आज का युद्ध भयानक था। कौरव सेना ने चारों ओर से भीम को घेरने की चेष्टा की। इधर अर्जुन कर्ण की ओर आक्रामक था। दोनों ओर से धनुर्विद्या की अद्‌भुत कला देखने को मिली। बाणों की अद्‌भुत वर्षा कर्ण ने की। कमाल यह था कि उसमें से एक बाण भी मुझे नहीं लगा। एक खरोंच तक नहीं आई।

अब अर्जुन संत्रस्त हो गया। तब शल्य ने हँसते हुए कर्ण से कुछ कहा। मैं समझ गया कि वह उसे हतोत्साहित कर रहा है। दोनों में विवाद भी छिड़ गया। उस समय कर्ण का ध्यान कुछ भंग हुआ।

एक समय तो ऐसा आया, जब कर्ण ने झुँझलाकर एक ऐसा बाण चलाया जिसपर सर्प लिपटा था। मेरी दृष्टि जब उसपर पड़ी तो मैं अवाक् रह गया। मैंने तुरंत रथ को दबाया और बाण अर्जुन के शिरस्त्राण को गिराता निकल गया।

सबकुछ क्षण भर में हो गया। अर्जुन यह भी नहीं समझ पाया कि क्या हो गया। मैंने उससे पूछा, ''तुमने उस विषधर को पहचाना?''

वह कुछ सोचने लगा।

तब मैंने बताया—''वह अश्वसेन था। खांडव वन में जिसका एकच्छत्र राज्य था। तुम्हें याद होगा, कि जब उस वन को जलाया गया था तब उसका पूरा परिवार जल गया था और वह भाग निकला था। तभी मैंने कहा था कि यह बड़े कुसमय में बदला लेगा।''

एक बड़ी विपत्ति सिर से टल गई।

''देखा, तुम्हारा लक्ष्य च्युत हो गया।'' शल्य ने कर्ण से कहा।

''मेरा लक्ष्य च्युत नहीं हुआ। यह कृष्ण के सारथ्य की कला थी, जो आपमें नहीं है।''

विवाद बढ़ गया।

अब मैंने अर्जुन से कहा, ''विवादग्रस्त व्यक्ति के क्रोध को परास्त करना आसान होता है, अतएव तुम अपनी प्रहारक क्षमता और बढ़ाओ।''

अर्जुन के प्रहार में तीव्रता आई। कर्ण बुरी तरह घायल हो गया। इसी समय उसके रथ का एक पहिया धरती में अचानक धँस गया।

कर्ण चिल्लाया—''ठहरो, मुझे पहिया निकाल लेने दो।'' इतना कहते ही वह रथ से कूद पड़ा।

अब कर्ण विरथ था। अर्जुन का प्रहार भी ढीला पड़ा।

मैंने उससे कहा, ''यह क्या करते हो? जब तुम्हारा प्रहार तेज होना चाहिए तब तुम मंद पड़ रहे हो!''

''पर क्या विरथ पर प्रहार करना उचित होगा?'' अर्जुन संकोच में पड़ा।

''व्यर्थ की बकवास मत करो। ऐसा मौका तुम्हें नहीं मिलेगा, अन्यथा तुम कभी कर्ण को परास्त नहीं कर सकते।'' मैंने कहा।

अर्जुन ने बात मान ली।

कर्ण फिर चिल्लाया—''युद्धधर्म पर ध्यान रखो, अर्जुन! विरथ पर प्रहार नहीं किया जाता।''

अर्जुन कुछ कहने ही वाला था कि मैंने उसे रोक दिया तथा प्रहार को और तेज करने को कहा। फिर मैं कर्ण से बोला, ''युद्धक्षेत्र में तुम्हें धर्म याद आता है! उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ था, जब युधिष्ठिर के विरुद्ध कुचक्र रचकर तुम लोगों ने उन्हें जुए में हराया था? उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ था, जब तुमने दु:शासन और दुर्योधन के साथ मिलकर भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने की कुचेष्टा की थी? उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ था, जब बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास बिता चुके पांडवों को तुम लोगों ने उनका पावना नहीं दिया था?'' इस क्रम में अभिमन्यु की मृत्यु तक मैंने कौरवों के सारे कुकर्म गिनाए।

सबकुछ सुनते हुए भी कर्ण ने अर्जुन के हर प्रहार का सटीक उत्तर दिया—धरती पर खड़े-खड़े ही। इस बीच वह धरती से रथ का पहिया भी निकालने की चेष्टा करता रहा।

पर यह क्रम अधिक देर तक चल नहीं सका। इसी बीच कर्ण के रथ की पताका भी टूटकर गिर गई। अंत में कर्ण को धराशायी होना पड़ा।

अनैतिकता के अरण्य में नैतिकता का एकमात्र शेष वृक्ष भी गिर गया। ध्वस्त होते मानव मूल्यों के सागर में संकल्प, दृढ़ता और कृतज्ञता का जलयान डूब गया। उसके इस महाप्रयाण पर मेरा मस्तक स्वत: झुक गया। मुझे कुंती बुआ के आँसुओं की विवशता याद आने लगी, जो छलक भी नहीं सकते थे और भीतर रह भी नहीं सकते थे।

□

कर्ण के गिरते ही कौरव सेना में भगदड़ मच गई। दुर्योधन ने अपनी सेना को बहुत धैर्य बँधाया। उसने अपना रथ भागती सेना के पीछे से आगे निकाला और बड़े ऊँचे स्वर में बोला, ''क्षत्रिय जीवन युद्ध के लिए होता है, रणक्षेत्र से भागने के लिए नहीं—और भागने में तुम अकेले हो जाओगे। जहाँ जाओगे, शत्रु तुम्हारा पीछा

करेंगे। तुम जीवित बचोगे नहीं। इसलिए जीवन का मोह छोड़कर रणक्षेत्र में मृत्यु का वरण करो और स्वर्ग के अधिकारी बनो।''

पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। पहाड़ से ढुलकते शिलाखंडों को कौन रोक सकता था! जो जिधर भागा उधर ही भाग चला। शकुनि, कृतवर्मा, अश्वत्थामा आदि सभी सेना जुटाने में दुर्योधन का साथ दे रहे थे; पर परिणाम ढाक के तीन पात।

अंत में घबराकर शकुनि ने आदेश दिया—''युद्ध की समाप्ति का शंख बजाओ!''

यद्यपि संध्या अभी दूर थी। सूर्य पश्चिम की ओर चमक रहा था।

एक विचित्र बात और हुई कि ज्यों ही युद्ध समाप्त हुआ, कर्ण के रथ का पहिया बड़ी सरलता से बाहर निकल आया।

शल्य ने बड़े आश्चर्य से कहा, ''रथ के जिस पहिए को हम दोनों नहीं निकाल पा रहे थे, उसे हमारे रथ के एक घोड़े ने निकाल दिया!''

सबका विस्मय चरम सीमा पर था।

''लगता है, कर्ण इसी प्रकार की मृत्यु के लिए शापित था।'' अश्वत्थामा बोला।

इस घटना के बाद कौरव पक्ष मुँह लटकाए हुए लौट चला। उन्हें पराजय की काली छाया अपनी ओर आती स्पष्ट दिखाई दी।

अब हमने अपने-अपने शंख बजाए। पांडव सेना बड़े उत्साह के साथ अपने शिविरों में चली गई। हम सीधे युधिष्ठिर के शिविर में पहुँचे। वहाँ विजयोल्लास का उत्सव था। प्रसन्न तो युधिष्ठिर भी दिखे, पर उनकी प्रसन्नता कहीं-न-कहीं से नियंत्रित लगी। उन्हें कुछ ऐसा लग रहा था कि कर्ण के वध में भी युद्धधर्म का पालन नहीं किया गया।

''आप अब भी 'धर्म-धर्म' की रट लगाए बैठे हैं।'' भीम ने कहा, ''क्या कर्ण ने हमारे साथ जो व्यवहार किए थे, उनमें उसने धर्म का पालन किया था?''

''भले ही न किया हो; पर दूसरे का अधर्म कृत्य हमें अधर्म करने का अधिकार नहीं देता।'' कई बार कही बात मैंने पुनः दुहराई।

''पर आपने तो अर्जुन को अधर्म युद्ध के लिए ललकारा।'' भीम बोला।

अर्जुन चुप ही रहा।

''यदि ऐसा न करता तो पांडवों की पराजय निश्चित थी; क्योंकि कर्ण को पराजित करना आपमें से किसीके वश की बात नहीं थी।'' सब मेरा मुँह देखते रह

गए। मैं कहता गया—"आपके यहाँ ही नहीं, आर्यावर्त्त में वैसा पराक्रमी एवं शौर्यवान् कोई योद्धा न था और न आज है।"

"पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, अर्जुन भैया और आपसे भी वह महान् था?" यह शंका नकुल ने की; पर उसका स्वर बहुत धीमा था।

"मैं अपने कथन पर स्थिर हूँ। रह गई बात मेरे संबंध में, तो वह कई क्षेत्रों में मुझसे महान् था।"

"लेकिन उसने मेरे प्रति सदा अन्याय किया।" द्रौपदी चुप न रह सकी।

"और हम लोगों में से किसने उसके प्रति न्याय किया?" मैंने कहा।

लोग एकदम अवाक् थे।

"समाज ने पग-पग पर उसे 'सूतपुत्र' कहकर अपमानित किया। इसकी उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया थी। बार-बार सर्पदंश सहते-सहते वह विषधर हो गया था।"

" 'सूतपुत्र' कहकर!" युधिष्ठिर एकदम बोल पड़े—"तो क्या वह सूतपुत्र नहीं था?"

"क्या आप लोगों ने ऐसा पराक्रमी, ऐसा दानी, ऐसा ओजस्वी और ऐसा विराट् व्यक्तित्व किसी सूतपुत्र का देखा है?"

"इसका तात्पर्य है कि वह सूतपुत्र नहीं था।"

"यह मैं कैसे कहूँ! मैंने जब से उसे देखा है, वह सूतपुत्र ही था।" मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, "कभी-कभी जो दिखाई पड़ता है, वह यथार्थ नहीं होता।" इतना कहते-कहते मैंने एकदम अपने को रोका और विचार की दूसरी गली में मुड़ गया—"ऐसे शत्रु के दिवंगत होने पर संवेदना प्रकट करनी चाहिए और ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उसकी आत्मा को शांति दे।"

हर व्यक्ति मेरे कथन में रहस्य खोजने लगा। द्रौपदी कुछ कहना चाह रही थी; पर बोल नहीं पाई। मैंने देखा, कुंती बुआ चुपचाप वहाँ से उठकर चली गईं।

फिर वहाँ का वातावरण बदलते हुए मैंने कहा, "कर्ण के चले जाने के बाद विजय आपकी ओर आती दिखाई देती है; पर अभी उसके मार्ग से भटकने की संभावना समाप्त नहीं हुई है।" इसके बाद मैंने कौरवों के जीवित महारथियों के नाम गिनाए और कहा, "इन महारथियों के अतिरिक्त अभी भी उनकी सेना हमारी सेना से बहुत बड़ी है।"

लोगों के उल्लास पर एक अवरोध और लगा; पर उसका बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। थोड़ी देर में ही सभी पूर्व उल्लास से भर गए।

युद्ध की मुद्रा बड़ी विचित्र होती है। वह न कभी अपना-पराया देखती है और न भला-बुरा तथा बड़ा-छोटा। उसके लिए पूरे रणक्षेत्र की एक ही विभाजन रेखा है—शत्रु और मित्र की। इसीलिए कर्ण की महानता पर हमारी शत्रुता ही प्रभावित थी। क्षणिक अवरोध के बाद ही हम पूर्व उल्लसित मुद्रा में आ गए।

बाद में बात इसपर चल पड़ी कि अब कौरव सेना का सेनापति कौन होगा। किसीने कृपाचार्य का नाम लिया और किसीने अश्वत्थामा का।

मैंने कहा, ''अभी तो कौरव घोर निराशा में होंगे। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा होगा; क्योंकि विजय का उल्लास और पराजय की निराशा की कोई सीमा नहीं होती। फिर भी कौरवों के पास अश्वत्थामा की बराबरी का कोई दूसरा योद्धा नहीं है। सारे शिखरों के ध्वस्त होने के बाद अब भी उसकी ऊँचाई दूर से दिखाई देती है।''

''और कृपाचार्य?''

अर्जुन ने यह पूछा ही था कि अभी-अभी आया छंदक बोल पड़ा—''कृपाचार्य तो अब युद्ध के विरुद्ध हैं।''

उसकी बात सुनते ही सभी मौन हो गए। उसने बताया—''कृपाचार्य दुर्योधन को सांत्वना देने गए थे। सांत्वना के साथ ही उन्होंने उसे समझाया कि 'अब इने-गिने लोग ही हमारी ओर बचे हैं। अब तुम पांडवों से समझौता कर लो। जितना चला गया वह तो चला ही गया, अब जितना बचता है उसे बचा लो।' ''

''तो दुर्योधन ने क्या कहा?''

''दुर्योधन ने बड़ा विचित्र कहा, 'आप हमारे और हमारे वंश के पुराने हितचिंतक हैं। आपने सदा हमारी भलाई की बात की है और आज भी कर रहे हैं। पर इस समय आपकी बात वह ओषधि है, जो ऐसे रोगी को दी जाएगी जिसका मरण निश्चित हो चुका है।' बस इसके बाद कृपाचार्य चुपचाप वहाँ से चले गए।''

''तब तो दुर्योधन कभी नहीं चाहेगा कि कृपाचार्य सेनापति हों।'' मैंने कहा, ''अब अश्वत्थामा के अतिरिक्त मुझे कोई दिखाई नहीं देता।''

इसके बाद मैं वहाँ से छंदक के साथ चल पड़ा। संध्या डूब चुकी थी। युद्ध की समाप्ति का समय अब हुआ था; पर कौरव पक्ष का सूर्य आज से बहुत पहले ही डूब गया था। कर्ण की अंत्येष्टि की तैयारी हो रही थी। अधिरथ के आने की प्रतीक्षा थी।

मन यही सोच रहा था कि जो अंत्येष्टि के वास्तविक अधिकारी हैं, वे उल्लासमग्न हैं और जिसका कोई अधिकार नहीं, वह अग्निदाह करेगा। वाह रे

नियति की लीला!

मैं इन्हीं विचारों में मग्न चला जा रहा था। मार्ग से कुछ हटकर एक वृक्ष के नीचे कुंती बुआ दिखीं। छाया के स्वाभाविक अंधकार में, धवल वस्त्र में लिपटी कुंती बुआ उस सन्नाटे की ऐसी मूक वेदना लगीं, जो सांध्य तारे की तरह चू पड़ना चाहती थी। मैंने रथ रुकवाया और छंदक को छोड़कर अकेले उनके पास गया।

मैं कुछ पूछूँ, इसके पहले ही वह आँसुओं से भीगे स्वर में बोल पड़ीं—"मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी। कर्ण की अंत्येष्टि में हमारी ओर से भी कुछ करणीय है?"

मैं क्या उत्तर देता।

"तो एकांत में खड़ी अपने पुत्र की चिता से उठता धुआँ देखती रहूँ और सिसकियाँ भरूँ?"

□

मन में जैसे आग लगी थी। ऐसी रात तो अभिमन्यु की मृत्यु के बाद भी नहीं आई थी। अँधेरा उस आग के धुएँ की घुटन से अत्यधिक भर गया। ज्यों ही मैंने सोने के लिए शिविर के भीतर की मशाल बुझाई त्यों ही कर्ण की स्मृति सरूप मेरे सामने खड़ी हो गई। कल्पनाकाश से उतरते उस अँधेरे में भी उस स्मृति का भविष्य वैसा ही जाज्वल्यमान् लगा।

'मैं तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। लोग कहते हैं कि तुम्हारा आविर्भाव धर्म की स्थापना के लिए हुआ है—और तुम इसे स्वीकार भी करते हो। तब बताओ, मेरा वध करवाने में तुमने किस धर्म की रक्षा की? ऐसा तुमने क्यों किया? क्या मैं अधार्मिक था? समाज के लिए कलंक था? मेरी पूजा, मेरी प्रार्थना, मेरा दान, मेरा धर्म, मेरी दीन-दुखियों की सेवा आदि का कोई महत्त्व नहीं? तुम्हें केवल मेरा जलता हुआ प्रतिशोध ही दिखा?

'एक ऐसे व्यक्ति के संबंध में सोचो, जो सूतपुत्र नहीं था; जो क्षत्रिय कुल में पैदा हुआ था। पैदा होते ही जिसकी माँ ने उसे सरिता में प्रवाहित कर दिया। वह कुल, जाति, गोत्र आदि से विहीन कर दिया गया। एक सूत दंपती की कृपा ने उसके जीवन-संघर्ष को बड़ी सहृदयता से स्वीकारा। परिस्थितियों के उन आँसुओं को चूमा, जो बहने के पहले ही पथरा गए थे। जिसकी अस्मिता उस ताजे फूल की तरह थी, जिसे चुपचाप किसीके जूड़े से गिरकर अनजान कीचड़ में सड़ना पड़ता है।

'मेरे लिए प्रगति के सारे मार्ग पर अवरोध लगा दिए गए। शस्त्र और शास्त्र

दोनों की शिक्षा के द्वार बंद कर दिए गए; फिर भी मैंने अभ्यास किया। फिर भी मैंने शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा चोरी-चोरी ग्रहण की। जो तेजस्विता मुझे पैतृक दाय के रूप में मिली थी, उसकी अभिवृद्धि की। फिर भी मैं प्रतिस्पर्धाओं से वंचित रहा। हर जगह तिरस्कृत हुआ। सामाजिक न्याय से वंचित हुआ। मेरे पराक्रम और शौर्य को देखकर भी जिसे पसीजना चाहिए था, वह नहीं पसीजा।'

उसकी आँखों से चिनगारियाँ छूटती रहीं—'इतने पर भी मैं छला गया। शायद तुमने सुना नहीं, मैंने किस उदारता से अपना कवच और कुंडल उतारकर दे दिया! इससे मेरा व्यक्तित्व प्रतिक्रियात्मक हो जाना स्वाभाविक था। फिर भी मैंने उन्हींसे बदला लिया, जो उसके पात्र थे। ऐसी स्थिति तुम्हारे सामने आती तो धर्म-स्थापना का सारा दावा धूल में मिल जाता। बल्कि मैंने धर्म की जितनी रक्षा की, शायद तुम न कर पाते। मैंने किसीको धोखा नहीं दिया; किसीके साथ छल नहीं किया; किसीके साथ कृतघ्नता नहीं की।'

इतना सुनते-सुनते मैं एकदम घबरा गया। मुझे लगा कि यह अमूर्त प्रत्यय मेरी वैचारिक क्षमता का गला घोंट देगा। मैं चिल्ला पड़ा—'बस-बस, अब बस करो। तुमने तर्क के इतने तीर मारे कि मुझे जब भी तुम्हारी याद आएगी, मैं पश्चात्ताप की पीड़ा से छटपटाता रहूँगा। संप्रति तुम्हारे इन प्रश्नों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है।'

'युद्धक्षेत्र में अर्जुन की हर शंका का समाधान करनेवाले, 'गीता' का उपदेश देनेवाले, आखिर इस समय तुम पराजित हो गए।' सारा सन्नाटा शून्य की एक बीभत्स खिलखिलाहट में बदल गया। फिर एक आवाज ब्रह्मास्त्र की तरह मुझपर मारी गई—'तुम क्या उत्तर दोगे, इसका उत्तर कालदेवता देगा।'

आज तक मैं कभी विचार के इस स्थल पर इतना घायल नहीं हुआ था। मेरा सारा ज्ञान, मेरा सारा विवेक, मेरी सारी चिंतना अत्यंत असमर्थ हो गई। टूटे हुए मन के साथ मैं बहुत देर तक छटपटाता रहा। कब आँख लगी, पता नहीं।

सोकर उठा तो सूर्योदय हो चुका था।

छंदक ने सूचना दी—"अब मद्रराज शल्य के नेतृत्व में कौरव सेना युद्धक्षेत्र में होगी।"

"क्यों?"

"उन्हें ही सेनापति बनाया गया है।" छंदक ने बताया—"इस समय सेनापति के अभिषेक का आयोजन चल रहा है।"

हम सबके लिए यह सूचना अप्रत्याशित थी; पर जब छंदक ने यह बताया

कि उनके नाम का प्रस्ताव अश्वत्थामा ने किया, तब चित्र कुछ साफ होने लगा। अपने मामा कृपाचार्य के रहते अश्वत्थामा ने शल्य का नाम कैसे प्रस्तावित किया? बात कुछ अटपटी अवश्य लगी; फिर भी जो लोग अब बचे थे, उनमें शल्य के पराक्रम को अनदेखा नहीं किया जा सकता था।

इसी समय युधिष्ठिर का दूत आया। उसने समाचार दिया और कहा, ''महाराज ने पूछा है कि मामा के विरुद्ध लड़ना उचित होगा या सुलह की बात चलाना?''

युधिष्ठिर के इस सोच पर मुझे हँसी आ गई; पर भीतर-ही-भीतर मैं झुँझलाया भी। मैंने व्यंग्य करते हुए कहा, ''तुम्हारे महाराज तो युद्ध जीत लेने के बाद भी सुलह की बात चलाएँगे; जबकि हमारा विरोधी इतनी पराजयों के बाद भी संधि से घृणा करता है। युद्धस्थल में सभी मानवीय संबंध और रिश्ते समाप्त हो जाते हैं। कोई व्यक्ति केवल शत्रु या मित्र ही रह जाता है। और वे यह प्रश्न मुझसे पूछ रहे हैं, जिसने किशोरावस्था में ही अपने मामा का वध किया था!''

मेरी बात सुनकर दूत हँसने लगा।

मैं कहता गया—''आँगन में उगा काँटा भी काँटा ही होता है। उसे निकालकर फेंक देना ही धर्म है। मेरा सिद्धांत स्पष्ट है। जहाँ तक हो, युद्ध टालते जाइए; पर यदि वह अनिवार्य हो जाए तो पूरी निर्ममता के साथ उसका सामना करना चाहिए।''

दूत के जाते-जाते मैंने यह भी कहा, ''युद्ध में जरा भी ढिलाई नहीं करेंगे। यह न समझेंगे कि अब तो किनारे लग गया हूँ। बहुत से तैराक किनारे पर ही डूब जाते हैं।''

पांडवों ने मेरे कथन को बड़ी गंभीरता से लिया। उन्होंने पहली बार अपनी सेना के नेतृत्व को बाँटा। इसके तीन भाग किए और धृष्टद्युम्न, शिखंडी एवं सात्यकि को प्रत्येक भाग का नेता बनाया। फिर क्या था, पांडव सेना भूखे सिंह की तरह कौरवों पर टूट पड़ी। कौरवों ने भी उचित उत्तर दिया। फिर भी उनकी गंभीर हानि हुई। कर्ण के तीनों पुत्र मारे गए—और संयोग ऐसा हुआ कि तीनों का वध नकुल ने ही किया।

आज कौरवों की ओर से अश्वत्थामा के आक्रमण अद्भुत थे। उसने अगणित सैनिकों का वध किया। फिर भी संध्या तक युद्ध पांडवों के पक्ष में आ गया। परिणाम स्पष्ट दिखाई देने लगा।

लोग बड़े उत्साह में थे; पर मेरा मन बड़ा दुःखी था। युद्ध आरंभ होने के पहले जो प्रश्न अर्जुन ने मुझसे किए थे, अब वे ही प्रश्न मेरा मन मुझसे कर रहा था।

इतने बड़े संग्राम का संचालन कर आखिर तुमने क्या पाया? उस समय तो अर्जुन को मैंने एक लंबा-चौड़ा भाषण दिया। इस समय अपने सामने मेरा 'मैं' चुप हो गया था और रात्रि के प्रथम चरण का सन्नाटा भोग रहा था।

कौरव और पांडवों के अधिकांश शिविर अँधेरे से अधिक निस्तब्धता में डूब गए थे। कभी मशालों में झिलमिलाते ये शिविर धरती पर तारों भरे आकाश का प्रतिबिंब जान पड़ते थे। आज वहीं एक्की-दुक्की मशालें जल रही थीं—निराशा के गहरे अंधकार में डूबती ज्योति किरण की तरह।

हारे हुए जुआरी की भाँति सबकुछ गँवाकर खाली हाथ झुलाता हुआ मैं अपने शिविर के बाहर टहल रहा था। पौष के शीतल हवा के झोंके भी इस सन्नाटे में सहमे-सहमे जान पड़ रहे थे। कहीं-कहीं कुत्तों का भौंकना ही इस सन्नाटे के चीथड़े नोच लेता था। उन्हींकी आवाज सुनाई देती थी, अन्यथा कोई आवाज नहीं, कोई ध्वनि नहीं—न रोने की, न चिल्लाने की। सिसकियाँ भी जैसे सो गई हों। युद्ध की निर्ममता ने इस क्षेत्र के कोलाहल का गला घोंट दिया हो। ऐसे में पूर्व की ओर से एक काला धब्बा बढ़ता-सा लगा। इस समय कौन अभागा और किसके लिए निकला है!

थोड़ी ही देर में मैंने अनुभव किया कि वह सीधे मेरी ही ओर आ रहा है। अब वह धब्बा पुरुष छाया में बदलकर आकार लेने लगा। अरे, यह तो चेकितान है। आज क्या बात है कि यह इस समय चला आ रहा है? इसके पहले तो यह कभी मिला भी नहीं। युद्ध के बीच भी नहीं। इसके संबंध में मेरी उत्सुकता स्वाभाविक थी।

उसने आते ही बड़े सम्मान से कहा, "मैं आपके सहयोग का आकांक्षी हूँ।"

मैं बड़े आश्चर्य में पड़ा। इस समय मैं इसकी क्या सहायता कर सकता हूँ?

"तुम निस्संकोच कहो। जो भी संभव होगा, करूँगा।" मैंने कहा।

"आपके लिए क्या संभव नहीं है!" अब चेकितान ने विस्तार से बताया—"सुना है, हमारे भीमसेनजी सभी धृतराष्ट्रपुत्रों के वध का संकल्प ले चुके हैं।"

"एक युयुत्सु को छोड़कर।" मैंने परिहास के लिए उसे बीच में ही टोका।

"जी हाँ, जी हाँ।" वह भी हँसा। फिर बड़ी गंभीरता से बोला, "मैं चाहता हूँ कि दुर्योधन का वध मैं करूँ; क्योंकि उसने जीवन भर मुझे परेशान किया है। आप तो जानते ही हैं कि मेरा राज्य हस्तिनापुर के समीप ही पड़ता है।

उसने जीना मुहाल कर दिया था। तभी मेरे प्रतिशोध ने संकल्प कर लिया था कि कभी-न-कभी मैं इसका वध अवश्य करूँगा। इससे मुझे और मेरे परिवार को बड़ी शांति मिलेगी।''

''तो इसमें मेरे सहयोग की क्या आवश्यकता?'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''फिर यह युद्धक्षेत्र है, शत्रु का संहार करना तुम्हारा धर्म है। तुम किसी भी शत्रु को मार सकते हो। पहले भी मार सकते थे।''

''पहले मैंने कई बार चेष्टा की थी; पर मैं सफल नहीं हो सका। हर बार मुझे घायल होकर पीछे हटना पड़ा। अब तो वह लगभग आधा मारा जा चुका है। उसका उत्साह मर चुका है। उसका सपना मर चुका है। अब वह विजय के लिए नहीं, सम्मानजनक पराजय के लिए युद्ध कर रहा है।'' फिर वह क्षण भर के लिए रुका। बोला, ''स्वयं मैंने इसका संकेत भीमसेन से किया था। तब उसने कहा, 'कोई भी मेरे आखेट पर यदि दृष्टि गड़ाएगा तो यह अच्छा नहीं होगा।' ''

मुझे हँसी आ गई। मैंने सोचा, यह प्रतिशोध की भावना का संघर्ष है, जो प्रतिशोध से कम युयुत्सु नहीं। मैंने उससे कहा, ''इसमें क्या है, कल युद्ध आरंभ होते ही तुम सीधे दुर्योधन पर टूट पड़ो। लोग शल्य, अश्वत्थामा तथा अन्य से भिड़ने लगेंगे। तुम्हारा बस एक ही लक्ष्य होना चाहिए—अर्जुन की चिड़िया की आँख की तरह।''

''फिर बाद की स्थिति आप सँभालिएगा।''

''बाद की स्थिति बाद में देखी जाएगी।''

दूसरे दिन स्थिति कुछ ऐसी बनी कि पांडवों ने सबसे पहले शल्य को घेरा। चेकितान को स्पष्ट अवसर मिला। वह भूखे भेड़िए-सा दुर्योधन पर टूट पड़ा। अश्वत्थामा को उलझा लिया था अर्जुन ने।

इतने महावीरों का अपने प्रतिद्वंद्वियों को चुन लेना इस बात का स्पष्ट संकेत देने लगा जैसे आज ही युद्ध का अंत हो जाएगा। भीम के लिए सबसे बड़ी परेशानी खड़ी की कृतवर्मा ने। उसने एक के बाद एक भीम के दस घोड़े मार डाले।

इधर भीम घायल हो गया और उधर शल्य। शल्य को तो ऐसा बाण लगा कि वह छटपटाने लगा। उसकी यह दशा देखकर कृपाचार्य ने उसे उसके रथ से निकालकर अपने रथ में डाल लिया और चले युद्ध से भाग। ठीक इसी समय युधिष्ठिर ने शल्य के चक्ररक्षक को मार डाला।

शल्य के बुरी तरह घायल होने से कौरव तिलमिला उठे। उधर लोग दुर्योधन को बचाने में लगे। इसी बीच कहीं से एक प्रास चेकितान पर फेंका गया।

तुरंत उसकी छाती फट गई। यह प्रास किसने फेंका, यह तो दिखाई नहीं दिया; बाद में पता चला कि इसे दुर्योधन ने मारा था।

□

कौरवों की निराशा का ठिकाना न रहा। धीरे-धीरे करके एक-एक नक्षत्र अस्त होते गए। उनके भाग्य चंद्र पर उसी समय ग्रहण लग गया था, जिस दिन कर्ण मारा गया था। अब तो सबकुछ निगल जानेवाला अँधेरा उन्हें दिखाई दे रहा था; क्योंकि आज के युद्ध में शल्य बेतरह घायल हो गया था। जब कृपाचार्य ने उसे अपने रथ में डाला तब जीवन का अस्तित्व मात्र शेष रह गया था। केवल उसकी साँस चल रही थी। विश्वास किया जा रहा था कि आज की रात उसके जीवन की अंतिम रात होगी।

पर वाह रे हस्तिनापुर के वैद्यराज! उन्होंने रात भर में शल्य के शरीर में नव जीवन डाल दिया। आज के युद्ध का सेनापतित्व उसीने आरंभ किया; पर एकदम शिथिल। घायल सिंह भले ही उठ न सके, पर जहाँ रहता है वहीं से उसका क्रोध उबाल खाता है, गरजता है; पर इस सिंह में तो शायद गरजने की भी शक्ति न रह गई थी।

आज सबसे आक्रामक युधिष्ठिर थे। वे सीधे शल्य पर चढ़ बैठे। उन्होंने एक शक्ति का प्रयोग किया, जिसके संबंध में कहा जाता था कि यह अंगिरा द्वारा उत्पन्न 'कृत्या' से भी भयंकर है। मुझे कभी विश्वास नहीं था कि शक्ति का प्रयोग युधिष्ठिर शल्य पर करेंगे—वह भी आज के शल्य पर। वस्तुत: यह कर्ण के लिए सुरक्षित रखी गई थी। अब जब कर्ण ही नहीं रहा तो इसकी उपयोगिता क्या, शायद यही युधिष्ठिर ने सोचा हो।

गंभीर चीत्कार के बाद शल्य की धज्जी-धज्जी बिखर गई। युधिष्ठिर ने अपना शंख 'अनंतविजय' फूँका। पांडव सैनिक विजय के उन्माद में नाच उठे। कौरवों में भगदड़ मच गई। दुर्योधन चिल्लाया। अश्वत्थामा ने भी सैनिकों में नया उत्साह भरा। फिर सेना इकट्ठी की गई।

तुरंत बिना किसी औपचारिकता के तथा बिना किसी कार्यक्रम के अश्वत्थामा को सेनापति घोषित किया गया और फिर युद्ध आरंभ हुआ।

अब युद्ध में दो ही दिखाई दे रहे थे—एक ओर अश्वत्थामा और दूसरी ओर भीमसेन। अर्जुन का धनुष कौरव सेना पर अग्नि बरसा रहा था। कौरव सेना में वह ऐसा घुस गया था जैसे कोई पकी फसल काट रहा हो। अनेक कौरव सैनिक मारे गए।

अब धृतराष्ट्र अपने बारह पुत्रों की मृत्यु की प्रतीक्षा में जीवित थे। भीम का प्रयत्न था कि वह आज ही अपना संकल्प पूरा कर ले। शायद आज का युद्ध उसके जीवन का अंतिम युद्ध हो—और शीघ्र ही उसे सफलता भी मिली। देखते-देखते उसने लगभग सभी धृतराष्ट्रपुत्रों को यमलोक पहुँचा दिया। अब केवल दुर्योधन बच गया था। अब भीम उसी पर पिल पड़ा। दो मेरु आपस में टकराने लगे। कोई किसीको पीछे ढकेल नहीं पा रहा था।

इधर सात्यकि ने अपने पुराने शत्रु कृतवर्मा को धर दबोचा। उसकी प्रकृति थी कि जब वह अच्छी तरह मार खा जाता था तब युद्धक्षेत्र से चंपत हो जाता था। एक-दो दिन तक दिखाई नहीं देता था। तब तक हमारी सेना में पीछे की ओर कोलाहल मचा। बाद में पता चला कि शकुनि ने उधर कूटयुद्ध आरंभ कर दिया है, जिससे भीम दुर्योधन को छोड़कर उधर की ओर मुड़ा। जीवन भर पासा फेंकनेवाले ने युद्ध में भी पासा फेंका और शोर मचा दिया कि पांडवों के बहुत सारे महारथी मारे गए।

हमें पता चलते ही अर्जुन ने तत्क्षण एक अश्वारोही का अश्व लिया और पांडव सेना के बीच से ही शकुनि की ओर बढ़ा; क्योंकि अपनी ही सेना पर रथ चलाना उचित नहीं था—और आगे बढ़ते ही अर्जुन अकेला पड़ जाएगा, मैंने सोचा। पर मैं कर ही क्या सकता था!

उसके पहुँचने के पहले ही सहदेव ने शकुनि का काम तमाम कर दिया था। अर्जुन बीच से ही लौट आया; क्योंकि उसकी दृष्टि दुर्योधन और अश्वत्थामा की ओर थी।

मैंने अर्जुन को सावधान किया—''तुम उसे जितना चाहे मार सकते हो, पर जान से मत मारना।''

''क्यों?''

''वह भीम का आखेट है। उसकी युद्धक परिकल्पना का वह केंद्रबिंदु है और एक सार्वजनिक सभा में उसके लिये गए संकल्प का आधार भी।'' मैंने कहा।

''पर भैया इस समय संकट में हैं। वे गिर भी सकते हैं।''

''तो तुम पूरी तरह तैयार रहो। उनके गिरते ही उन्हें उठाकर अपने रथ में डाल लेना और तुरंत सुरक्षित स्थान पर ले जाना।''

''इसी संकल्प-पालन के चक्कर में हमारा चेकितान जैसा योद्धा मारा गया।''

''चेकितान भले ही मरा हो, पर उसका संकल्प तो नहीं मरा। तुम तो भीम

के संकल्प को ही मार देना चाहते हो।'' मैंने इन्हीं सबके संदर्भ में कहा, ''इसीलिए कर्ण तुम सबमें महान् था। उसने जब तुम्हें छोड़कर सब भाइयों को अभयदान दे दिया था तब किसीको नहीं छुआ। वह चाहता तो उन्हें मार सकता था। युधिष्ठिर के कई घातक प्रहारों पर तो ऐसा लगा कि वह अपना वचन तोड़ देगा; पर उसने ऐसा नहीं किया। मुसकराकर उसने मृत्यु की निकटता का स्वागत किया।''

''यह तो बड़े आश्चर्य की बात है!'' अर्जुन चकित था—''उसने मुझे छोड़कर मेरे सभी भाइयों को अभयदान दिया था! पर कब? कहाँ? कैसे?''

''इसे अभी रहस्य ही रहने दो और समय की प्रतीक्षा करो।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''इसका तात्पर्य है कि हमारे भाइयों का जीवित रहना उसकी कृपा है?''

''तुम्हारे भाइयों का नहीं, तुम्हारा भी।''

''यह आप क्या कह रहे हैं?''

''मैं जो कुछ कह रहा हूँ, समय उसका साक्षी होगा। यह समय विवाद का नहीं है। दुर्योधन को जितना घायल कर सकते हो, कर दो; जिससे भीम का लक्ष्य आसान हो सके।''

अर्जुन ने ऐसा ही किया। उसने अपने तीव्र प्रहार से दुर्योधन के सारे शरीर को बींध दिया। अब दुर्योधन के हाथ से गदा भी छूटकर गिरने लगी।

भीम ने भी दो-एक गदाएँ ऐसी फेंककर मारीं कि वह लगभग गिरते-गिरते बचा। अब उसका युद्धक्षेत्र में ठहरना कठिन हो गया। किसी प्रकार वह एक अश्व पर चढ़ा और भाग चला। भीम ने भी उसका पीछा किया।

मैं जोर से चिल्लाया—''युद्ध से भागते हुए पर योद्धा वार नहीं करते!'' बिना किसी आपत्ति और विवाद के भीम ने संप्रति मेरी बात मान ली; पर उसका पीछा करना नहीं छोड़ा।

आज अमावस्या थी। दिन अपने उतार पर था, पर संध्या नहीं हुई थी। फिर भी अँधेरा होने लगा था। मुझे जयद्रथ वध का दिन याद आया। कहीं कोई आकाशीय चमत्कार तो नहीं हो रहा है। तुरंत याद आया, आज सूर्यग्रहण होने वाला है और उसका प्रवेश भी हो चुका है।

तब तक मुझे ऐसा लगा कि कहीं से छंदक की आवाज आ रही है। मैंने समझा, भ्रम हो रहा है। युद्धस्थल में कभी छंदक आता ही नहीं था। उसका कार्य तो युद्ध के बाद शुरू होता था—घायलों की सेवा करने का। फिर इस समय वह यहाँ कहाँ?

फिर भी विजय के कोलाहल को चीरती हुई उसकी आवाज बराबर सुनाई पड़ रही थी। मैंने इधर-उधर देखा, पर कहीं वह दिखाई नहीं पड़ा। अब मैं रथ पर खड़ा हो गया। मैंने देखा कि वह पीछे से अश्व पर सवार दौड़ा चला आ रहा है। पर मेरी स्थिति रथ रोकने की नहीं थी; क्योंकि दुर्योधन का पीछा करता हुआ भीम घेरा जा सकता था।

मैंने चलते-चलते ही उसे संकेत किया।

उसने अश्व की चाल और तेज की तथा निकट आकर सूचना दी—''बलराम भैया आ गए हैं।''

''क्या उनकी तीर्थयात्रा पूरी हो गई?''

''पूरी हो गई होगी, तभी न!''

''स्थिति तो तुम देख ही रहे हो। जाकर सारी सूचना दो। मेरे शिविर में उनके विश्राम की सारी व्यवस्था करो और उनसे कहो, आपकी यात्रा की तरह युद्ध भी आज ही पूरा हो सकता है।'' इतना कहते-कहते मुझे संयोग की भूमिका पर विस्मय भी हुआ और हँसी भी आई—'कितने आश्चर्य की बात है कि अपने दोनों शिष्यों के युद्ध के समय वे आ धमके।'

□

चलते-चलते एक सरोवर के किनारे वटवृक्ष से बँधा दुर्योधन का अश्व दिखाई दिया। वह हिनहिना रहा था और अपने पैरों से धरती खोद रहा था। स्पष्ट था कि दुर्योधन अभी उतरकर पैदल ही किसी दिशा में भागा है। सामने पहाड़ी थी। सरोवर का जल उस पहाड़ी का स्पर्श कर रहा था। अब चला जाए तो किधर चला जाए?

हम सभी लोग वहीं उतरे। भीम उस जल में कूदने जा रहा था।

मैंने कहा, ''पागल हुए हो! दुर्योधन कोई जलजंतु तो है नहीं, जो पानी में छिपा हो!''

''वह धूर्त है, कहीं भी छिप सकता है।'' भीम बड़े आवेश में था—''यदि वह बच गया तो कौरव वंश बच जाएगा।''

''तुम अपने क्रोध पर नियंत्रण करो। इतना अहंकार हितकर नहीं।'' मैंने कहा, ''और यह अच्छी तरह समझ लो कि न तुम किसी वंश का निर्माण कर सकते हो और न विनाश। यह कार्य प्रकृति का है। धरती अपना बीज अपने में सुरक्षित रखती है। ठीक इसी प्रकार का भ्रम परशुराम को भी था। उन्होंने अनेक बार धरती से क्षत्रियों को मिटा देने का दावा किया; पर आज तक क्षत्रिय नहीं मिटे और

न परशुराम परंपरा मिटी।''

भीम कुछ शांत दिखाई दिया।

मैंने फिर कहा, ''देखो, दुर्योधन का अश्व हिनहिना रहा है। पगों से धरती भी खोद रहा है। जानते हो क्यों? इसे मालूम है कि इसका स्वामी किधर गया है। यदि कौतुक देखना चाहते हो तो देखो।'' मैंने दुर्योधन का अश्व खुलवा दिया।

ज्यों ही अश्व खोला गया, वह सीधे सरोवर में कूद पड़ा और तैरता हुआ आगे बढ़ा। हम सब चकित रह गए। यह जा कहाँ रहा है? क्या दुर्योधन पानी के भीतर छिपा है? यह कैसे हो सकता है?

घोड़ा सीधे पहाड़ी की ओर बढ़ रहा था। थोड़ी ही देर में हमने देखा कि सामने पहाड़ी के भीतर एक बड़ी गुफा है। गुफा के भीतर भी सरोवर का जल चला जा रहा है। घोड़ा उसीमें जाकर लुप्त हो गया।

''लगता है, यह गुफा उस पार निकल जाती होगी।'' भीम बोला, ''लगता है, वह नीच उसीसे भाग गया।''

मैं मुसकराया। लोगों की प्रश्नवाचक मुद्रा मेरी ओर लगी।

''दुर्योधन अभी युद्धक्षेत्र से भागा है, पर युद्ध से नहीं। कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा जैसे लोग उसके पास हैं। मैं उसे जानता हूँ। वह जीवन की अंतिम साँस तक लड़नेवाला व्यक्ति है। वह कहीं बैठकर योजना बना रहा होगा।''

तब तक वह घोड़ा फिर गुफा से बाहर आया। मुझे लगा कि दुर्योधन ने घोड़े को लौटा देने की मूर्खता कर दी। उसे क्या मालूम कि लोग उसका पीछा करते यहाँ तक आ गए हैं।

''अब तो लगता है, इसी गुफा में दुर्योधन छिपा है।'' मैंने कहा।

भीम फिर सरोवर में कूदने के लिए आगे बढ़ा।

मैंने उसे तुरंत रोका और पूछा, ''क्या तुम उस गुफा के भीतर जाने के बाद निकल सकोगे? मनुष्य सदा जाने-बूझे स्थान में छिपता है—और दुर्योधन ने बहुत पहले से वहाँ छिपने की व्यवस्था कर रखी होगी। यह गुफा उसकी जानी-बूझी होगी और तुम्हारे लिए अनजान।''

तब तक अँधेरा और बढ़ गया। ग्रहण अपने चरम बिंदु पर था।

''तुम अपनी गदा को पाषाणखंड पर पीटते हुए उसे ललकारो। उसे बाहर निकालो और तब युद्ध करो।'' मैंने भीम से कहा।

पर उसका ललकारना व्यर्थ हो गया। तब युधिष्ठिर ने उसे लताड़ना आरंभ किया—''दुर्योधन, आज तेरा वह अहंकार कहाँ गया? तेरी वह गर्जना कहाँ गई?

सारी पृथ्वी पर राज करने का तेरा वह स्वप्न कहाँ खो गया?''

युधिष्ठिर की आवाज सुनते ही दुर्योधन ने समझ लिया कि सारा सरोवर पांडव सेना ने घेर लिया है। अब बचना कठिन है। तब वह गुफा से बाहर निकलकर वहीं से बोला, ''अब मैं किसके लिए लड़ूँ? मेरे सारे भाई मारे गए। मेरी सारी सेना समाप्त हो गई। अब आप हस्तिनापुर जाइए और राज कीजिए।''

''हम क्षत्रिय हैं। सिंहवृत्ति से अपना अधिकार ग्रहण करते हैं। हम तुम्हारे दान से उपकृत होना नहीं चाहते।'' अर्जुन ने कहा।

उसीका समर्थन करते हुए युधिष्ठिर बोले, ''जब हमारी ओर से श्रीकृष्ण पाँच ग्राम माँग रहे थे तब तुमने कहा था कि 'बिना युद्ध के सुई की नोक के बराबर भी धरती नहीं दूँगा।' अब आज तुम इतने उदार कैसे हो गए?''

''किसके बल पर अनुदार बनूँ? अब न पितामह रहे, न आचार्य द्रोण, न कर्ण और न भूरिश्रवा। मेरे सारे भाई मारे गए। सारी सेना समाप्त हो गई। अब केवल कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा बचे हैं। इन लोगों ने युद्ध करने का विचार छोड़ दिया।''

''विचार छोड़ दिया!'' मेरे मुँह से निकला।

मेरे इतना कहने पर वह एकदम भभक पड़ा—''सारी आग तुम्हारी लगाई हुई है और अब तुम्हीं शंका करते हो! यह क्या हुआ? तुम्हारे जैसा धोखेबाज और छली व्यक्ति मैंने नहीं देखा। कौरवों के विनाश में तुम्हीं हो। तुमने आरंभ से ही मेरे साथ छल किया। तुमने युद्ध के सारे नियम तोड़े और तुड़वाए। युद्ध में शस्त्र न उठाने का वचन देने के बाद भी तुमने शस्त्र उठाया। तुमने शिखंडी को अर्जुन के आगे रखकर पितामह को युद्ध न करने के लिए विवश कर दिया। हाथ कटने के बाद भूरिश्रवा जब प्रायोपवेशन व्रत का संकल्प ले युद्धक्षेत्र में बैठ चुका था, तब तुम्हींने प्रेरणा देकर सात्यकि से उसका वध करवाया। तुमने युधिष्ठिर जैसे सत्यनिष्ठ से झूठ बुलवाकर द्रोणाचार्य का अंत करवाया। भूमि में रथ के पहिए के धँस जाने के बाद भी तुमने अर्जुन से कर्ण पर प्रहार कराए; यद्यपि कर्ण के कहने पर वह खुद गांडीव रख चुका था। तुम अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना करनेवाला होने का दावा करते हो; पर तुम्हारे जैसा छली, धोखेबाज शायद ही आर्यावर्त्त में कोई दूसरा हो।''

मैं भी आवेश में आ गया। मैंने कहा, ''तुम्हारा तो सारा जीवन ही ऐसे छल, अपराध और कुकर्मों से भरा है।'' मैंने भीम को बचपन में विष देने से लेकर कौरव सभा में स्वयं को बंदी बनाए जाने तक का उल्लेख किया।

"पर मैंने कभी धर्म की स्थापना करनेवाले का स्वाँग नहीं किया। मैंने जो किया वह जीवन में किया। युद्ध में सारे पाप-द्वेष छूट जाते हैं, व्यक्ति बदल जाता है, उसके संबंध बदल जाते हैं। केवल युद्ध का ही नियम उसका नियम होता है। एकाध अवसर छोड़कर मैंने शायद ही कभी युद्ध के नियमों का उल्लंघन किया हो।" वह थोड़ा और आवेश में आया—"और तुम बात करते हो, जिसके पिता कंस के यहाँ चाकर थे! तुम तो राजाओं से बात करने योग्य भी नहीं हो। तुम्हारी उपलब्धि छल, प्रपंच और धोखाधड़ी की है।"

उसकी बातों का उत्तर देना मैंने ठीक नहीं समझा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मेरे पास उत्तर नहीं था। मैंने अपना स्वर बदला—"मनुष्य को अवश्य ही अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है, चाहे वह कर्मयुद्ध में हो या जीवन में हो।"

"उन्हींका फल भोग रहा हूँ न कि आज चुल्लू भर पानी क्या, इतना बड़ा सरोवर भी डूब मरने के लिए पर्याप्त नहीं है। पर याद रखना, कृष्ण! तुम्हें भी अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा।" वह आक्रोश में काँप भी रहा था और पश्चात्ताप भी कर रहा था—"शायद स्वजनों का तर्पण करना ही मेरे भाग्य में हो।"

"तुम स्वजनों को तर्पण देने के लिए भी नहीं बचोगे, दुर्योधन!" अब भीम का क्रोध तिलमिलाया—"हम इधर-उधर की बातों में आनेवाले नहीं हैं। यदि तुममें जरा भी स्वाभिमान शेष हो तो बाहर निकलो। हमारे युद्ध की चुनौती स्वीकार करो।"

"संध्या ढलने वाली है। यहाँ तक हम तुम्हारी खोज में इसलिए आए हैं कि आज दिन की समाप्ति के साथ-साथ कौरव वंश भी समाप्त हो जाए।"

अब भीम ने फिर ललकारा—"हम संशप्तक व्रत लेकर आए हैं; या तो तुम्हें मारेंगे या स्वयं मर जाएँगे।"

यों ही भीम को देखकर दुर्योधन का क्रोध उबल पड़ता था; मानो उसका वही जन्मजात शत्रु हो। पांडवों में एक भीम ही था, जिसे उसने बचपन से मार देने की चेष्टा की थी।

भीम द्वारा पुनः ललकारने पर वह पानी से बाहर आया और बड़े स्वाभिमान से बोला, "लो, मैं तुम्हारे सामने निरस्त्र खड़ा हूँ। जो करना चाहो, कर लो।"

"संकल्पभ्रष्ट मैं नहीं होना चाहता और निरस्त्र पर मैं अस्त्र भी नहीं उठाता।"

"अच्छा, तो उस समय तुम लोगों ने हमारे कई सेनानायकों के हाथ से अस्त्र छुड़वाकर उनका वध क्यों किया था?" इसके बाद दुर्योधन ने मेरी ओर

संकेत कर स्पष्ट कहा, ''सारा खोवा कूटनेवाले, इस समय तुम्हारी जबान क्यों बंद है?''

सचमुच उसने मुझपर इतने व्यंग्य बाण मारे थे कि अब उसके तूणीर में शायद ही कोई बाण रह गया हो। मैं बोलता भी तो क्या बोलता, चुपचाप मुसकराता रहा। किंतु कई बार कुरेदने पर मैंने इतना ही कहा, ''मुझे क्या कहते हो! पांडवों की चुनौती स्वीकार कर स्वर्ग पधारो—या भाग तो रहे ही थे, अब भी भाग जाओ और कायरों का नाटकीय जीवन स्वीकार करो।''

अब वह युद्ध करने को तैयार हुआ। उसने कहा, ''किंतु यह युद्ध एकाकी होगा। एक व्यक्ति से एक ही व्यक्ति लड़ेगा और किसी एक अस्त्र का ही प्रयोग किया जाएगा।''

''तो तुम पांडवों में से जिसे चुनना चाहो, अपना प्रतिद्वंद्वी चुन लो।'' मैंने कहा।

उसने तुरंत अपने सनातन वैरी भीम को चुना। गदायुद्ध होने लगा। पहाड़ पहाड़ से टकराने लगे। हर प्रहार पर चिनगारियाँ छूटने लगीं। हम लोग दूर खड़े मौन दर्शक थे। भीम को प्रोत्साहित करते और भीतर-भीतर शुभाशंसा भी करते रहे।

इसी बीच हमें खोजते हुए बलराम भैया भी आ गए।

''युद्ध समाप्त होने के बाद यहाँ क्या हो रहा है?'' वे आते ही बोल पड़े।

मैंने दूर ले जाकर उन्हें समझाया, क्योंकि मैं उनकी प्रकृति जानता था। वे बड़ी जल्दी आवेश में आ जाते थे।

''यह धर्मयुद्ध हो रहा है। हम लोग मात्र द्रष्टा हैं।'' मैंने कहा।

''तब भीम को उत्साहित करने के लिए तुम लोग तालियाँ क्यों बजा रहे हो? इससे तुम्हारी मंशा स्पष्ट हो रही है।'' भैया ने आवेश में कहा, ''धर्मयुद्ध का द्रष्टा निरपेक्ष होता है—और तुम निरक्षेप नहीं। स्पष्ट जान लो, यदि तुम भीम को प्रोत्साहित करोगे तो मैं दुर्योधन को प्रोत्साहित करूँगा। तब तुम्हारे और मेरे बीच प्रोत्साहन युद्ध आरंभ हो जाएगा।''

मैंने भीम को किसी प्रकार का प्रोत्साहन देना तुरंत बंद कर दिया। अब हम लोग चुपचाप एक किनारे खड़े हो गए।

युद्ध चलता रहा। दोनों रक्त से लथपथ हो गए। शांत ज्वालामुखी की तरह हम ऊपर से शांत दिखते रहे, पर भीतर-ही-भीतर धधकते रहे। हमारे हृदय की धड़कन बढ़ गई थी। स्पष्ट लग रहा था कि दुर्योधन बीस पड़ रहा है। एक तो

उसका कवच अद्‌भुत था—ग्रीवा के नीचे से कटि के नीचे तक और दूसरे शिरस्त्राण भी सैकड़ों गदा सहने की शक्तिवाला। इसलिए शक्तिशाली होने के बाद भी हर बार भीम का प्रहार निरर्थक जाता था। दूसरी ओर दुर्योधन का एक प्रहार भी यदि बैठ जाता तो भीम तिलमिला उठता। एक बार तो भीम के सीने पर उसने ऐसी गदा मारी कि वह एकदम बैठ गया; किंतु शीघ्र ही सँभल गया।

मुझे लगने लगा कि भीम पराजित भी हो सकता है; क्योंकि भीम का सही प्रहार सही स्थान पर नहीं बैठ रहा है। मेरा धैर्य डगमगाया। मैंने धीरे से अपनी ही जाँघ पर मुष्टिका मारकर दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार करने का संकेत किया।

भीम का अगला प्रहार मेरे संकेत पर था। दुर्योधन की जाँघ की हड्डी चूर-चूर हो गई। वह गिर गया और पीड़ा से छटपटाने लगा।

''यह क्या किया तुमने नीच!'' भैया एकदम आवेश में आ गए। उनका कहना था—''कटि के नीचे प्रहार करना गदायुद्ध के सर्वमान्य नियम के विरुद्ध है। यह सरासर अन्याय है। धर्मयुद्ध के नाम पर अधर्म है।'' बोलते-बोलते वे इतने आवेश में आ गए कि स्वयं भीम से युद्ध करने के लिए अपना हल लेकर बड़े झटके से आगे बढ़े।

कौन क्रुद्ध आँधी को रोके!

मैं भी बड़े आवेश से आगे बढ़ा और अपने दोनों हाथ उनकी कमर में डाल दिए तथा उन्हें रोकते हुए बोला, ''अरे, सुनिए तो सही!''

''क्या सुनूँ?'' वे क्रोध में काँप रहे थे—''तुम तो यह जानते ही हो, कन्हैया, दुर्योधन और भीम दोनों मेरे शिष्य हैं। मैं दोनों को समान रूप से मानता हूँ। मुझे इन दोनों की राजनीति से क्या लेना-देना! मेरे सामने यह अन्याय हुआ! मेरे लिए तो डूब मरने की बात है। लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे कि बलराम जैसे गदायुद्ध के आचार्य के सामने अन्याय युद्ध हुआ—और वह भी उनके ही शिष्यों के बीच!''

''आप ठीक कहते हैं। यह खुल्लम-खुल्ला अन्याय है; पर हमें उन संदर्भों को भी समझना चाहिए।''

''भाड़ में जाएँ वे संदर्भ!'' भैया रुक अवश्य गए, पर उनका आक्रोश समाप्त नहीं हुआ—''यदि मुझे संदर्भ सुनना होता तो मैं इस महायुद्ध को छोड़कर जाता क्यों? भले ही मैं उसका भागीदार न बनता, पर छंदक की तरह उसका द्रष्टा तो बन ही सकता था।''

''आज मैं धन्य हुआ! मुझे लगा कि इस संसार में मैं अकेला नहीं हूँ।'' छंदक मुसकराते हुए बोला और भैया के सामने मस्तक झुका दिया।

भैया ने हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद दिया।

मैंने अनुभव किया कि भैया की मुद्रा बदली। तुरंत मैंने संकेत किया। भीम आकर भैया के चरणों पर गिर पड़ा। शिष्य नत था। क्रोध का सर्प क्षमा की पिटारी में बंद हो गया। भैया प्रकृतिस्थ हुए।

दूसरी ओर दुर्योधन छटपटा रहा था। उसने भैया से तड़पते हुए आग्रह किया—''जरा इधर पधारो, गुरुदेव! मरने के पहले आशीर्वाद ले लूँ।''

भैया चुपचाप उधर बढ़ गए। रेंगते हुए दुर्योधन ने उनके चरणों पर अपना सिर रख दिया। भैया की आँखों से लगा कि उनका हृदय भर आया है।

उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, ''तुम्हें मेरा आशीर्वाद है। तुमपर मैं गर्व करता हूँ, वत्स, कि तुमने एक वीरोचित मृत्यु स्वीकार की।''

उसके निकट से भैया धीरे-धीरे टूटे मन से हम लोगों के पास आए और बोले, ''मैं किधर का मारा इधर चला आया! इस विनाश के अंत का साक्षी बना।'' वे कुछ क्षणों के लिए रुके। फिर कुछ सोचते हुए बोले, ''लगता है, आर्यावर्त्त के विनाश का भी मैं ही साक्षी बनूँगा।'' और बिना किसीसे कुछ बोले मुझे घूरते हुए चले गए।

हम लोग विजयी होकर लौट रहे थे; पर जाने क्यों, भीम को छोड़कर हम किसीमें वह उत्साह नहीं था।

हम अभी थोड़ा ही आगे बढ़े होंगे कि कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा इधर ही आते दिखाई दिए। कृपाचार्य ने तो हम लोगों को देखकर आँखें नीची कर लीं, पर अश्वत्थामा की आँखों से आग निकल रही था। कृतवर्मा ऐसे देख रहा था जैसे भूखा एवं अपाहिज सिंह देखता है कि मिलने पर कच्चा ही चबा जाएगा।

आज सूर्यास्त के साथ ही कौरवों की प्रभुता का सूर्य भी अस्त होने लगा था।

□

नौ
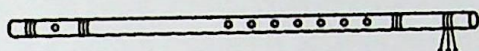
यद्यपि हम विजयी होकर लौट रहे थे; पर कोई ठहाका नहीं, कोई उल्लास नहीं। चुपचाप, गुमसुम; जैसे प्रत्येक के भीतर कुछ सुलग रहा था। मुझे सबसे बड़ी चिंता भैया के प्रति थी। वे मुझसे बिना कुछ कहे-सुने चले गए थे। निश्चय ही मुझपर वे अत्यधिक अप्रसन्न होंगे। मैं उनकी प्रकृति जानता था। वे कुछ भी कर सकते थे, कहीं भी जा सकते थे; चाहे उसका परिणाम बाद में कुछ भी हो। उन्हें रोकनेवाला भी कोई नहीं। फिर रोके भी क्या रुकते! इतना तो हमने रोकना चाहा; पर महाविनाश होकर ही रहा। संसार सोचता था कि सबकुछ मेरे हाथ में था; पर वास्तविकता यही थी कि मेरे हाथ में कुछ भी नहीं था। शायद मैं भी नहीं। ऐसा लगता है कि हम सब किसी महा नट के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। जैसा वह नाच नचाता है वैसा हम नाचते हैं। फिर क्या होगा, हम यह सोचते क्यों हैं?

ज्यों-ज्यों हम युद्धक्षेत्र की ओर आते गए, विधवाओं का आर्तनाद और तेज सुनाई पड़ने लगा। हमारा रथ औरों के रथ से आगे निकल आया था। पीछे से युधिष्ठिर के सारथि की आवाज सुनाई पड़ी। साथ में उसने रुक जाने का संकेत भी किया। सबके रथ रोक दिए गए।

मैंने देखा कि युधिष्ठिर रथ से उतरकर हमारी ओर पैदल बढ़ते चले आ रहे हैं। मैं भी रथ से उतर गया। मेरे साथ अर्जुन भी।

निकट आते ही उन्होंने कहा, "कन्हैया, इधर मत चलो।"

"फिर किधर चलूँ?"

"किधर भी चलें, पर इधर नहीं। घोर जंगल में चलो, जहाँ यह बढ़ता हुआ आर्तनाद हमें सुनाई न पड़े। यह मेरा हृदय विदीर्ण किए जा रहा है।" युधिष्ठिर बोले, "मैं इन आवाजों को सुन नहीं पा रहा हूँ।"

"पर आपको सुनना पड़ेगा। ये आवाजें आपका पीछा करेंगी। हजार गुना तेज होकर आपका पीछा करेंगी। अब यह आपकी नियति है। इस जन्म में तो छूटने

वाली नहीं।''

''संन्यास लेने के बाद भी नहीं?''

''संन्यास तो आप लीजिएगा न, समाज आप छोड़ दीजिएगा न; पर ये आवाजें आपको कहाँ छोड़ने वाली हैं!'' मैंने पूछा, ''क्या इस महासमर की भयंकरता, इसकी क्रूरता आपका मन और मस्तिष्क छोड़ सकता है? यह दुःख स्वप्न बनकर आपको छाएगा और आपका सोना हराम कर देगा। आग से भागने से आग शांत नहीं होती, वह तो बुझाने से शांत होगी।''

''फिर मैं क्या करूँ?''

''आपको सारा कष्ट इसलिए है कि आप सोचते हैं कि यह सब हमने किया है, या हमारे कारण हुआ है। आप यह क्यों नहीं सोचते कि इसे तो होना ही था। हम तो निमित्त मात्र बने हैं।''

''यह तो कठिन है।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''क्योंकि सोचना मस्तिष्क से होता है—और यह हृदय की बात है। सबकुछ सोचने के बाद भी हृदय नहीं मानता।''

''तो आपकी मूल समस्या यह विलाप और आर्तनाद नहीं है। आपकी मूल समस्या यह है कि आप मन और मस्तिष्क का समन्वय नहीं कर पा रहे हैं।'' इतना कहने के बाद मैं मुसकराया। फिर बोला, ''मन और मस्तिष्क का सार्थक समन्वय ही 'कर्मयोग' है।''

अब युधिष्ठिर को कुछ शांति मिली। वे चुपचाप अपने रथ पर चले गए।

अर्जुन पहले से ही बहुत प्रसन्न दिखाई नहीं दे रहा था। अब युधिष्ठिर के बारे में सुनकर उसका अवसाद और गहरा हो गया। इसलिए वह चुप था और चुप ही पांडव शिविर तक आया। यहाँ विजय का कोलाहल दिखा; पर बहुत सीमित, औपचारिक। सबसे अधिक कोई प्रसन्न था तो भीम और द्रौपदी। भीम तो प्रसन्नता में मर्यादा ही खो बैठा था। वह पागलों-सा दौड़ता हुआ शिविर में गया और द्रौपदी को उठाकर नाचने लगा। ऐसी अभद्रता उसने हम लोगों के सामने कभी नहीं की थी। किंतु शीघ्र ही वह शांत हो गया।

अर्जुन को छोड़कर मैं शिविर में गया ही नहीं, बाहर-बाहर ही लौट पड़ा। मेरा रथ थोड़ी दूरी पर खड़ा था। दारुक भी गंभीर दिखा।

मैंने उससे सहजभाव से कहा, ''आज तुम कुछ बोल नहीं रहे हो!''

''बोलने को अब रह ही क्या गया है!'' उसने कहा और रथ आगे बढ़ाया।

अभी रात्रि का प्रथम प्रहर था, पर रात बड़ी काली पड़ गई थी। कितनी

मशालें इन शिविरों में जलती थीं; पर इस समय पांडव शिविरों को छोड़कर कहीं कोई प्रकाश का नाम नहीं। प्रकाश के नाम पर रोनेवाले आकाश के तारे ही थे।

उसी अंधकार में हम बढ़े चले जा रहे थे। लगता है, आज हमारे शिविर में भी कोई मशाल जलानेवाला नहीं था। चारों ओर साँय-साँय करता काजल-सा अँधेरा। मैं दारुक से मशालें जलाने की व्यवस्था करने को कहकर भीतर घुसा। भीतर किसीके होने की आहट लगी।

प्रवेश करते ही मैंने पूछा, ''कौन?''

एक गंभीर सिसकन सुनाई पड़ी। मुझे लगा, अँधेरा सिसक रहा है। मैं भी चुपचाप आकर अपने पर्यंक पर निढाल हो गया। पहले मैंने सोचा कि कोई अभागिन विधवा होगी; पर किसी साधारण की विधवा को मेरे कक्ष में आने का साहस नहीं हो सकता। सोचते-सोचते मेरा मन आचार्य द्रोण की विधवा कृपी की ओर गया। शायद वह पूछने आई हो—'आखिर मैंने क्या अपराध किया था, जो मुझे इतना बड़ा दंड मिला? क्या किया था मैंने, जो आपने मेरे पति के विरुद्ध इतना बड़ा षड्यंत्र रचा?'

यह प्रश्न लगभग वैसा ही है जैसा काम के भस्म हो जाने पर रति ने शिव से पूछा था—'मेरे भाग्य का सिंदूर मिटाने का आपको क्या अधिकार है?' शायद उसने यह भी कहा था कि 'यह सही है कि मेरे पति ने आपकी समाधि भंग करने की कुचेष्टा की थी। उन्होंने अपराध किया था, उसका दंड उन्हें मिला; पर मुझे विधवा होने का दंड क्यों दिया गया?'

शिव निरुत्तर हो गए थे। उन्होंने विवश होकर कहा था—'तुम ठीक कहती हो, रति! पर तुम विधवा नहीं हुईं। तुम्हारा पति जीवित है। तुम सधवा ही हो और रहोगी; पर मैं उसे शरीर नहीं दे सकता। जीव को अंगी बनाने का सामर्थ्य मुझमें नहीं। अब वह अनंग बनकर सबके मनों में विराजेगा।'

'पर मेरी तो यह स्थिति नहीं है।' मैं सोचता रहा, 'आचार्य द्रोण ने तो मेरा कुछ बिगाड़ा नहीं था; फिर कृपी का सिंदूर पोंछने में मैं क्यों सहायक हुआ?' मैं एकदम निरुत्तर था। बीच-बीच में सिसकन और भी मुझे व्यग्र करती रही।

किंतु वास्तविकता का तब उद्घाटन हुआ जब मेरे शिविर की मशाल जलाई गई। यह कृपी नहीं थी, युयुत्सु था। अब मुझे शांति मिली। अब तक अंधकार का अकेलापन आशंका बनकर मुझे काटता रहा।

मैंने बड़ी सहानुभूति से पूछा, ''तुम अंधकार में ऐसे एकाकी क्यों बैठे हो, युयुत्सु?''

''अब अंधकार और अकेलेपन के सिवा मेरे जीवन में और क्या है, जिसके साथ बैठूँ!'' इतना कहते-कहते उसके धैर्य का बाँध टूट गया। वह रो पड़ा। बोला, ''अब तो चारों ओर अंधकार है। जाऊँ तो कहाँ जाऊँ? सौ भाइयोंवाला मैं अब निरीह रह गया हूँ। सबको यह भयानक युद्ध निगल गया। अच्छा होता, यदि मैं भी मार डाला गया होता। इस धरती पर एकाकी रहने से अच्छा था—सभी भाइयों के साथ रहना।'' फिर जैसे उसके गले में कोई चीज अटकी। उसे हिचकी आई।

मैंने उसे पीने के लिए पानी और जीने के लिए सांत्वना दी।

मैंने समझाया—''तुम कैसे मर सकते थे? तुम्हें तो जीना था।''

''क्यों? युद्ध के पहले ही दिन यदि मैं धर्मराज का उद्बोधन सुनकर न आता तो मैं भी भीमसेन का आखेट होता।'' युयुत्सु ने वास्तविकता बताई—''मैं तो इसलिए चला आया कि मैं सोचता था कि मेरे और भी भाई मेरा अनुसरण करेंगे। तब एक दबाव बनेगा और दुर्योधन भैया संधि करने के लिए झुकेंगे। कोई-न-कोई रास्ता ऐसा निकल आएगा कि हमें युद्ध न करना पड़ेगा; पर ऐसा नहीं हुआ। मैं अपने भाइयों की घृणा का पात्र बना।

''इतने पर भी मेरे भाइयों में से किसीने मुझे मारने की चेष्टा नहीं की और न मैंने उनमें किसीका अहित चाहा। जब मेरा कोई भी भाई मारा जाता, मुझे बड़ी पीड़ा होती थी। भीतर-ही-भीतर मन मसोसकर रह जाता था। कुछ कह भी नहीं पाता था। विचित्र उलझन में मैंने स्वयं को डाल लिया।''

''अरे भाई, तुम व्यर्थ उलझन का अनुभव क्यों करते हो? और तुम तो अपने भाइयों की घृणा के पात्र इसके पहले से थे। तुम्हें याद है, जब बचपन में तुम्हारे भाइयों ने भीम को विष दिया था तब इसकी सूचना सबसे पहले तुम्हींने दी थी।''

''यह आपको कैसे पता?''

''मुझे पांडवों ने ही यह बात बताई थी।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''यदि तुम अपने भाइयों के साथ ही रहते, तब भी तुम भीम के आखेट न बनते। न पांडव कभी तुम्हें अपना लक्ष्य बनाते, न तो तुम्हें कोई मारता और न तुम किसीको मारते। तुम यह जानते ही हो कि युधिष्ठिर तुम्हें कितना मानते हैं!''

''जानता हूँ।'' अब वह थोड़ा शांत हुआ।

''तुम्हारी स्थिति वही होती, जो अभी है।''

''इसका तात्पर्य यह है कि मेरा आखेट न करके भीम संकल्पभ्रष्ट हुए?''

''तुम कभी उनकी संकल्प सीमा में थे ही नहीं।'' मैंने मुसकराते हुए कहा,

"तुमने जुए के समय की घटनाओं का विरोध किया था। तुम कौरवों के विषवृक्ष में अमृतफल हो। तुम धृतराष्ट्र के पुत्रों में धर्मराज के सहोदर हो। तुम कौरव वंश के अंधकार में एकमात्र दीपक हो। पहले भी थे और भविष्य में भी रहोगे।"

मेरी सांत्वना से युयुत्सु को बड़ी शांति मिली। वह मौन हो गया। पर वह अब भी कुछ सोचते हुए बैठा रहा। लगता है, तनावमुक्त होने पर भी वह समस्याओं से घिरा है।

"धर्मराज का कहना है कि तुम शीघ्र हस्तिनापुर चले जाओ और अपने वृद्ध माता-पिता को सांत्वना दो।"

"पर मैं कैसे जाऊँ?" युयुत्सु ने अपनी मुख्य समस्या रखी—"यदि मैं जाऊँ भी तो कैसे जाऊँ और किस मुख से जाऊँ? क्या लोग यह नहीं सोचेंगे कि यह पूरे परिवार की हत्या कराकर कौरव वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी घोषित होने आया है?"

"कौन सोचेगा? वहाँ तो न रोनेवाला कोई बचा है और न आँसू पोंछनेवाला।" मैंने कहा।

वह अब भी गंभीर हो सोचता रहा। फिर उसने बड़े सहजभाव से कहा, "यदि मैं गया और कहीं विभीषण की तरह लात मारकर निकाल दिया गया तो?"

"तो फिर राम की शरण में तो हो ही।" मैंने जोर से हँसते हुए कहा, "अब तो वे टूट चुके होंगे। फिर वृद्ध भी हैं। अब उनमें न लात मारने की शक्ति होगी और न इच्छा।"

"पूज्य पिताजी की शक्ति का अनुमान आपको नहीं है।" युयुत्सु बोला, "आज भी वे अपनी छाती से लगाकर दबा दें तो बड़े-बड़े चूर हो जाएँ।"

□

कल ग्रहण की छाया के भीतर ही सूर्य डूब चुका था। आज सूर्योदय ग्रहण के मोक्ष के साथ ही हुआ। प्रातः से ही गंगाघाट पर भीड़ होने लगी; पर न हड़बड़ाहट, न कोलाहल। जीवन गति जैसे मंद पड़ गई हो।

आज भीड़ में नहीं, सन्नाटे में तनाव था। हम लोग जहाँ स्नान कर रहे थे, उसे छोड़कर बहुत दूर तक का किनारा उन विधवाओं से भरा था, जिनकी चीखें भीतर-ही-भीतर घुट रही थीं और आँसू आँखों में उबल रहे थे; पर सब असामान्य रूप से शांत दिखीं—एकदम पथराई हुईं। सबकी यह स्थिति ग्रहण मोक्ष का स्नान करने और दिवंगत आत्माओं को जल चढ़ाने तक ही सीमित थी।

जीवन का यह सबसे बड़ा अभिशाप था, जो मैं इतनी विधवाओं को एक

साथ देख रहा था। कुरुक्षेत्र तो खाली हो गया, पर गंगातट ऐसा भरा हुआ! हे भगवान्, हम लोगों द्वारा यह क्या हो गया!

जब सबके विराग को सहलाकर सुला देनेवाले मेरे जैसे का मन इतना खिन्न हो रहा था तब धर्मराज जैसे व्यक्ति की क्या मानसिक स्थिति होगी? यह गंगा मैया ही थीं, जो हमारी आँखों के साथ हमारा संताप भी धो रही थीं।

पर युयुत्सु कहीं दिखाई नहीं पड़ा। मैंने उसके संबंध में युधिष्ठिर से पूछा।

उन्होंने बताया—"आपके यहाँ से लौटकर मेरे यहाँ आया था। उसने आपसे हुई बातों का जिक्र किया था। मैंने भी आपका समर्थन किया और कहा, 'कन्हैया ठीक कहते हैं। तुम यथाशीघ्र हस्तिनापुर जाओ और पूज्य पिताजी को सांत्वना दो। कम-से-कम उन्हें लगे तो कि अभी मैं निपूता नहीं हूँ।' जानते हैं, इसपर उसने क्या कहा? उसने कहा, 'पूज्य पिताजी को तो लग जाएगा, पर माता गांधारी को न लगा तो?' "

मैं बड़े सोच में पड़ा कि इसमें क्या रहस्य है। मैंने युधिष्ठिर से जिज्ञासा की।

वे मुसकराते हुए बोले, "वह धृतराष्ट्र का तो पुत्र है, पर गांधारी का नहीं।"

"यह क्या रहस्य है?" मैं चकित था—"यह कैसे हो सकता है?"

"हो सकता है न, तभी तो हुआ है।" धर्मराज हँसने लगे—"युयुत्सु एक वैश्य दासी का पुत्र है। आपने ध्यान नहीं दिया! हस्तिनापुर में इसे वृद्ध लोग 'करण' भी कहते हैं (महाभारत काल में 'करण' एक मिश्र जाति थी)।"

"तो इसकी माँ कौन है?"

"यही तो रहस्य है।" युधिष्ठिर ने कहा, "राजभवन के लोग उसकी तरह-तरह की कहानियाँ सुनाते हैं। लोगों का कहना है कि शकुनि ने चुपचाप उसकी हत्या कर दी और युयुत्सु को गांधारी का ही पुत्र घोषित कर दिया।"

"इससे क्या लाभ हुआ मामा को?"

"मामा का भले ही लाभ न हुआ हो, पर गांधारी का तो हुआ ही।" युधिष्ठिर ने बताया—"इससे गांधारी की एक ऐसी सौत का अंत हो गया, जो सत्ता में अपना अधिकार बँटाती। यद्यपि धृतराष्ट्र की पत्नियाँ कई थीं, पर किसीको कोई संतान नहीं थी।"

अब मुझे पता चला कि शकुनि के षड्यंत्र की जड़ें बहुत गहरी थीं। युयुत्सु की द्विविधा का आधार भी केवल उसकी भावुकता या संवेदनशीलता नहीं है।

इसीसे युयुत्सु जीवन भर अन्य भाइयों से उपेक्षित रहा। इस उपेक्षा की प्रतिक्रिया ही पांडवों के प्रति उसकी निकटता के मूल में थी। इसीसे युधिष्ठिर भी उसका ध्यान अपने भाइयों से कम नहीं रखते थे।

उसे हस्तिनापुर भेजने के मेरे दो कारण थे। एक तो मैं धृतराष्ट्र के क्रोध से परिचित था। जब भभकता था तब बुझाए नहीं बुझता था। फिर सभी पुत्रों के वध के बाद तो वह ज्वालामुखी हो गया होगा। उसे युयुत्सु ही शांत कर सकता था। यदि वह उसे शांत नहीं कर पाएगा तो उसके विनाशकारी झोंके का पहला सामना उसीको करना पड़ेगा। दूसरे, यदि धृतराष्ट्र के मन में कोई खोट होगी तो उसकी गुप्त सूचना का आधार भी वही होगा।

जब मैं अपने शिविर की ओर चला तब देखा, आकाश गिद्धों से भरा था। लाशों से पटे कुरुक्षेत्र में गिद्धभोज हो रहा था।

हम थोड़ा और आगे बढ़े थे कि आकाश से उतरते गिद्धों के झुंड-के-झुंड हमारे रथ की पताका से टकराने लगे। बहुत सारे कुत्ते और श‍ृगालों की समवेत ध्वनि की भयानकता हृदय को कँपा देती थी। मैंने वहीं रथ रुकवा दिया।

"अब तो आगे बढ़ने का साहस नहीं है।" मैंने दारुक से कहा।

"बढ़ने का स्थान होगा, तब न आगे बढ़िएगा।" दारुक बोला।

"क्यों?"

"जब आकाश की यह स्थिति है तब रणक्षेत्र की क्या स्थिति होगी!"

"पर ये जीव तो रोज ही संध्या को आते थे और एक घड़ी दिन जाते-जाते रणक्षेत्र साफ हो जाता था।"

"आज तो युद्ध की अंतिम परिणति का अंतिम गिद्धभोज है न!" दारुक बोला।

"क्यों, यह सत्तामोह की अंतिम परिणति नहीं है क्या?" मैंने कहा।

दारुक चुप हो गया। वह शिविर की ओर लौट पड़ा।

जब भी हवा मेरी दिशा की ओर बढ़ती, शवों के सड़ने की एक विचित्र तरह की गंध आती। पिछले दिनों भी लोग मरते रहे थे; पर शवों को ठिकाने लगाने की दोनों ओर व्यवस्था होती थी। अब न मरनेवाला कोई रहा, न मारनेवाला और न शवों की व्यवस्था करनेवाला। अब केवल नियति थी—और उसने सारी व्यवस्था प्रकृति के हाथों में सौंप दी थी। यह गिद्धभोज उसीका फल था।

"अब यहाँ से जितनी जल्दी हो उतनी जल्दी चल देना चाहिए।" छंदक ने प्रस्ताव रखा।

"चलना तो उसी दिन से चाहता हूँ जिस दिन यहाँ आया।" मैंने कहा, "पर एक-न-एक घटना होती गई और मैं उस मृग की तरह फँसता गया, जो हर क्षण निकल भागने का प्रयत्न करता है। मृग तभी छूटता है जब जाल डालनेवाला उसे मुक्त करे। फिर भी मेरा मन-मृग यहाँ से चलने के लिए छटपटा रहा है।"

हम लोग अभी बात ही कर रहे थे कि अचानक कोलाहल सुनाई दिया। अवश्य कोई घटना हो गई है, मेरे मन ने कहा। अब तो बचे-खुचे सैनिक भी जा चुके हैं। केवल पांडव और पांचाल का परिवार है। तब यह कोलाहल कैसा?

मैं सोचता रहा। छंदक ने तुरंत पता लगाकर बताया—"अर्जुन के शिविर के पास कुछ हो गया है।"

अर्जुन का नाम सुनकर मैं भी घबराया; क्योंकि पांडवों में वह मेरे सबसे निकट था। कर्ण के वध के बाद उसकी अपराजेयता में भी कोई संदेह नहीं था।

मैंने तुरंत छंदक से कहा, "अर्जुन का शिविर कितनी दूर है, जरा आगे बढ़कर देखो!"

मैं अकेला इसी संदर्भ में सोचता रहा कि मेरे मन में अश्वत्थामा की वे जलती आँखें उभरीं, जो दुर्योधन-भीम के युद्ध से लौटते समय हमपर आग बरसाती निकल गई थीं। यद्यपि पांडवों के प्रति उसका झुकाव था; पर जब से दुर्योधन की यह गति हुई थी तब से वह पांडवों का सबसे बड़ा शत्रु हो गया था। उसका पागलपन कुछ भी कर सकता था।

छंदक ने आकर सूचना दी कि अर्जुन का रथ अचानक जल गया है। उसका निष्कर्ष था कि हमींमें से कोई ऐसा है, जिसने यह कुकर्म किया है; अन्यथा दिन दहाड़े, अर्जुन के शिविर के बाहर ही यह कांड कैसे होता! ऐसा व्यक्ति कौन है? उसकी पहचान होनी चाहिए। कुछ लोग इस समस्या को लेकर आने वाले हैं।

सचमुच यह अद्‌भुत समस्या है। यदि कोई है तो उसकी दवा होनी चाहिए। इसी समस्या को लेकर मैं ध्यानावस्थित हुआ। तब तक सहदेव भी कई लोगों को लेकर आ गया। उसने आते ही सूचना दी कि 'नंदिघोष' (अर्जुन के रथ का नाम) जल गया।

मैंने छूटते ही कहा, "चलो, मैं तो अपने काम से मुक्त हुआ।"

"क्यों?"

"जब रथ ही नहीं रहा तब सारथि की क्या आवश्यकता!" मैंने बड़े सहज भाव से कहा, "एक पक्ष को दी मेरी सारी सेना नष्ट हो गई। दूसरे पक्ष में मैं था, अब मेरा भी काम समाप्त हो गया। अब मेरी कोई उपयोगिता तो रही नहीं। अभी

छंदक से यही बातें हो रही थीं।...तुम तो ज्योतिषी हो, सहदेव। अब तुम्हीं बताओ, कितने दिनों तक पांडवों पर यह विपत्ति मँडराती रहेगी?''

''दिन तो अभी खराब ही हैं। ग्रह-नक्षत्रों की कुदृष्टि अभी बनी है। किसी भी समय कुछ भी हो सकता है।''

''तो यह आशंका कब तक बनी रहेगी?''

''संप्रति यह बताना तो कठिन है।'' सहदेव बोला, ''इस समय हमें केवल यह देखना है कि इस कुकर्म के पीछे किसका हाथ है!''

''क्यों, ऐसा नहीं हो सकता कि किसीका हाथ न हो?'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

वह बड़े रहस्यमय भाव से मुझे देखता रह गया। फिर धीरे से बोला, ''इस विषय पर विचार के लिए भैया ने आपको याद किया है।''

''गंगातट से लौटने के बाद पता नहीं क्यों, मैं बड़ी शिथिलता का अनुभव कर रहा हूँ। आप लोग चलें, मैं थोड़ा विश्राम के बाद आता हूँ।''

सारी घटना सुन लेने के बाद मेरा तनावमुक्त रहना सहदेव और उसके साथियों को चकित करने के लिए काफी था। वे बड़ी रहस्यमय दृष्टि से मुझे देखते हुए चले गए।

थोड़ी ही देर में धर्मराज अपने भाइयों को लेकर पधारे। अब मेरे सामने एक नई समस्या आई, इतने लोगों को बैठाऊँ तो बैठाऊँ कहाँ?

मैं उठकर खड़ा हो गया।

''आपने कुछ सुना?'' सभी चकित और घबराए हुए थे। ऐसी घबराहट कि किसीने मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूछने की औपचारिकता तक नहीं बरती। बिना भूमिका के बोलने लगे—''और सबसे अचरज की बात यह है कि उस रथ के पास न तो कोई था और न बहुत दूर तक कोई दिखाई दिया। अश्वपालों का कहना था कि उनकी आँखों के सामने वह अचानक भभक पड़ा। आखिर यह कैसे संभव है?''

''इस संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। क्यों, यह नहीं हो सकता कि वह स्वयं ही जल उठा हो!''

''यह कैसे हो सकता है?''

''यह वैसे ही हो सकता है जैसे मैं कोई वस्तु आपको दूँ और कार्य समाप्त होने के बाद आपसे ले लूँ। उस रथ की उपयोगिता समाप्त हुई और वह जिसका था, वह ले गया।'' लोगों के कान खड़े हुए। उनकी अचरज भरी दृष्टि मुझपर लग

गई। मैंने रहस्य का अवगुंठन खोलना आरंभ किया। मैंने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा, ''क्यों, पार्थ, तुम्हें तो याद ही होगा कि खांडव वन के दाह के समय अग्निदेव ने उसे तुम्हें दिया था। अब उन्होंने देखा कि उसका काम समाप्त हुआ, उन्होंने उसे ले लेने की कृपा की।'' लोग मेरा मुँह देखते रह गए। मैंने कहा, ''वैसे ही जब हमें दिया काम भी पूरा हो जाएगा तब नियति चुपचाप, बिना किसीसे पूछे-जाँचे हमें उठा ले जाएगी। बहाने हजार बनते रह जाएँगे; चाहे युद्ध का बहाना बने, चाहे रोग का या किसी और का।''

□

लोगों के चले जाने के बाद धर्मराज मेरी बगल में बैठ गए। कुछ समय तक ऐसे ही बैठे रहे जैसे किसी गंभीर सोच में हों। न मुझे पूछने का साहस हुआ और न वे बता पा रहे थे। थोड़ी देर बाद वे स्वयं ही खुले—''लोगों में विजय की प्रसन्नता है और मैं अब भी शंकाकुल हूँ। एक विचित्र भय की आतंकित छाया से आक्रांत हूँ।''

''एक विचित्र भय!''

''विचित्र इसलिए कि वह मुझे दिखाई दे रहा है। किसी और की दृष्टि उसपर नहीं जा रही है और न मैं उसके विषय में किसीसे कुछ कह पा रहा हूँ।'' वे बोलते गए—''तुम तो जानते ही हो कि महाराज धृतराष्ट्र और गांधारी दुर्योधन को कितना मानते थे। इसलिए नहीं कि वह उनकी पहली संतान था, वरन् इसलिए कि बड़ी पूजा-पाठ के बाद उसका जन्म हुआ था। माँ ने बताया था कि जब मेरा जन्म हुआ और ज्योतिषियों से गांधारी ने मेरे विषय में सुना तो वह ईर्ष्या से जल उठीं। इसमें भी शकुनि मामा की विशेष भूमिका थी। उसने गांधारी को समझाया—'अब तो सत्ता का वास्तविक उत्तराधिकारी पैदा हो गया है। पट्टमहिषी का पद जब तक भोगना हो, भोग लो।' फिर क्या था! गांधारी बड़ी दुःखी हुईं। बड़ी पूजा-पाठ के बाद उसे गर्भ आया। हड़बड़ी में उसने उसे भी बिगाड़ दिया—और उसे पिंड जैसा बालक पैदा हुआ।

''वह भी ठीक उसी दिन पैदा हुआ जिस दिन भीम पैदा हुआ था। चंद्रमा के साथ राहु भी जनमा। एक विकृत राहु, जो व्यासजी के उपचार के बाद ठीक हुआ। भीम जैसा वह बलिष्ठ भी था और मेरे भाइयों में अधिक भीम से ही उसकी लाग-डाट बनी रही। भीम के विनाश के लिए जघन्य-से-जघन्य कार्य उसने किए।

''जब एक दिन माँ से मैंने इसका कारण पूछा, तब उसने सारी कथा सुनाकर

बताया था और कहा था कि भीम से उसके द्रोह की भावना जन्म के समय उसकी घुट्टी में पिला दी गई थी।''

''इसका तात्पर्य है कि आपके जन्म लेने के पूर्व से ही सत्ता-संघर्ष आपके भाग्य में लिख गया था।''

''हाँ, माँ के कथनानुसार ऐसा ही कुछ हुआ है।'' युधिष्ठिर बोले।

''पर बुआजी ने यह बात मुझे कभी नहीं बताई।'' मैंने कहा।

''आवश्यकता नहीं पड़ी होगी।''

''तो इस समय क्या आवश्यकता है?''

''इस समय इसकी इसलिए आवश्यकता पड़ी कि हम लोगों ने जिस प्रकार अनर्थ करके दुर्योधन को धराशायी किया है, इसकी सारी कथा संजय ने धृतराष्ट्र और गांधारी को सुनाई होगी। दोनों तिलमिला उठे होंगे। मुझे धृतराष्ट्र से उतना भय नहीं है जितना गांधारी से। वह महान् तपस्विनी है। उसका क्रोध कहीं शाप में न बदल जाए! अभिशप्त जीवन एक अभागे से अधिक संतप्त जीवन होता है।''

''तब तो हमें गांधारी का ही नहीं, धृतराष्ट्र के क्रोध का भी सामना करना पड़ सकता है।'' मैंने कहा, ''और उससे भी अधिक हमें सावधान रहना चाहिए।''

अब मैं भी सोच में पड़ गया।

''क्या सोचने लगे?''

''सोच रहा हूँ कि आपकी आशंका उचित है और यह कार्य बड़ा दुस्तर है; क्योंकि मैंने सुना है कि अभी दुर्योधन का प्राणांत नहीं हुआ है। वह छटपटा रहा है। उसकी छटपटाहट का वर्णन संजय सुना रहा होगा। जब क्रोध का मूल जीवित है तब क्रोध कैसे शांत होगा? और कब तक वह छटपटाता रहेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अशांत मन की आत्मा शरीर को जल्दी नहीं छोड़ती। यदि छोड़ती है तो वह अशांत ही रहती है। अशांत आत्मा अशांत मन से अधिक घातक होती है।''

अब युधिष्ठिर और गंभीर हो गए।

मुझे पहले उन्हींको सांत्वना देनी पड़ी। मैंने कहा, ''आप व्यग्र न हों। मैं कोई-न-कोई उपाय सोचता हूँ। यदि आवश्यक हुआ तो चला भी जाऊँगा; पर आप एक कार्य कीजिए।

''अब आपके शिविर पांचाल शिविर से काफी दूर पड़ गए हैं। पहले उनके और आपके बीच सात अक्षौहिणी सेना के शिविर थे। अब वह सेना नहीं रही। शिविर सुनसान है। रात्रि के अंधकार में यह दूरी खतरनाक हो सकती है। फिर

आपके पुत्रों के शिविर द्रौपदी के साथ हैं। वह पांचालों के निकट। आप कहीं, आपका परिवार कहीं। ऐसी स्थिति में यदि कुछ हुआ तो आप अकेले पड़ जाएँगे।'' फिर मैंने सहदेव की भविष्यवाणी बताई।

वे व्यग्र हो उठे।

''मैंने आपसे व्यग्र होने के लिए नहीं, सावधान होने के लिए ये बातें कही हैं।'' फिर मैंने पूछा, ''आजकल अर्जुन का सारथि पूरु दिखाई नहीं देता। वह कहाँ है?''

''वह है तो, पर जब आप थे तब उसकी पूछ न थी।''

''अब न मैं सारथि रहा और न मेरा रथ 'नंदिघोष'।'' मैंने कहा, ''एक ओर मेरी सेना समाप्त हुई और दूसरी ओर मेरी सेवा।''

□

उसी दिन मैं सात्यकि के साथ हस्तिनापुर पहुँचा। सारा हस्तिनापुर खाली-खाली-सा लगा। बाल-वृद्ध और विधवाओं के अतिरिक्त शायद ही कोई बचा हो। सुधि-बुधि खोकर जो जहाँ था वहीं पड़ा था। उस शोकग्रस्त निस्तब्धता को थके-हारे और शिथिल पड़े लोगों की सिसकियाँ तथा हिचकियाँ ही कंपित कर रही थीं।

राजभवन पर भी मृत्यु का सन्नाटा छाया था। मेरे आने की सूचना महाराज को भेजी गई और मैं धड़धड़ाता हुआ भीतर चला गया। इस समय न तो कोई दुराव था और न छिपाव।

धृतराष्ट्र रोते हुए अपने कक्ष में पड़े थे। गांधारी दहाड़ मार-मारकर उनसे लिपटी जा रही थी।

मैं अभी द्वार के बाहर ही था कि विदुरजी की दृष्टि मुझपर पड़ी। वे तुरंत उठकर बाहर आए और मुझसे बोले, ''इस समय महाराज से मिलना ठीक नहीं है। वे आक्रोश और पश्चात्ताप के संघर्ष में विक्षिप्त-से हो रहे हैं। तब तक तुम बगल के कक्ष में बैठो। अवसर देखते ही मैं तुम्हें बुला लूँगा।''

पार्श्व कक्ष में मैं काफी देर तक सात्यकि के साथ मौन बैठा रहा; पर अवसर नहीं आया। मैं सोच रहा था कि क्यों नहीं मैं चला ही चलूँ। बहुत होगा, भला-बुरा कहेंगे। मैं सुन लूँगा। गांधारी यदि शाप देती है तो उसे भी शिरोधार्य करूँगा। अब तो अभिशप्त जीवन ही जीना है।

तब तक आकस्मिकता ने एक और खेल खेला। कुछ प्रहरी दौड़े हुए आए और महाराज को सूचना दी कि राजभवन उद्यान में रसाल की निचली डाल से अमात्य कणीक का शव लटक रहा है। आश्चर्य ने महाराज और पट्टमहिषी के

आँसू कुछ समय के लिए छीन लिये। वे स्तब्ध रह गए।

"लगता है, किसीने उन्हें मारकर लटका दिया है।" प्रहरियों ने कहा।

"तुम लोगों के रहते ऐसा कैसे हो सकता है?" विदुरजी बोले, "फिर यहाँ हमारा कोई शत्रु भी तो नहीं। इधर कोई बाहरी आया भी तो नहीं।"

"आज तो द्वारकाधीश इधर आते दिखाई दिए थे।" प्रहरियों ने कहा।

"द्वारकाधीश!" महाराज चकित हो बोले, "कहाँ हैं द्वारकाधीश?"

मैंने सोचा, इससे अच्छा अवसर नहीं मिलेगा। मैंने तुरंत द्वार में प्रवेश किया और बोला, "सेवा में उपस्थित हूँ।"

तुरंत महाराज धृतराष्ट्र ने व्यंग्य बाण मारा—"अब कौन सा संधि प्रस्ताव लाए हो?"

"अब संधि प्रस्ताव लाने का मेरा मुँह ही कहाँ रहा!" मैंने ठीक उसी स्वर में उत्तर दिया—"एक बार तो संधि प्रस्ताव लेकर आया था। केवल पाँच ग्राम आपसे माँग रहा था, तब तो मुझे बंदी बनाने की चेष्टा हुई।"

"मुझे लगता है, राजभवन में तुम्हारा आना हम लोगों के लिए शुभ नहीं होता। पहले आए थे तो उसका परिणाम हुआ हमारे वंश का नाश। आज आए तो हमारे अमात्य कणीक को किसीने मार डाला।"

"कोई किसीको मार नहीं सकता, महाराज! मनुष्य अपने कर्मों से ही मारा जाता है।" इतना सुनते ही महाराज सन्न रह गए; क्योंकि कणीक ही उनका ऐसा अमात्य था, जो पूरी तरह दुर्योधन के कहे में था। वह हमेशा उलटा-सीधा कौरवों को भरता रहा। इसीलिए महाराज और उनके बेटों का सबसे प्रिय था। इस समय भी जब मैंने उसे महाराज के निकट नहीं देखा, तभी मुझे आश्चर्य हुआ था।

महाराज को आश्चर्य हुआ कि मैं इस सत्य को जानता कैसे हूँ। उनके अवाक् रह जाने के मूल में यही था।

"कणीक मारा तो नहीं जा सकता।" विदुरजी बोले, "हो सकता है, उसने आत्महत्या की हो।"

"वह आत्महत्या क्यों करता?" महाराज ने कहा।

"क्यों, जब उसने देखा होगा कि मेरे सारे मित्र युद्ध में मारे गए, मेरे सोच का यह परिणाम हुआ, तब एक युद्ध उसके भीतर स्वयं चलने लगा होगा। वह स्वयं अपने से ही लड़ने लगा होगा और अपने द्वारा ही मारा गया होगा।" मैंने कहा।

महाराज की गंभीरता बढ़ गई—"आत्महत्या करने के तो और भी साधन थे। वह विष खा सकता था, कटार मारकर अपने कक्ष में मर सकता था; फिर खुले

में जाकर मृत्यु के लिए इतना कष्टमय माध्यम क्यों अपनाया?''

''आत्महत्या करनेवालों की एक मनोवृत्ति होती है, लोग मुझे देख लें कि मैंने अपने किए का दंड स्वयं स्वीकार किया।'' मैंने कहा और लोग सोचने लगे।

''फिर मैं किसके किए का दंड पा रही हूँ?'' अब तक चुप बैठी गांधारी अचानक फूट पड़ी—''मैंने जीवन भर तपस्या की, धर्म का पालन किया, बच्चों को सदा उचित सलाह दी। फिर मुझे इतना कष्ट क्यों भोगना पड़ा? सौ पुत्र होकर भी आज एक नहीं रहा। देवों के वरदान में क्षमता भी नहीं रही। मेरा कौन सा पाप है, मैं स्वयं नहीं समझ पा रही हूँ!'' इतना कहते-कहते वह पुनः दहाड़ मारकर रो पड़ी।

मैंने उसे सांत्वना देते हुए कहा, ''यह आपका पाप नहीं, देवी! आपने तो तपस्या से अन्य देवियों के सामने एक आदर्श रखा है। आपने तो अपने पुत्रों को बार-बार समझाया था। पहली बार तो द्रौपदी को आपने क्षमा किया।''

मैं बोल ही रहा था कि धृतराष्ट्र बोल पड़े—''सारा पाप तो मेरा है। यों भी मैं अंधा हूँ। पुत्र के मोह ने तो इन अच्छी आँखों पर भी पट्टी बाँध दी थी। उनके इष्ट के अतिरिक्त मुझे और कुछ दिखाई ही नहीं देता था, भले उनमें उनका अनिष्ट ही हो। शायद उन पापों का ही यह फल है कि आज सिंहासन पर बैठकर भी लगता है कि श्मशान में बैठा हूँ और आकाश मुझपर हँस रहा है।'' इसके बाद उन्होंने गांधारी को संबोधित करते हुए कहा, ''तुम मेरी अर्द्धांगिनी हो—मेरे पाप और पुण्य की समान भागीदार। पर पुण्य तो मैंने शायद ही कभी किया हो। सारा जीवन ही पाप में बीता। उन्हीं पापों का फल हम दोनों भोग रहे हैं।''

अब विदुरजी ने हस्तक्षेप किया—''पाप तो आपके पुत्रों ने किया था। उसका फल उन्होंने पा लिया। आपका पाप ऐसा नहीं है, जो आप इतने दुःखी होते हैं।''

''पाप के लिए प्रोत्साहन देना भी पाप से कम पाप नहीं है, विदुर!'' वे बोलते गए—''अब मैं सोचता हूँ कि जिस समय राजपाट छोड़कर पांडु वनवासी हो गया था, उस समय गांधारी को लेकर मैं भी वन में क्यों नहीं गया! पर अरण्य में जाता कैसे? उस समय यह सिंहासन इतना मादक और सारगर्भित लग रहा था कि इसके सामने कुछ दिखाई नहीं देता था।''

मुझे स्पष्ट लगा कि आँसू मन के सारे कलुष धो देते हैं। दृष्टि साफ हो जाती है। जिसका जीवन भर अनुभव नहीं होता, उसका अनुभव होने लगता है। जो जीवन में दिखाई नहीं देता, वह दिखाई देने लगता है। शायद परमात्मा का भी

मनुष्य को बोध न होता, यदि उसे कष्ट न होता।

मानसिक संताप की इस अवस्था में मैंने सांत्वना की वर्षा कर दी—''मनुष्य किसी और का नहीं, अपने कर्मों का फल भोगता है। चाहे वह हँसकर भोगे या रोकर। फिर नियति की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं होता।''

मैंने यह भी बताया—''मेरी तो विचित्र स्थिति है। मैं किसके-किसके आँसू पोंछूँ? आप जितने संताप में हैं, पांडव भी उतने ही संताप में हैं; वरन् यह कहिए कि आपसे अधिक संताप में हैं। उनका सोचना है कि हम जीतकर भी हारे हुए हैं। इस महाविनाश का कारण बने। क्या हम इसलिए विजयी हुए कि श्मशान पर शासन करें? इससे तो अच्छा था कि संजय की बात मानकर संन्यास ले लेते। सिंहासन भले न पाते, हमारा राज्य तो रहता, प्रजा तो रहती। भले ही उसपर हमारे भाई ही शासन करते।''

''सचमुच पांडुपुत्र हमारे संबंध में ऐसा सोचते हैं?'' धृतराष्ट्र ने विस्मय से पूछा।

''कम-से-कम युधिष्ठिर के लिए तो मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ।''

अब उन्हें थोड़ी सांत्वना मिली। गांधारी के भी आँसू थमे।

''अरे, आप अभी तक खड़े ही हैं!'' अब उन्हें आभास हुआ कि जब से मैं आया हूँ तब से खड़ा ही हूँ। किसीने मुझे बैठने को नहीं कहा। तुरंत मेरे लिए मंचक मँगवाया गया।

फिर सोचते-सोचते धृतराष्ट्र अचानक बोल उठे—''पांडव अभी तक अपने ताऊ के चरण छूने नहीं आए? अरे, वे विजयी हुए हैं। भले ही उन्होंने अपने भाइयों पर ही विजय पाई है या अपने पर ही विजयी हुए हैं। आकर उन्हें मेरे चरण तो छूने चाहिए।''

''यही तो मैंने भी कई बार उनसे कहा था; पर युधिष्ठिर का कहना था कि मैं किस मुँह से जाऊँ? और जाऊँ भी तो ताऊजी से क्या कहूँगा?''

''सोचना तो मुझे चाहिए, वत्स! यदि वे सब आ जाएँगे तो किस मुँह से मैं उनका सामना करूँगा?'' धृतराष्ट्र ने कहा। फिर पूछा, ''क्या युधिष्ठिर के अतिरिक्त अन्य पांडव भी ऐसा सोच सकते हैं?''

''मैं तो यही सोचता हूँ।''

''भीम भी।''

मैंने देखा कि धृतराष्ट्र ने भीम को सभी भाइयों से अलग किया। मेरा माथा ठनका। यह प्रश्न करने से पहले उनकी मुद्रा भी बदली।

मैं तुरंत सजग हो बोला, ''उनके संबंध में तो मैं नहीं कह सकता; क्योंकि जब इस संबंध में बातें हो रही थीं तब वह नहीं थे।''

फिर उनके ओठ हिले। स्पष्ट लगा जैसे वे कोई अशुभ मंत्र पढ़ रहे हों। मैं चुपचाप उनकी आकृति देखता रहा और उनके बदलते हुए रंग को पढ़ता रहा।

थोड़ी देर बाद वे बोले, ''तो पांडवों को लेते आओ। अब मेरा उनसे क्या दुराव! हमारे-उनके बीच जितने अवरोध थे, सब ध्वस्त हो गए। आकर अपना निष्कंटक राज्य करें। अब अरण्य की ओर ही मेरा रास्ता है।''

''अरे, यह कैसे हो सकता है कि आप न रहें और वे राज्य करें! आपके अनुभव की छाया तो उनको मिलनी चाहिए।'' मैंने कहा, ''पितृहीन तो वे बचपन में ही हो चुके थे। उनका सारा जीवन आपकी छाया में ही बीता। वे तो आपको ही अपना पिता, पालक और अभिभावक—सब मानते हैं।''

वे चुप रह गए।

बातों में इतना उलझा रहा कि समय का भान ही नहीं हुआ। चुपचाप संध्या भी डूब गई। अँधेरा भी हो गया और रात भी दो घड़ी निकल गई। अतिथिगृह में मेरे ठहरने की व्यवस्था की गई।

फिर महाराज बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोले, ''अब तो तुम्हें यहाँ रहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होगी? यदि चाहो तो आज भी अपने विदुर चाचा के यहाँ जा सकते हो।''

''अरे, आप कैसी बातें करते हैं!'' मैंने कहा। मुझे कहना तो चाहिए था कि जिनके लिए हिचकिचाहट थी, वे अब नहीं रहे। फिर सोचा कि यह सत्य इस समय बड़ा कड़ुवा हो जाएगा।

''देखो, द्वारकाधीश को अतिथिगृह में सम्मानपूर्वक पहुँचाओ।'' महाराज ने आदेश देते हुए एक विश्वासपात्र प्रहरी को मेरी सेवा में लगाने के लिए कहा।

''महाराज, इतने विशाल राजभवन में केवल सात प्रहरी रह गए हैं। किसे भेजूँ, किसे न भेजूँ!''

प्रधान प्रहरी की इस विवशता पर महाराज ने माथा ठोंक लिया—''हाय रे नियति, अब यह दशा हो गई!''

तब तक युयुत्सु बोल पड़ा—''मैं द्वारकाधीश के साथ चला जाता हूँ।''

हम लोग राजभवन से जब लौटे तो अंधकार के सागर में डूब गए। जो राजभवन कभी प्रकाश से जगमगाता रहता था, संध्या होते ही ज्योति से धुल जाता था, आज वहाँ चारों ओर अँधेरा था। एकाध कक्ष से आते किसी अभागे दीप के मरे

हुए प्रकाश का आभास लग रहा था।

अतिथिगृह में आया तो वह भी सूना-सूना। कहीं कुत्ते के भौंकने तथा कहीं बिल्ली के रोने की आवाजें और इन दोनों की भाग-दौड़ के सिवा कुछ नहीं।

मैंने दारुक को भी बुला लिया। बेचारा अकेले कहाँ रहेगा। सात्यकि तो मेरे साथ था ही।

युद्ध के अंतिम निष्कर्ष की कल्पना तो मैंने कई बार की थी; पर उसका यह रूप होगा, यह तो मैं कभी सोच भी नहीं पाया था। इस समय मेरे मस्तिष्क पर यह विनाश ही छाया रहा। हम सो नहीं पा रहे थे। सात्यकि से बातें करते आधी रात निकल गई कि अचानक युयुत्सु आया। हमें आश्चर्य हुआ कि अभी तो यह गया था, फिर लौटकर क्यों आ गया।

उसने सूचना दी—"माताजी आपको स्मरण कर रही हैं।"

"इस समय! क्या बात है?"

"मैं कुछ नहीं जानता; पर वे बड़ी घबराई हुई लगती हैं।" युयुत्सु ने कहा और वह तुरंत चला गया।

अंत:पुर में पहुँचते ही हमें दिखाई पड़ा, गांधारी दासी के कंधे पर हाथ रखे अपने कक्ष के बाहर ही टहल रही है।

सात्यकि ने कहा, "कोई बात अवश्य है।"

हम दोनों के चरण स्पर्श करते ही वह बोल पड़ी—"वत्स, यथाशीघ्र तुम यहाँ से चले जाओ।"

"क्यों? यहाँ कोई संकट है?"

"यहाँ तो कोई संकट नहीं है; पर आशंका है कि पांडवों पर कोई संकट न आ जाए।" उसने इतना ही कहा। इसके अतिरिक्त उसने कुछ नहीं बताया।

हम लोगों ने बार-बार पूछा कि कैसी आशंका? क्या आशंका? पर हर बार वह टालती गई। केवल यही कहा कि मेरा आदेश है कि जल्दी जाओ।

मैं तत्काल बाहर आया। अब मैंने युयुत्सु से पूछा।

उसने भी कहा, "वस्तुतः मुझे भी कुछ नहीं मालूम है। आज प्रातः संजय ने दुर्योधन के विषय में बताया था कि उनके प्राण अभी निकले नहीं हैं। वह छटपटा रहे हैं। उनकी अश्वत्थामा से कुछ बातें हुई हैं। तब से पिताजी की माताजी से दो बार मंत्रणा हो चुकी है। उन्होंने हर बार कहा कि यह उचित नहीं होगा।"

"तब महाराज ने क्या कहा?"

"उन्होंने कुछ नहीं कहा। केवल माथे पर हाथ रखकर अफसोस करते

रहे।'' युयुत्सु ने कहा, ''लगता है, माताजी वही कुछ सोचते-सोचते घबरा उठी हैं।''

अब मैंने तत्काल चल पड़ने का निश्चय किया। रात आधी जा चुकी थी, जब मैंने यात्रा आरंभ की।

□

ब्राह्म मुहूर्त तक हम कुरुक्षेत्र की सीमा तक पहुँच गए थे। इतना कोलाहल था जितना युद्ध में कभी नहीं हुआ था। स्पष्ट लगा कि भीषण युद्ध हो रहा है; पर कौन युद्ध कर रहा है और किससे कर रहा है, कुछ भी पता नहीं। एक तो अँधेरा, दूसरे दौड़ते घोड़ों के खुरों से उठती धूल। कुछ भी दिखाई नहीं देता था।

मैंने दारुक से कहा, ''यह तो अनर्थ हो गया। शायद लोग मैरेय के प्रभाव में थे और आपस में लड़ गए। निश्चित है, लोग रात को युद्ध की थकावट मिटाने के लिए मैरेय पीकर सोए होंगे और किसी भयानक सपने ने उन सबको लड़ा दिया होगा।''

रथ की गति तेज की गई। अचानक नैर्ऋत्य की ओर से अग्नि की लपटें उठती दिखाई दीं। अरे, उधर तो पांचालों का शिविर था। फिर वे लपटें चारों ओर बढ़ रही थीं। घने धुएँ के बादल और उस गर्द-गुबार ने अँधेरी रात पर कालिख पोत दी। कुछ भी देखना कठिन और उस अग्नि-अरण्य में प्रवेश भी कठिन। अब केवल अंधकार, हाहाकार और गर्द-गुबार ने ही घेर लिया।

अब क्या किया जाए! मैंने रथ पर खड़े होकर दूर तक देखने की चेष्टा की। लगता है, यह अग्नि पांडवों के शिविर तक नहीं पहुँची है। मैंने दारुक से बाहर ही बाहर उधर चलने के लिए कहा। मैं काफी निकट पहुँच भी चुका था कि अचानक एक भयंकर 'शक्ति' आकाश मार्ग से आती दिखाई दी। दूसरी ओर से भी शक्ति छूटी और दोनों शक्तियाँ आकाश में टकराईं। उसी समय स्पष्ट हो गया कि यह युद्ध अश्वत्थामा और अर्जुन के बीच हो रहा है; क्योंकि दो ही योद्धा अब आर्यावर्त्त में बचे हैं, जो शक्ति का संचालन जानते हैं।

मैंने पहुँचते ही अर्जुन से कहा, ''यह क्या किया तुमने? यह शक्ति तो प्रलय कर देगी। इसका इसी क्षण शमन करो।''

''पहले मैंने नहीं छोड़ा। इसके लिए अश्वत्थामा दोषी है।'' अर्जुन बोला, ''पहले आप उससे कहिए।''

सारा जोखिम उठाकर अब मुझे आगे बढ़ना था; क्योंकि मैं जानता था कि आचार्य द्रोण ने अपने पुत्र को सभी प्रकार के आग्नेय अस्त्रों के संचालन के सारे

'गुर' बताए हैं।

मैं उसकी ओर बढ़ते हुए चिल्लाया—"अश्वत्थ, अनर्थ मत करो। इससे तुम्हारे शत्रु ही नहीं, तुम भी नष्ट हो जाओगे।"

वह मुझे देखते ही सकपका गया; मानो उसे कल्पना ही न रही हो कि इस समय मैं भी उपस्थित हो जाऊँगा। मेरे कहने पर उसने अपनी शक्ति तो लौटा ली, पर उसी समय वह वहाँ से चंपत भी हो गया। उस अँधेरे में वह किधर गया, कुछ पता नहीं।

उसके चले जाने के बाद कृपाचार्य भी दिखाई पड़े। साथ ही कृतवर्मा भी।

मैंने आचार्य कृप से पूछा, "आपके रहते यह सब कैसे हो गया? वह भी रात के अंधकार में?"

"मैं क्या करता! मैंने तो उसे बहुत समझाया। उसने एक न सुनी।" कृपाचार्य ने बताया—"उससे घायल पड़े दुर्योधन ने कहा था कि जब तक पांडव मेरी तरह समूल नष्ट नहीं हो जाएँगे तब तक मुझे शांति नहीं मिलेगी। मैं इसी तरह छटपटाता रहूँगा। बस इतना सुनना था कि अश्वत्थामा पागल हो गया। फिर आपके एवं सात्यकि के न होने से उसका मन और बढ़ गया तथा वह यह दुस्साहस कर बैठा।"

मैं कृतवर्मा से कुछ नहीं बोला; क्योंकि उसकी नीचता से मैं ही नहीं, सारा आर्यावर्त्त परिचित था। वस्तुतः इस समय तो हमारा असली शत्रु अश्वत्थामा था। वह अँधेरे में ऐसा भागा कि कहीं दिखाई नहीं दिया। हम लोग उसीकी खोज में लग गए। इसका लाभ उठाकर कृतवर्मा और कृपाचार्य भी खिसक गए।

अब उस युद्धक्षेत्र में अँधेरे और सुलगते हुए शिविरों के धुएँ के अतिरिक्त कोई विरोधी नहीं रहा, जिसका प्रतिकार तो भगवान् भास्कर ही कर सकते थे। हम जिज्ञासा भरी पीड़ा से सूर्योदय की राह देखने लगे।

अब मुझे गांधारी की व्यग्रता के कारण का आभास लगा। उस व्यग्रता में उसके हृदय की उज्ज्वलता तो थी ही, साथ में उसके चरित्र की निष्कलुषता भी। उसके मन में पांडवों के लिए किसी प्रकार की कटुता नहीं थी। अपने पुत्रों के प्रति स्वाभाविक ममता तो थी, आँखों पर पट्टी बँधी रहने पर भी वह पुत्र-प्रेम में कभी अंधी न हुई। इसीलिए दोनों पक्षों के बीच तने हुए तनाव की डोर पर जीवन भर चलते हुए भी उसने संतुलन बनाए रखा। यही संतुलन उसके अस्तित्व का आधार था—और आज रात उसीने उसे व्यग्र कर दिया था।

धीरे-धीरे सवेरा हुआ। अँधेरा छँटा। धुएँ ने भी धरती छोड़ दी। सबकुछ

दिखाई पड़ने लगा। जो प्रथम दिखा, वह यही था कि युद्ध में न अब पक्षी रहे और न विपक्षी। यहाँ तक कि आकाश के पक्षियों को भी खाने के लिए कच्चा मांस नहीं था। सबकुछ भस्म हो गया था।

सारे पांचाल मारे गए। द्रौपदी के सोते हुए पाँच पुत्र—प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक, श्रुतकर्मा—सदा के लिए सुला दिए गए। सुदूर पश्चिम के दो-एक सुलगकर बुझ गए शिविर अब भी धुआँ छोड़ रहे थे। मैंने उधर जाकर देखा। कुछ शव दिखाई पड़े, जिन्हें रणाग्नि ने अंत्येष्टि के पहले ही भून दिया था। इनमें उत्तमौजा और युधामन्यु के भी शव थे।

पाँचों पांडवों के सिवा अब कुछ नहीं बचा था। यहाँ तक कि उत्तरा के गर्भस्थ शिशु को भी मारने की चेष्टा की गई। युद्ध के आरंभ में जिस नैतिकता का सपना देखा गया था, युद्ध के अंत तक आते-आते उन सबकी निर्मम हत्या कर दी गई। केवल कल्पनातीत अनैतिकता का प्रलयंकर तांडव दिखाई दिया।

महाराज युधिष्ठिर रोते-रोते गिर पड़ते, यदि भीम ने उन्हें सँभाला न होता। वे बराबर मुझसे पूछ रहे थे—"यह क्या हो गया, कन्हैया? हम जीतते-जीतते हार गए। समुद्र पार कर नदी के मुहाने पर डूब गए। हमारे साथ फिर छल किया गया!"

"मैंने कभी आपको समझाया था और दबी जबान से कहा था; क्योंकि मुझे खटका था। मैंने आपके तथा पांचाल के शिविरों के दूर होने की चर्चा की थी। मैंने कहा था कि अभी हमें सावधान रहना चाहिए। यह दूरी कोई भी स्थिति पैदा कर सकती है। आपने शायद मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया, या आपको स्मरण नहीं रहा। इतने लंबे संघर्ष के थके-माँदे सभी लोग मैरेय लेकर सो गए। मैरेय में डूबी नींद भी बेसुध हो जाती है।"

"पर वह नीच अश्वत्थामा अब है कहाँ?" क्रोध में काँपता, दाँत पीसता भीम बोला। लगता था, यदि वह इसे मिल जाए तो यह कच्चा चबा जाएगा।

"अब वह मिलेगा कहाँ? किसी घने जंगल में जाकर छिप गया होगा। आप लोग सोए थे, इसीसे यह कांड हो गया। जाग्रत अवस्था में वह हमारा सामना नहीं कर सकता था।" सात्यकि बोला।

अब प्रश्न उठा कि कृतवर्मा और कृपाचार्य कहाँ होंगे?

मैंने सात्यकि से कहा, "जरा देखना, कृतवर्मा तो भाग भी सकता है; पर कृपाचार्य किसी वृक्ष के नीचे बैठे पश्चात्ताप कर रहे होंगे। उन्हें बुला लाओ।"

"वे नहीं आए और युद्ध करना पड़ा तो?"

"तो तुम वहीं से शंखध्वनि करना।"

वह तुरंत मेरे रथ पर सवार होकर चला गया।

इधर युधिष्ठिर ने नकुल को बुलाया और उसे नदी के उस पार पड़े महिला शिविर से द्रौपदी को बुलाने के लिए भेजा। द्रौपदी यहाँ नहीं थी। वह विजयपर्व मनाने उपप्लव्य गई थी। वहाँ से बुलाई गई। सारी दशा देखकर और सबकुछ सुनकर वह दहाड़ मारकर रो पड़ी। हाय, यह क्या हो गया! उसकी व्याकुलता तो नियंत्रण के बाहर थी।

उसका भी यही कहना था—''हम विजय पाकर भी हार गए। हारे हुए लोग तो हारे थे ही।'' इतना कहते-कहते वह मेरे अंक में गिर पड़ी।

''यही होता है ऐसे महायुद्धों का परिणाम।'' मैंने उसे समझाया और कहा, ''इतनी अधीर मत हो। आज कहाँ गई तुम्हारी दृढ़ता? जुए में हार जाने के बाद भी तू नहीं हारी। वनवास में दुर्वासा के समक्ष भी तू नहीं हारी। जयद्रथ के सामने भी तू नहीं हारी। कीचक जैसे राक्षस के समक्ष भी तू पराजित नहीं हुई। फिर इस घटना के बाद तू क्यों इतनी हताश और हारी हुई है?''

''इसलिए कि मैं लूटनेवाले से भी नहीं लुटी थी। कुछ-न-कुछ शेष थी। आज तो ऐसी लुटी कि कुछ भी शेष न रह गई।'' फिर अचानक वह बड़े आक्रोश में आई और बोली, ''हमारे विनाश के मूल में तुम्हीं हो; क्योंकि तुम्हारी अनुपस्थिति हमारे लिए काल बन जाती है। जब मैं जुए में हारी गई तब भी तुम नहीं थे। जब अभिमन्यु का वध हुआ तब भी तुम नहीं थे। आज भी तुम नहीं थे और अनर्थ हमारे सिर मढ़ दिया गया।''

बिलखते हुए उसके कहने का तात्पर्य यही था कि सारे अनर्थों का तुमने सफलतापूर्वक प्रतिशोध लिया था। अब इस अनर्थ का भी यदि तुमने सफलतापूर्वक प्रतिशोध नहीं लिया तो मैं अन्न-जल त्यागकर अपने प्राण दे दूँगी।

मैंने फिर अपनी बात दुहराई—''प्रतिशोध से प्रतिशोध का अंत नहीं होता। एक आग दूसरी आग को जलाती है। इसके विरुद्ध क्षमा में स्थायी शांति है।''

''विनाश के इस शिखर पर आकर तुम स्थायी शांति की बात करते हो, कन्हैया! इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थिति में अपराजेय आज तुम भी पराजित हो गए। पर मेरा अंतिम वचन याद रखें, मेरे मन की अशांति उस कायर हत्यारे को कभी क्षमा नहीं करेगी। मुझे प्रतिशोध चाहिए।''

''आखिर इस प्रतिशोध का अंत क्या होगा?'' मैंने यह प्रश्न किया ही था कि सात्यकि कृपाचार्य को बंदी बनाकर लाता दिखाई दिया; पर उनके साथ कृतवर्मा नहीं था। अवश्य वह भाग गया होगा।

पास आते ही मैंने सात्यकि से कहा, ''यह तुमने क्या किया? ये हमारे आचार्य हैं। इनके बंधन खोलो और ससम्मान इन्हें ले आओ।''

कृपाचार्य के बंधन खोल दिए गए। इस व्यवहार के लिए हम सबने उनसे क्षमा माँगी।

द्रौपदी एकदम झनझना उठी—''जघन्य अपराध के बाद भी आचार्य क्षम्य हैं! यह कैसी है आपकी सामाजिक नैतिकता? यदि आचार्य क्षम्य हैं तो आचार्यपुत्र अश्वत्थामा भी क्षम्य होगा?''

मैंने तुरंत कहा, ''तुम ठीक सोचती हो, द्रौपदी! लेकिन उसका यह अपराध क्षम्य नहीं है।'' फिर मैंने तत्क्षण अपनी बात बदली। मैंने कृपाचार्य से पूछा, ''आपके रहते यह सब हो गया?''

''मैं क्या करता! मैंने तो उसे बहुत समझाया, पर उसने मेरी एक बात नहीं मानी। उसमें भी प्रतिशोध की आग ऐसी जल रही थी कि वह मुझपर ही बिगड़ गया। बोला, 'लगता है, मेरे पूज्य पिताजी से आपका कोई संबंध ही नहीं था, या आप भूल गए कि उनकी हत्या कैसे षड्यंत्र रचकर हुई थी।' फिर उसने अत्यंत गोपनीय बात बताई। उसका कहना था—'मुझे एक संदेश प्रकृति ने दिया है और बदला लेने का एक उपाय बताया है।'

''बिना पूछे अश्वत्थ ने स्वयं बताया—'आप लोग तो उस वट के नीचे सो गए थे; पर मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरी दृष्टि एकटक ऊपर लगी थी। मैंने देखा कि एक उलूक कई बार उड़ा और कई बार उसी डाल पर बैठा। मुझे लगा कि वह भी मेरी ही तरह व्यग्र है। फिर उसने एक सोते कौए के घोंसले पर झपट्टा मारकर उसके परिवार को मार डाला और उसके घोंसले को तहस-नहस कर दिया। जानते हैं, यह क्या था? यह प्रकृति का संदेश था कि उठो और उन सोए पांडवों से बदला लो। उनको तहस-नहस कर दो। अपने मित्र की छटपटाती आत्मा को शांति दो, जिससे वह स्वर्गारोहण कर सके।' अश्वत्थ के इस कथन का मैंने विरोध किया। उस समय मैंने उसे रोकना चाहा। वह फिर बोला, 'आप भी कंस की तरह ही मेरे मामा हैं।' इसके बाद वह झटपट उठा और चंपत हो गया।''

''फिर वह कहाँ गया?'' भीम ने पूछा।

''फिर तो उसने देखते-देखते सारा कुकृत्य कर डाला। पर जब उसे श्रीकृष्ण और सात्यकि के आने की खबर लगी, वह और कृतवर्मा दोनों चंपत हो गए।'' कृपाचार्य पुनः सोचने लगे। बोले, ''अवश्य ही वह छटपटाते दुर्योधन को सूचना देने गया होगा। पर अब तो विलंब हो गया। दोनों किसी जंगल में छिपे होंगे;

पर गए होंगे उधर के ही जंगल की ओर।''

''मैं अभी आता हूँ।'' भीम उछलकर अपने रथ में बैठ गया और चल पड़ा।

मैं भी सात्यकि के साथ उसके पीछे-पीछे चला।

''देखो, उसे मारना मत।'' मैंने मार्ग में भीम से कहा।

''अभी भी उसके प्रति आपका मोह बना है!''

''यह प्रश्न मोह का नहीं, नीति का है। यदि हम उसे जीवित बंदी बना सके, तब हमारा उद्देश्य पूरा हो जाएगा।'' मैंने कहा, ''यदि वह मार डाला गया तो इस जघन्य पाप का उसे क्या दंड मिलेगा!'' अब मैंने उसे एक रहस्य बताया— ''जन्म के समय से ही उसके कपाल में एक मणि है। इस बात को द्रौपदी भी जानती है। उसे जब याद आएगा तब वह भी उसकी मणि निकलवाकर धर्मराज के मुकुट में लगवाना चाहेगी।''

द्रौपदी भीम की दुर्बलता थी। उसका नाम लेते ही वह उसके कथन पर विचार करने लगता था।

''आपके विचार से मणि निकालकर ही उसका वध करना चाहिए?'' भीम ने कहा।

''फिर वध की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मणि निकाल लेने के बाद वह तीन हजार वर्षों तक छटपटाता रहेगा।''

''तो यह बात आपने पहले क्यों नहीं बताई?'' भीम बोला, ''मैं युद्ध में ही उसकी मणि निकाल लेता।''

''उस समय यह बताने की आवश्यकता नहीं थी।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''और इस समय भी उसका बंदी बनाया जाना उसके मारे जाने से कठिन था।''

''यह बात मेरी समझ में नहीं आई!''

मन में आया कि कह दूँ कि तुम्हारे शरीर की तरह तुम्हारी बुद्धि भी मोटी है; पर मैंने कुछ नहीं कहा, क्योंकि आक्रोश के टूट जाने के बाद व्यक्ति के प्रहार की क्षमता दुर्बल हो जाती है।

हम लोग शीघ्र ही उस सरोवर के किनारे पहुँचे, जहाँ दुर्योधन को छटपटाता हम छोड़ आए थे; पर न वहाँ छटपटाता दुर्योधन था, न दुर्योधन का शव ही और न अश्वत्थामा। वहाँ अब भी ताजे रक्त के धब्बे थे। स्पष्ट था कि उसकी मृत्यु यहीं हुई है। धरती पर शव को घसीटकर ले जाने के स्पष्ट चिह्न थे।

"लगता है, शव को कोई जानवर घसीट ले गया।" भीम बोला।

"नहीं, यह कार्य मनुष्य का ही है; क्योंकि जानवर के ले जाने में यह सफाई न होती। उसके दाँत और पंजों से निकले लोथड़ों के टुकड़े कहीं-न-कहीं अवश्य गिरे दिखते।" मैंने जोर देकर कहा, "उसका शव कोई मनुष्य ही उठाकर ले गया है—और यह कार्य अश्वत्थामा के अतिरिक्त किसीका नहीं हो सकता।"

इसी अनुमान पर कहीं धुँधली होती, कहीं रक्त के धब्बों से पहचान बनाती उस लकीर के सहारे हम आगे बढ़े; पर कुछ दूर चलने के बाद ही उस लकीर का अस्तित्व समाप्त हो गया। साफ लगा कि शव को धरती से उठा लिया गया है।

निकट ही पहाड़ी थी। उसपर भी कोई संकेत नहीं। फिर भी उस पहाड़ी पर हम आगे बढ़े। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मुझे अश्वत्थामा का अश्व एक पेड़ से बँधा दिखाई दिया। वहीं कुछ आगे एक झाड़ी के भीतर किसीके होने की आहट लगी। हम लोगों ने तुरंत वहीं अपने रथ छोड़े और दबे पाँव झाड़ी के निकट जाकर देखा कि अश्वत्थामा दुर्योधन के शव को पुराने-नए पत्तों से अच्छी तरह ढक रहा था।

मैंने धीरे से भीम के कान में कहा, "देखते क्या हो! दबे पाँव आगे बढ़कर ऐसा मारो कि संज्ञारहित हो जाए।"

भीम ने तुरंत गदा मारी और वह अचेत हो ढुलक गया। फिर हम लोग उसे उठाकर पहाड़ी के नीचे लाए और रथ में डाल लिया। फिर तुरंत लौट पड़े।

थोड़ी देर बाद वह जरा सा किनमिनाया। मुझे उसकी शक्ति का अनुमान था। मैंने उसी क्षण भीम से कहा, "इसे बाँध दो। लगता है, इसकी चेतना पुनः लौट रही है—और जाग्रत हो जाने के बाद यह फिर हाथ नहीं आएगा।"

भीम ने वैसा ही किया।

शीघ्र ही हम पांडव शिविर की ओर लौटे। लोग बाहर खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। द्रौपदी देखते ही कटार लेकर सिंहनी की तरह झपटी और दाँत पीसते हुए बोली, "मैं इसके चीथड़े-चीथड़े करके कुत्तों को खिला दूँगी!"

"ठहरो!" मैंने डाँटते हुए कहा।

वह रुक गई।

मैं उसके कंधे पर हाथ रखते हुए बोला, "मार तो हम भी सकते थे, पर हमने इसे नहीं मारा।"

"इसलिए कि यह आचार्यपुत्र है!" क्रोध से काँपते हुए वह बोली।

"एक कारण यह भी है।" मैंने कहा। फिर उसका सिर सहलाते हुए मैं बोला, "तुम तो जानती हो, इसके मस्तक में जन्मजात मणि है। उसे निकाल लेने के

बाद यह तीन हजार वर्षों तक छटपटाता हुआ पागलों-सा घूमेगा। मार डालने के बाद तो यह जीवन के बंधन से मुक्त होकर स्वर्गगामी हो जाएगा। अब तुम्हीं निश्चित करो कि क्या करना चाहिए!''

''तब तो इसकी मणि निकाल लेना ही उचित होगा।'' अब द्रौपदी सामान्य हो चली थी—''इससे हम गुरुपुत्र की हत्या से भी बच जाएँगे। पर उस मणि का क्या होगा?''

''तुम जो चाहोगी।''

''मैंने तो किसी समय अपनी इच्छा आपसे व्यक्त की थी। उसे महाराज युधिष्ठिर के मुकुट में लगा देना चाहिए।'' द्रौपदी ने कहा।

''यही होगा।'' हम लोगों ने स्वीकार किया।

मृत्यु के निकट अपने मित्र की तड़फड़ाती पीड़ा को शांत करने के लिए जिसने इतना जघन्य पाप किया था, उसे मृत्यु से दूर हटाकर जीवन भर तड़पने के लिए हमने छोड़ दिया।

□

सब शांत हो गया। शायद जीवन की अंतिम परिणति यही है। सारा तू-तू, मैं-मैं, मेरा-तेरा, अपना-पराया, छीना-झपटी एक जिद्दी बालक की तरह छैलाकर सो गई। लगता है, प्रकृति हमें जन्म देते ही सपनों के खिलौने थमा देती है और जीवन भर हम उन्हीं खिलौनों से खेलते रहते हैं। वे ही सपने हमारे अस्तित्व की पहचान बनते हैं। तृष्णा और आकांक्षाएँ इन सपनों में रंग भरती हैं। तब मनुष्य उनमें और खो जाता है। उनसे उलझता है, खेलता है, रोता है, गाता है; पर जब साँसों का सिलसिला थम जाता है, जब शिव चला जाता है तब मात्र शव रह जाता है—और तब आती है एक अंतहीन शांति। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए छंदक और सात्यकि के साथ शिविर के बाहर घास पर बैठा था। उतरते पौष की मुलायम धूप का स्पर्श नई चेतना भरने का असफल प्रयास कर रहा था। तभी सामने से एक वृद्ध लाठी टेकता, एक युवा के कंधे का सहारा लेता चला आ रहा था।

होगा कोई। दूर से मैंने नहीं पहचाना और सही बात तो यह है कि पास आने पर भी मैं नहीं पहचान पाया। वह मेरे चरण छूने के लिए झुकने लगा। मैंने उठकर उसे छाती से लगा लिया। उसकी वेशभूषा और चाल-ढाल से लगा कि कोई दूसरा सुदामा है।

''आपने मुझे पहचाना?'' वह बोला, ''मैं मथुरा के लोहिता का भाई रोहिता हूँ।''

"अरे, रोहिता! सचमुच वृद्धता ने तुम्हारी पहचान छीन ली है।" मैंने कहा, "अच्छा बताओ, मैं तुम्हें अब कैसा लगता हूँ?"

"आप तो वैसे ही लगते हैं जैसे मेरे मन में हैं; क्योंकि बाहर का सबकुछ देखनेवाली मेरी आँखें अब संसार को बहुत कम देखती हैं।"

मुझे लगा कि रोहिता वृद्ध अवश्य हो गया है, पर उसकी बुद्धि वृद्ध नहीं हुई है। वह पहले जैसा ही उत्तर देता है। फिर मैंने उसका उचित स्वागत-सत्कार किया और अपने ही शिविर में उसे रखा।

सात्यकि और छंदक को बिदा कर अब मैंने उसका कुशलक्षेम पूछा। मथुरा के विषय में जानकारी ली, विशेषकर कुब्जा के संबंध में। कुब्जा का नाम सुनते ही उसकी करुणा और श्रद्धा एक साथ उमड़ पड़ी।

उसने कहा, "आप उसे छोड़कर चले आए, पर वह आपको न छोड़ सकी। आपके प्रेम में वह ऐसी दीवानी हुई कि आज तक दीवानी है। आपके प्रति उसके लगाव पर समय की धूल बिलकुल नहीं जमी है। आज भी एकदम ताजा है। दिन-रात आपके ध्यान में मग्न रहती है। मेरे बेटे से ही उसने आपकी एक धातु की प्रतिमा बनवाई है और दिन भर उसीकी पूजा-पाठ और सँवार-शृंगार में मस्त रहती है; उसीकी उपस्थिति आपकी उपस्थिति मानती है। जब कोई कहता है कि मूर्ति तो निष्प्राण है, तब वह मुसकराते हुए कहती है कि उनका प्राण तो मुझमें हैं, तब वह मूर्ति में कहाँ होगा!"

इतना सुनते ही मुझे रोमांच हो आया। मेरा तन-मन दोनों सिहर उठा। मुझे लगा कि मैंने उसे छोड़कर अच्छा नहीं किया। उसके प्रेम के साथ धोखा हुआ। पर उसके प्रेम की विह्वलता इस धोखे को भी स्वीकार नहीं करती। फिर भी कोई उलाहना नहीं, एक अटल विश्वास के साथ दत्तचित्तता, निश्चय ही उसका प्रेम तो राधा आदि गोपियों के प्रेम से भी महान् है।

"आप किस सोच में पड़ गए?" रोहिता ने मेरी चेतना को झकझोरा।

"कुछ नहीं। यही सोचने लगा कि तुम्हारा परिवार तो लौह अस्त्रों का निर्माण करता था। तुम मूर्तियाँ कब से बनाने लगे?"

"जब से हमने काम बंद किया।" फिर वह और गंभीर हो गया—"मैंने अपने जीवन में ही अस्त्रों का परिणाम देख लिया था। आज भी इस कुरुक्षेत्र में देख रहा हूँ। मेरे निर्माणों का आधार ही हिंसा था। मनुष्य को यदि हत्या की आवश्यकता न हो तो मेरा धंधा न चले।"

"पर मनुष्य की प्रकृति तो बदलेगी नहीं। तुम्हारे अस्त्र न बनाने से ये

हत्याएँ तो रुकेंगी नहीं।''

''भले ही न रुकें, पर हम उसमें भागीदार तो नहीं होंगे।'' उसने बड़े गर्व से कहा, ''अब यह मेरा पुत्र मूर्तियाँ बनाता है। लोगों की आस्था, विश्वास, प्रेम और समर्पण में भागीदार होता है; हमारी पीढ़ी की तरह जघन्य पाप और ईर्ष्या में तो नहीं।''

मैं स्तब्ध रह गया। मनुष्य की युद्धक प्रवृत्ति पर इतनी व्यंग्यात्मक टिप्पणी मैंने कभी नहीं सुनी थी। क्या ही अच्छा होता कि आज का मनुष्य भी इसे सुन पाता।

फिर मैंने पूछा, ''तुम मूर्तियाँ बनाकर कितना कमा लेते हो?''

''बहुत कम कमाते हैं।'' रोहिता बोला, ''कौन खरीदता है मूर्तियों को! किसी तरह जीविका चल जाती है।''

''ऐसा क्यों? जबकि मूर्तियाँ भी राजा लोग खरीदते होंगे और अस्त्र भी वे ही खरीदते हैं।''

''अस्त्र खरीदना उनकी अनिवार्यता है; जबकि मूर्तियों के लिए उनकी कोई अनिवार्यता नहीं। वह तो उनके लिए एक सजावटी वस्तु है। विलासिता की अनिवार्यता से जुटती है। इसलिए अस्त्र जितने बिकते हैं, मूर्तियाँ उतनी नहीं बिकतीं; जबकि मूर्तियाँ जनता भी खरीदती है।''

''क्या जनता अस्त्र नहीं खरीदती?''

''क्यों खरीदेगी! जीवन से प्रेम करनेवालों को मृत्यु के उपकरण की क्या आवश्यकता!''

रोहिता के इस उत्तर से मैं स्तब्ध रह गया। सोचने लगा, चिंतन की जिस सीमा तक वह पहुँच गया है, आज का मनुष्य क्यों नहीं पहुँचता!

''तुमने बताया कि कुब्जा को तुमने मेरी मूर्ति बनाकर दी।'' मैंने कहा, ''मैं तो इधर तुमसे मिला भी नहीं। बिना देखे तुमने मेरी मूर्ति कैसे बना दी?'' मैंने पूछा था उसके बेटे से और उत्तर दिया रोहिता ने—''पर हम तो आपसे रोज मिलते रहे। हर क्षण आपको देखते रहे।''

अभी बात चल ही रही थी कि प्रतिहारी ने युयुत्सु के हस्तिनापुर से आने की सूचना दी। जिज्ञासा एकदम व्यग्र हो उठी। उठकर बाहर आया कि क्या बात है?

मेरी आतुरता देखकर वह मुसकराने लगा। बोला, ''इधर आया था तो सोचा कि आपसे भी मिलता चलूँ।''

''आखिर इधर आने का कोई प्रयोजन तो होगा ही?'' मैंने पूछा।

उसने बताया—''महाराज ने युद्ध में मृत लोगों की अंत्येष्टि इधर की गंगा में ही करने की योजना बनाई है। मुहूर्त के अनुसार संभवत: परसों या उसके एक दिन बाद ही पधारेंगे। मुझे महामात्य की ओर से एक बड़ा शिविर बनवाने के लिए भेजा गया है। उनकी सलाह है कि इसी समय पांडव उनके चरण छूकर आशीर्वाद लें तो उत्तम होगा। युद्ध समाप्ति के बाद संवादहीनता का अंतराल लंबा नहीं होना चाहिए।''

''मैं भी इसी मत का हूँ।'' मैंने कहा, ''पर मैं सोचता था कि थोड़ा क्रोध और भी शांत हो जाए तो मैं स्वयं उनको लेकर हस्तिनापुर जाऊँ।''

''अब क्रोधाग्नि लगभग बुझ चुकी है। केवल पश्चात्ताप का धूम रह गया है।'' युयुत्सु बोला, ''पर कभी-कभी चिनगारी भड़कती जरूर है। महाराज भीमसेन का नाम सुनते ही क्रोध में किटकिटाने लगते हैं। उनका यह क्रोध एक दृष्टि से स्वाभाविक ही है। उनके लगभग सभी पुत्रों का वध भीम ने किया है। फिर उनका सोचना है कि दुर्योधन के साथ तो एकदम अन्याय हुआ है—और वही उन्हें सबसे प्रिय भी था। फिर कुछ समय के बाद वे शांत भी हो जाते हैं।''

''इसका तात्पर्य यह है कि भीम पर अब भी संकट मँडरा रहा है।''

''यह नकारा नहीं जा सकता।'' युयुत्सु बोला, ''पर वे कर क्या सकते हैं! एक ही बात हो सकती है कि यदि उन्होंने भीम को वक्ष से लगाया तो हो सकता है, उसे दबाकर चूर कर दें। उनकी वक्ष की शक्ति का आभास तो आपको होगा ही!''

मेरा सोच में पड़ना स्वाभाविक था। मैंने पूछा, ''वे एकाकी तो रहेंगे नहीं। उनके साथ और कौन-कौन होगा?''

''माताजी होंगी, महामात्य होंगे। पुरोधा के रूप में व्यासजी स्वयं होंगे और मैं होऊँगा। उनके सेवक और सेविकाएँ होंगी।'' युयुत्सु ने बताया—''और किसीके तो होने की संभावना नहीं लगती; क्योंकि एक विशाल शिविर के भीतर मुझे इतने ही कक्ष बनवाने के लिए कहा गया है।''

मैंने युयुत्सु को इन सारी सूचनाओं के लिए धन्यवाद दिया और फिर चिंता में डूब गया। कुछ समय तक चुपचाप लेटा सोचता रहा कि अचानक मन में आवाज उठी कि प्रभु ने रोग देने के पहले उसका उपचार भेज दिया है, उसे पहचानो।

मैंने तुरंत रोहिता को बुलाकर उससे पूछा, ''तुम किसी व्यक्ति को देखकर

उसकी मूर्ति बना सकते हो?''

''विश्वास तो ऐसा ही है। यदि आपका आशीर्वाद मिला तो ऐसी मूर्ति बनेगी कि वास्तविक व्यक्ति और मूर्ति में अंतर करना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन हो जाएगा।''

''वह मूर्ति कितने दिनों में तैयार हो जाएगी?''

''यदि अभी से काम शुरू करूँगा तो परसों तक तैयार हो जानी चाहिए।'' उसने बड़े विश्वास से कहा, ''इसके लिए मुझे लोहा दीजिए और तुरंत उस व्यक्ति को दिखाइए।''

''मैं उस व्यक्ति को बुलवाता तो हूँ, उसे तुम देख लोगे; पर उससे कोई बात नहीं करोगे। यह भी समझ लो कि हो सकता है, वह फिर देखने को न मिले।'' मैंने उसे अच्छी तरह समझाया—''मेरे बगल का शिविर खाली है। तुम्हें सारा कार्य उसीमें करना पड़ेगा। इसका अच्छी तरह खयाल रखना कि मूर्ति बनने के पहले उसे कोई देख न पाए। यदि तुम चाहो तो तुम्हारे शिविर के पास एक प्रहरी रहेगा।''

पिता-पुत्र दोनों बड़े अचरज में पड़े कि मामला क्या है?

रोहिता तो बोल ही पड़ा—''इतनी गोपनीयता क्यों?''

''इसे भी यदि तुमसे गोपनीय रखूँ तो!'' मैंने मुसकराते हुए कहा और दोनों हँसकर चुप रह गए।

मैंने छंदक से भीम को बुलवाया। सुना है, आह्वान की आकस्मिकता से भीम भी चकित हो गया। उसने छंदक से बुलाए जाने का कारण पूछा।

उसने कहा, ''यह तो उन्होंने नहीं बताया। केवल आपका नाम लेकर उन्होंने कहा कि उन्हें तुरंत बुला लाओ।''

आते ही उसने जानना चाहा कि आखिर बात क्या है।

मैंने कहा, ''ये लोग मेरे पुराने परिचित हैं—उस समय के, जब मैं मथुरा में था। जब इन्हें पता चला कि सभी धृतराष्ट्रपुत्र मारे गए और उन्हें मारनेवाला एक ही व्यक्ति है, तब ये बड़े आश्चर्य में पड़े। उस बलशाली व्यक्ति को देखने की जिज्ञासा इन्हें यहाँ तक ले आई।''

इतना सुनना था कि भीम रुई की तरह फूल गया और लगा अपनी देह की मांसलता का प्रदर्शन करने। पहले उसने वक्ष को फुलाया, फिर भुजाओं की पेशियाँ तौलकर दिखाईं और बोला, ''क्या समझते हो, मेरा शरीर लोहे का है।''

''क्या मैं इसे छूकर देख सकता हूँ?'' रोहिता के पुत्र ने पूछा।

''अवश्य।''

अब उसने भीम को चारों ओर से बड़े गौर से देखा; मानो उसकी दृष्टि भीम की शरीरयष्टि को अच्छी तरह तौल लेना चाहती हो।

फिर रोहिता बोला, ''हम आपको देखकर धन्य हुए। आप आशीर्वाद दीजिए कि मेरे पुत्र की लौह कला भी आप जैसी हो।'' रोहिता के इतना कहते ही ऐसा लगा कि वह सोचने लगा कि मैंने यह क्या कह दिया। उसने तत्क्षण अपने को सुधारा—''इसकी कला आप जैसी यशस्वी हो।''

अब मैंने अट्टहास किया और वार्त्तालाप समाप्त करते हुए मैं भीम को शिविर के बाहर ले आया; क्योंकि इनकी बातों का और चलना मुझे खतरनाक लगा।

फिर बाहर लाकर मैंने भीम को धृतराष्ट्र के पधारने की बात बताई और कहा, ''उनसे आशीर्वाद लेने के लिए आपको तैयार रहना चाहिए।''

''आशीर्वाद लेने के लिए हम तो हमेशा से तैयार हैं; पर यदि वे देने के लिए तैयार नहीं हुए तो?'' भीम बोला।

''तुम्हारी शंका ठीक उतर सकती है; क्योंकि दुर्योधन के वध के बाद से तुम लोगों पर से—और विशेषकर तुमपर से उनका विश्वास उठ गया है। तुम्हारे प्रति तो उनका क्रोध अभी भी बना है। तुमने उनके सभी बेटों का वध किया है। फिर भी वे उससे इतने दुःखी नहीं हैं। उनका कहना है कि जब युद्ध है तो एक-न-एक की मृत्यु तो होगी ही। वे दुःखी इस बात से हैं कि तुमने गदायुद्ध के सारे नियम तोड़कर दुर्योधन की कमर के नीचे प्रहार किया।''

''तो इसमें मेरा क्या दोष?'' भीम ने मुसकराते हुए कहा, ''वहाँ मारने का आदेश तो आपने ही दिया था।''

मुझे भी हँसी आ गई। मैंने सोचते हुए कहा, ''इसके लिए एक बात हो सकती है। तुम सारे लौह अस्त्र मुझे दे दो। मैं प्रचारित कर दूँ कि भीम ने सारे लौह अस्त्र त्याग दिए हैं; क्योंकि उन्हें दुर्योधन को गलत ढंग से धराशायी करने का गहरा पछतावा है।''

ऐसा ही हुआ। भीम ने अपने सारे लौह अस्त्र भेज दिए। कुछ मेरे पास भी थे। मैंने उन सबको रोहितापुत्र को देकर कहा, ''इन्हींको गलाकर तुम अपना कार्य पूरा करो।''

ठीक तीसरे दिन सूचना मिली कि महर्षि व्यास के साथ महाराज धृतराष्ट्र पधार रहे हैं। पांडवों के साथ हम लोगों ने बढ़कर उनकी अगवानी की। व्यासजी ने

प्रसन्न होकर हमें आशीर्वाद दिया; पर महाराज की आकृति पर कोई विशेष प्रसन्नता दिखाई नहीं पड़ी।

वे बड़ी बेरुखाई से बोले, ''अभी तो मैं अंत्येष्टि के निमित्त आया हूँ, कर्मकांड के बाद आप मिलिएगा।''

''जैसा आपका आदेश।'' मैंने कहा और पांडवों को साथ लेकर लौट पड़ा।

धृतराष्ट्र की इस रुक्षता पर युधिष्ठिर फिर शोक में पड़ गए। बोले, ''लगता है, ताऊजी के मन में प्रतिशोध की आग अब भी सुलग रही है।''

''क्यों नहीं सुलगेगी!'' मैंने कहा, ''जिसका सबकुछ नष्ट हो गया, उसे पश्चात्ताप भी नहीं होगा!''

वे मौन रह गए। मैं पांडवों को उनके शिविर में छोड़कर सीधे अपने शिविर में चला आया। तब तक रोहिता के पुत्र ने भीम की वह प्रतिमा मेरे शिविर में पहुँचा दी थी। छंदक बैठा गौर से उसे देख रहा था।

मैं भी प्रतिमा की सजीवता पर चकित रह गया। भीम की यह आपाद प्रतिमा नग्न होते हुए भी ऐसी लग रही थी कि वस्त्र पहने सजीव खड़ी है। फिर भी उसपर एक वस्त्र और डाल दिया गया था।

मैं छंदक की तन्मयता के साथ परिहास करते हुए बोला, ''अरे, ऐसे क्या देखते हो? देखना हो तो वस्त्र हटाकर देखो।''

''मैं एक शिष्ट व्यक्ति हूँ, किसीके वस्त्र हटाने की धृष्टता नहीं करता।'' उसने परिहास का उत्तर और गहरे परिहास से दिया—''फिर उद्घाटन करना तो आप जैसे बड़ों का कार्य है।''

''जब यह अधिकार तुम देते हो तो यह महत्त्वपूर्ण कार्य मैं ही संपन्न करता हूँ।'' मैंने हँसते हुए मूर्ति पर से वस्त्र खींच दिया। सचमुच बड़ी जीवंत प्रतिमा थी। असली और नकली की ऐसी समानता पर कोई भी आश्चर्य कर सकता था। और तो और, भीम के शरीर का रंग एवं सिर के बाल भी मिला दिए गए थे।

अब मेरे मन में एक दूसरी आशंका जागी। यदि मैं यहाँ रहूँगा तो लोग आते रहेंगे। इस प्रतिमा को देखकर तरह-तरह की जिज्ञासाएँ करेंगे और गोपनीयता की दृढ़ मंजूषा में बंद हमारा उद्देश्य ही खुल जाएगा। अतएव मैं छंदक को लेकर शिविर से निकल पड़ा। द्वार बंद कराया और प्रहरी को निर्देश दिया कि किसीको भीतर मत आने देना। कोई पूछे तो कहना, गंगातट पर गए हैं।

इस समय गंगातट पर अविस्मरणीय दृश्य था। अपार भीड़ थी—मनुष्यों की नहीं, रोती-बिलखती विधवाओं की। यदि उनके आँसुओं को एकत्र किया जाता तो

एक दूसरी गंगा बह जाती—युद्ध की भगीरथ विभीषिका द्वारा लाई गंगा, उत्पन्न करुणा की गंगा, राजलिप्सा की जटा से निकली गंगा।

उनकी आहें यदि समवेत हो जातीं तो एक तूफान बन जातीं—ज्वालामुखी के लावे के बीच से उठा तूफान। ऐसे में कौन किससे क्या कहे, क्या बोले? हर एक का गला भारी, आँखें भीगीं, वाणी शक्तिहीन, मन भरा-भरा। मैं भी जाकर चुपचाप विदुरजी के पीछे बैठ गया। मैंने कभी इतनी बड़ी सामूहिक अंत्येष्टि देखी नहीं थी। शायद इतिहास ने भी न देखी हो।

संध्या ढलते-ढलते लोग वहाँ से लौट पड़े। एकदम शांत; जैसे बिना लहरों का मानव समुद्र। मार्ग में ही मैंने विदुरजी से धीरे से कहा, ''आपकी मुझे बड़ी आवश्यकता है। यदि रात्रि होने के पहले मेरे शिविर में पधारें तो बड़ी कृपा हो।''

दिन भर का दृश्य देखकर महाराज बड़े व्याकुल थे। उनकी व्याकुलता में पश्चात्ताप भी था और आक्रोश भी। उन्होंने सोचा क्या था और हो क्या गया। महर्षि व्यास उनकी पीड़ा को सहला रहे थे। उनकी अंतराग्नि पर सांत्वना का जल छिड़क रहे थे। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि उस समय महाराज को छोड़ पाना विदुरजी के लिए कठिन था।

फिर भी दिन डूबते-डूबते वे आ ही गए। मैंने सारी बातें उन्हें बताईं। मन की आशंका कही।

''तो मैं कर ही क्या सकता हूँ?''

''आप बहुत कुछ कर सकते हैं।'' मैंने कहा और अनुरोध किया—''भीम की इस विशाल प्रतिमा को महाराज के सिंहासन के निकट शिविर में रखवा दें; पर इसका जरा भी आभास महाराज को न हो।''

वे बड़े सोच में पड़े। फिर बोले, ''मेरे सामने दो बड़ी गंभीर समस्याएँ हैं। एक तो इतनी बड़ी मूर्ति कोई एक व्यक्ति उठा नहीं सकता। कई व्यक्ति लगवाने पड़ेंगे। फिर कोई पूछेगा तो क्या कहूँगा?''

''मुझे आप पर और आपके विवेक पर विश्वास है। आप कोई-न-कोई मार्ग अवश्य निकाल लेंगे। अरे चाचाजी, यदि कुछ नहीं हो सकता तो यह तो कहा ही जा सकता है कि बिना प्रतिमा के महाराज़ का सिंहासन सूना-सूना लगता।''

वे मुसकराने लगे। फिर बोले, ''यदि तुम्हारी आशंका पूरी न हुई तो?''

''तो सजावट की प्रतिमा है, पड़ी रहेगी।'' मैं बोला।

हँसते हुए उन्होंने कहा, ''मैं तुम्हारी दूरदर्शिता की प्रशंसा करता हूँ! किसी तरह इस कार्य को संपन्न अवश्य कराऊँगा।''

मैंने उन्हें सावधान किया—''देखिए, मेरी मंशा का आभास छंदक को भी नहीं है। इस रहस्य को खुलना नहीं चाहिए; अन्यथा मेरी योजना का कमल वन कीचड़ हो जाएगा।''

''चेष्टा ऐसी ही करूँगा।''

□

दूसरे दिन संध्या-पूजन के बाद सभी पांडव मेरे शिविर में आए। आते ही उन्होंने शिविर के पश्चिम की ओर एक ही मंच पर पड़े रोहिता और उसके पुत्र के प्रति जिज्ञासा की।

मैंने कहा, ''ये मेरे बड़े पुराने मित्र हैं, कलाकार हैं। जब मैं मथुरा में था तब इनसे संपर्क हुआ था। ये इस महाविनाश के साक्षी होने आए हैं।''

इसके बाद ही मैंने बात बदल दी—''क्या हमें अब चलना चाहिए? महाराज गंगातट से लौट आए होंगे।''

''मेरे विचार से तो लौट आना चाहिए।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''और न लौटे होंगे तो हम लोग वहाँ बैठ जाएँगे।''

जितने सहजभाव से युधिष्ठिर ने कहा, मैं उतना ही असहज था। सारी योजना बनाने के बाद भी मेरा कलेजा धड़क रहा था। नाड़ी की गति बढ़ गई थी; क्योंकि जरा सी असावधानी सारी योजना पर पानी फेर सकती थी। फिर भी धृतराष्ट्र के क्रोध का सामना तो करना ही था, चाहे आज करता या भविष्य में।

रोहिता और उसके पुत्र को थोड़ी देर में आने का आश्वासन देकर मैं चल पड़ा। रोती-कलपती विधवाओं की भीड़ महाराज के शिविर के बाहर थी।

उनमें से कइयों ने युधिष्ठिर के पैर पकड़कर रोक लिया और बिलखती हुई बोलीं, ''राजन्! आपकी धर्मज्ञता, दयालुता कहाँ चली गई थी कि आपने अपने बंधु-बांधव, मित्रों और इतने निर्दोष सैनिकों को मरवा डाला? अपने वंश का भी समूल नाश किया! फिर भी कौन सा साम्राज्य पाया? आप किसपर राज्य करेंगे? हमारी धधकती आहों पर? हमारे आँसुओं पर या मृत्यु के स्पंदनहीन सन्नाटे पर?''

हम सब मौन हो गए। युधिष्ठिर की आँखें भी भर आईं। वे उन्हें क्या उत्तर देते? जब तक उन्होंने उन्हें छोड़ा नहीं, एक अपराधी की तरह वे खड़े रहे।

किसी तरह हम शिविर में पहुँचे। विदुरजी ने बढ़कर हम लोगों की अगवानी की। सभी शोकाकुल और मौन थे। लोगों की दृष्टि सर्वप्रथम रोहितापुत्र द्वारा बनाई प्रतिमा पर पड़ी।

भीम मुसकराते हुए धीरे से बोला, ''यह तो एक भीम महाराज की बगल में

सुरक्षा के लिए खड़ा ही है।''

मैंने उसका हाथ जोर से दबाते हुए तरेरा। वह चुप हो गया और साथ में उसके अन्य भाई भी।

अब महामात्य विदुरजी ने महाराज को सूचना दी—''पांडव आपके आशीर्वाद के लिए पधारे हैं।''

''मेरा आशीर्वाद! अब क्या आशीर्वाद! जब आशीर्वाद देने योग्य था तब तो कभी दिया नहीं। अब आज क्या आशीर्वाद!'' पश्चात्ताप में डूबे महाराज धृतराष्ट्र बोलते रहे—''हारे, टूटे और शक्तिहीन व्यक्ति का आशीर्वाद भी शक्तिहीन और निरर्थक होता है। फिर दूँ भी तो क्या दूँ? 'विजयी भव' कहूँ, वह तो तुम हो ही। 'सिंहासनाधीश बनो' कहूँ, वह तो तुम बनोगे ही। 'प्रजापालक बनो' कहूँ, उसके सारे गुण तुममें हैं ही। फिर मेरे आशीर्वाद की तुम्हें आवश्यकता क्या?''

''ऐसा नहीं, ताऊजी, हमें आपकी छत्रच्छाया की आवश्यकता तो हमेशा पड़ेगी।'' युधिष्ठिर ने कहा, ''आपको याद होगा, हमारे पूज्य पिताजी जब वन जा रहे थे तब आपको सत्ता के साथ ही हम लोगों को भी सौंपते हुए कहा था—'भैया, अब इन अनाथों के नाथ आप ही हैं। ये आपकी शरण में पुत्रवत् रहेंगे और इन्हें आपका आशीर्वाद सदा मिलता रहेगा, मेरा ऐसा विश्वास है।' ''

''पर मैंने सदा तुम्हें आशीर्वाद कहाँ दिया? अपने पुत्र-प्रेम के व्यामोह में ऐसा पड़ा रहा कि मैं अपने प्रिय छोटे भाई का अंतिम आग्रह तक भूल गया। मेरा शेष जीवन शायद इसी अपराध का फल भोगता रहेगा।''

मैंने अनुभव किया कि दुःख के चरम बिंदु पर ही अपनी नग्न वास्तविकता का आभास होता है। इसके विपरीत सुख एक परदा आँखों पर डाल देता है; तब औरों को कौन कहे, व्यक्ति स्वयं को भी नहीं देख पाता।

मैंने महाराज को सांत्वना देते हुए कहा, ''अब जो हो चुका, उसे भूल जाइए और इन्हें आशीर्वाद दीजिए।''

फिर मैं पांडवों को लेकर सिंहासन के निकट गया। मैंने युधिष्ठिर को संकेत किया, वे महाराज के चरणों पर गिर पड़े। 'चिरंजीवी भव' कहते हुए महाराज धृतराष्ट्र ने उन्हें अपनी छाती से लगा लिया। फिर अचानक उनकी मुद्रा बदली। वे बोले, ''तुम कहते हो, सब भूल जाऊँ। कैसे भूल जाऊँ? दुर्योधन की मृत्यु के पूर्व छटपटाहट भी भूल जाऊँ?'' फिर वे कुछ और आक्रोश में आए। बोले, ''आओ भीम, इसके पहले कि तुम मेरे चरण छुओ, मैं तुम्हें छाती से लगा लूँ। तुम पांडवों में सबसे बलिष्ठ माने जाते हो!''

भीम निश्छलभाव से आगे बढ़ा। पहले से ही सजग मैं एकदम तैयार था। मैंने तुरंत भीम का हाथ पकड़कर पीछे खींचा और बड़े प्रयत्न से उस मूर्ति को उठाकर उनकी छाती से लगा दिया। लोग देखते रह गए कि यह मैंने क्या किया।

महाराज यों ही अंधे, फिर उन्माद ने उनके विवेक को और भी अंधा कर दिया। अब उनकी असली-नकली की भेदबुद्धि किसी काम की नहीं रह गई। महाराज को क्या मालूम कि उनकी भुजाओं में कौन है! उन्होंने मूर्ति को जोर से दबाया। प्रथम प्रयास में मूर्ति टूट नहीं पाई।

''अच्छा, तो यह बात है।'' उनके मुख से निकला। उन्होंने और जोर लगाया। मूर्ति चूर-चूर हो गई।

पागलपन के इस दबाव से उनका वक्ष भीतर से घायल हो गया। मामूली खाँसी के बाद मुँह से रक्त बह निकला। अब उन्हें रक्त निकलने की अनुभूति हुई। अचानक साश्चर्य महाराज बोल उठे—''अरे, यह मेरा ही रक्त है!''

''आपका रक्त हो या भीम का, उसमें कोई अंतर तो है नहीं, महाराज!'' मैंने कहा, ''भीम की छाती से निकलता तो वह आपका ही रक्त होता और आपकी छाती से निकला तो भीम का ही रक्त है।''

''क्या कहा?'' इतना बोलते हुए वे अचेत होकर धरती पर ढुलक गए। लोग दौड़ पड़े। सेवकों ने उपचार आरंभ कर दिया। थोड़ी देर बाद उनकी चेतना लौटी। वे सहारा देकर पुनः सिंहासन पर लाए गए।

अब पश्चात्ताप की ज्वाला में उनका क्रोध पिघल चुका था। उसकी स्रवित वाष्प धृतराष्ट्र की आँखों से बह चली।

''क्रोध में मैंने यह क्या कर डाला! वृद्धावस्था में जो सहारा था, उसीको चूर कर दिया। मेरा पुत्र-प्रेम जीवन भर मुझसे अनर्थ कराता रहा और आज भी उसने अनर्थ करा दिया। जिस डाल पर अब मेरा नीड़ होता, मैंने उसी पर कुल्हाड़ी मारी! अब मैं क्या करूँगा? सिंहासन छोड़कर संन्यास लेने के अतिरिक्त अब मेरे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं है।''

''अरे रे, यह आप क्या कह रहे हैं? पांडुपुत्रों को स्थापित किए बिना यह निर्णय! ये बेचारे अनाथ हो जाएँगे।'' मैंने उन्हें सांत्वना दी—''भूल करना मनुष्य की प्रकृति है। भूल का अनुभव कर उसका पश्चात्ताप करना उसकी संस्कृति है। आपकी मानसिकता स्वयं अपना संस्कार कर चुकी है। आपका आक्रोश अपने चरम बिंदु पर जाकर नष्ट हो चुका है।''

उन्होंने रोते हुए कहा, ''तुम्हारी बातें ठीक हैं, कन्हैया! पर अब मैं अपने

भीम को कहाँ पाऊँगा?''

''यदि आप चाहेंगे तो अवश्य पाएँगे।'' मैंने कहा, ''वह भीम तो आपके क्रोध के लिए था। वह भीम नष्ट हो गया, साथ में आपका क्रोध भी। आपका असली भीम तो यह है।'' इतना कहते हुए मैंने भीम को आगे कर दिया।

दूध का जला मट्ठे को भी फूँककर पीता है। इतना होने पर भी भीम को अपने ताऊ की छाती से लगने पर झिझक हुई।

महाराज ने तुरंत ताड़ लिया। उन्होंने कहा, ''भीम, अब मत डरो। मेरे वक्ष की सारी शक्ति मेरे क्रोध का भीम निगल गया।''

फिर वह बड़े निस्संकोच भाव से उनसे गले मिला।

इसके बाद धृतराष्ट्र ने अन्य पांडुपुत्रों को भी गले लगाया और आशीर्वाद दिया। फिर अंत में बोले, ''अब आप लोग मेरे साथ ही हस्तिनापुर चलें।''

युधिष्ठिर ने बड़ी विनम्रता से निवेदन किया—''श्राद्ध का सारा कर्म संपन्न कराकर हम सब एक माह के भीतर ही आपकी शरण में आ जाएँगे। अब हम लोग माता गांधारी का भी आशीर्वाद लेना चाहेंगे।''

''हाँ, अवश्य लो। उसके यहाँ जाओ। वह बगल के कक्ष में है।'' महाराज ने बताया—''जब से आई है, रो ही रही है और महर्षि व्यास उसे समझा रहे हैं। तुम उसकी सिसकन भरी हिचकी यहीं से सुन सकते हो। जब से गंगातट से लौटी है, उसकी यही दशा है। महर्षि के इतना समझाने पर भी शांत नहीं हो पा रही है। शायद तुम लोगों से मिलकर वह शांति का अनुभव करे।''

जब हम लोग गांधारी के कक्ष में पहुँचे तब महर्षि का सांत्वना प्रवचन चल रहा था—''इस सारे विनाश के पीछे किसीका दोष नहीं है। यह तो तुम्हारे वंश की भवितव्यता थी, जो घट गई। होना था, हो गया। इसका आभास मुझे कुछ था। मैंने लोगों को बताया था। यदि नियति की मंशा से दूर हटकर तुम यथार्थ के स्तर पर भी सोचो तो तुम पाओगी कि व्यक्तिगत तुम्हारा तो कोई दोष नहीं। तुमने बार-बार अपने पुत्रों को समझाया था; पर उन्होंने तुम्हारी एक बात नहीं मानी। तुमने प्रथम बार जुए के परिणाम पर भी पानी फेर दिया था। तुमने उस समय दुर्योधन को बहुत समझाया था, जब बात पाँच ग्राम पर आकर अटक गई थी। तुम्हारी बात न मानकर उन्होंने कृष्ण को ही बंदी बनाना चाहा। अपने डगमगाते जहाज की ओर न देखकर सिंधु को ही समेटना चाहा था। फिर तुम अपने भाई शकुनि को बराबर समझाती रहीं; यद्यपि वह तुमसे बड़ा था।

''पांडव भी तुम्हें मानते रहे और तुमपर विश्वास करते रहे। तुमने लाक्षागृह

की घटना का भी विरोध किया था। तुम्हारे पुत्रों ने ही तुम्हारी बात नहीं मानी।''

''यही तो मेरा सबसे बड़ा दुर्भाग्य था।'' गांधारी रो पड़ी।

''पर इसमें तुम्हारा क्या दोष! नियति की यही मंशा थी।'' व्यासजी ने भी अनेक बार कही बात दुहराई—''व्यक्ति अपने कर्मों का फल तो भोगता ही है, चाहे हँसकर भोगे या रोकर। तुम्हारे पुत्रों ने अपने कर्मों का फल भोगा और तुम अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल पा रही हो। फिर तुमने कभी भी अपने पुत्रों की विजय की आकांक्षा भी व्यक्त नहीं की।''

''यह आप कैसे कह सकते हैं?'' गांधारी एकदम गंभीर हो गई।

''और यही हुआ है।'' व्यासजी बोले, ''तुम्हारा अंतर्मन बड़ी गहराई से यह अनुभव कर रहा था कि तुम्हारे बेटे उचित नहीं कर रहे हैं। इसीलिए जब भी उन्होंने आशीर्वाद माँगा, तुम्हारे मुख से कभी 'विजयी भव' नहीं निकला। तुमने हर बार यही कहा, 'यतो धर्मः ततो जयः'—जहाँ धर्म है वहीं जय होती है।''

गांधारी सोचने लगी। उसके आँसू थमने लगे। पर व्यासजी कहते गए—''तुमने न कभी पाप सोचा और न पाप किया। चिंतन और कर्म दोनों में तुम धर्म के साथ रहीं। तुमने जब धर्म ही जीया तो अब शोक किस बात का! जो धर्म के अनुकूल था, वही तो हुआ।''

गांधारी मौन रह गई। उसके मन का तनाव कुछ ढीला पड़ा। वह व्यासजी के चरण छूकर अपने मंचक पर ढुलकने लगी। तब विदुरजी ने बताया कि पांडव आशीर्वाद लेने के लिए खड़े हैं। वह चुपचाप उठकर बैठ गई। कुछ बोली नहीं। पांडवों ने उसके चरण छुए। दीर्घजीवी होने का उसने उन्हें आशीर्वाद दिया।

जब पांडव चरण स्पर्श करके हटे तब मैंने चरण छुए।

''पांडव तो चरण छू चुके थे, तुम छठवें कौन हो?''

''बुआजी, मैं कन्हैया हूँ।'' मैंने कहा।

''कन्हैया!'' वह ऐसे बोली जैसा मेरा उपस्थित होना उसे अच्छा नहीं लगा। पर वह चुप थी—शांत और प्रतिक्रियाशून्य।

मैंने अनुभव किया कि न मेरे प्रति उसका पूर्ववाला प्रेम रहा और न आत्मीयता। अब यह सबकुछ घृणा में बदल चुका है।

मैं यदि इस संसार में किसीसे डरता था तो गांधारी से ही; क्योंकि उसने पूरी धार्मिकता के साथ एक तपस्विनी का जीवन जीया था। किसीका कभी अहित नहीं किया था। इसीसे उसमें शाप देने की क्षमता सबसे अधिक थी। इसलिए बिना कुछ कहे-सुने, चुपचाप पुनः चरण छूकर और फिर दर्शन करने का

निवेदन कर मैं चल पड़ा।

मैं बाहर आया तो देखा, रोहिता मुझे अपने पुत्र के साथ खोजता हुआ चला आ रहा है। मैंने सोचा, क्यों न इसका परिचय महाराज से कराया जाए। मैं उन दोनों को लिये धृतराष्ट्र के शिविर में पुनः पहुँच गया।

महाराज श्लथ हो मंच पर ढुलके थे। मुँह से काफी रक्त बह चुका था। चिकित्सा चल रही थी। उन्हें बताया गया कि श्रीकृष्ण उन लोगों को लेकर आए हैं, जिन्होंने भीम की वह लौह प्रतिमा बनाई थी।

'आइए-आइए' कहते हुए वे बड़ी प्रसन्नता से उठ बैठे।

मैंने उनका परिचय देते हुए कहा कि ये मथुरा से पधारे मूर्तिकार हैं। मेरे बड़े पुराने मित्र हैं। मेरा इनसे परिचय उस समय हुआ था, जब मैं मथुरा में था। इनके परिवार में लौहास्त्र बनाने की कला बहुत पुरानी है। मेरे ननिहाल के सारे आयुध इन्हींके यहाँ बनते थे। यहाँ तक कि जरासंध के यहाँ की आपूर्ति भी इन्हींके यहाँ से होती थी।

"अब ये मूर्तियाँ बनाते हैं!" महाराज ने जिज्ञासा की—"क्या आयुध बनाने में लाभ कम था?"

"नहीं, लाभ तो अधिक था वरन् मूर्तियों में ही लाभ कम है। कौन खरीदता है मूर्तियाँ!" बूढ़ा रोहिता बोला, "किसी तरह पेट चलता है। ऐसे भीषण नर-संहार देखते-देखते हम लोगों को आयुधों से घृणा हो गई—और यहाँ आकर तो और भी घृणा हो गई। इसीसे हम लोगों ने बहुत पहले से आयुध बनाना छोड़ दिया।"

"धन्य हैं आप लोग!" धृतराष्ट्र गद्‌गद हो बोले, "विनाश के मूल में है आयुध और सर्जना के मूल में है कला। आयुध मृत्यु के लिए लालायित रहता है और कला जीवन का जय बोलती है। यदि आयुध के प्रति तुम्हारी जैसी घृणा पूरी मानव जाति को हो जाती तो यह पृथ्वी स्वर्ग हो जाती।"

□

दस
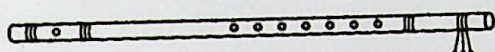
पश्चात्ताप और भविष्य की आशंकाओं की घटाएँ अब और भी घनी हो गई थीं। अगले कुछ दिनों तक उनके छँटने की कोई संभावना नहीं थी, वरन् समय के साथ उनका घनत्व बढ़ता चला जा रहा था। ऐसा कोई दिन नहीं था, जिसका सवेरा आँसुओं से भीगा न रहा हो और संध्या आहों से काली न पड़ गई हो।

इसके अतिरिक्त और कोई काम नहीं था। गंगा के किनारे हम लोग अपने शिविरों में पड़े रहते थे। गुजरते पौष की ठंडक से सिकुड़े दिन भी पहाड़ लगते थे; जैसे समय ही थम गया हो। हमें न मौसम की कँपकँपी का अनुभव होता था और न हिमानी वायु की सनसनाहट का। एक पथराया जीवन हमारे पल्ले पड़ा था।

अशौच के कारण पूजा-पाठ भी बंद था। उष:काल में ही हम भागीरथी के तट पर चले जाते थे और सूर्य की प्रथम किरण के साथ ही हमारी डुबकी लगती थी। फिर बहुत देर तक गंगा के शीतल आँचल का सहारा लिये रहते थे। यहीं लोगों से भेंट हो जाती थी।

त्रयोदशाह के बाद मैं अशौच से मुक्त हो गया। फिर भी मैं गंगा के किनारे पहुँच जाता था। यदि कभी देर हो जाती थी तो लोग गंगा में खड़े उस भयंकर शीत को झेलते हुए भी हमारी राह देखते थे। इस बंधन से मुक्त होना मेरे लिए कठिन था।

कई बार मैंने सोचा कि जले वृक्ष पर पक्षी भी नहीं रहता। अब मुझे यहाँ से मुक्त हो जाना चाहिए। पांडव परिवार में किसी और से मैं कह नहीं पाता था। कहने की इच्छा होने पर भी उनकी कारुणिक दशा मेरे मुख पर हाथ रख देती थी। केवल छंदक से बातों-बातों में मैं अपने मन की व्यथा-कथा कहता था।

किसी तरह एक दिन अर्जुन को विस्तार से मैंने अपनी स्थिति समझाई—''द्वारका छोड़े बहुत दिन हो गए। समाचार है कि प्रभासक्षेत्र में यादवों का युद्ध चल रहा है। वह विनाशक रूप भी ले सकता है—और अवश्य लेगा; क्योंकि वह

शापित युद्ध है। मुझे लगता है कि कृतवर्मा यहाँ से भागकर वहीं गया होगा। अभी तक वह दो युद्धों में बँटा हुआ था। दो नाव पर सवार था। इसलिए कभी कूदकर इधर आता था और कभी उधर। सात्यकि भी इसी चिंता में मुझे छोड़कर चला गया।

"सूचना यह भी है कि सांब और प्रद्युम्न भी द्वारका छोड़कर प्रभासक्षेत्र आ गए हैं। इस समय वहाँ केवल बलराम भैया बचे होंगे। राज्य के आंतरिक शासन और बाह्य सुरक्षा की जिम्मेदारी अब उन्हींके कंधों पर पड़ी होगी।

"कैसे निबाह कर रहे होंगे? मेरा चिंतित होना स्वाभाविक है; क्योंकि मैं उनकी प्रकृति जानता हूँ। वे संसार भर के झमेले से दूर रहते हैं।"

"सिर पर पड़ा तो कुछ-न-कुछ कर ही रहे होंगे।" अर्जुन बोला, "सबकुछ छोड़कर भाग तो जाएँगे नहीं।"

"भाग भी सकते हैं।" मैंने कहा, "देखा नहीं, कुरुक्षेत्र में इतना बड़ा युद्ध हुआ। आर्यावर्त्त का ऐसा कोई राजा या राजघराना नहीं, जो इससे न जुड़ा हो। ऐसा कोई युद्धाचार्य नहीं, जिसने अपनी भागीदारी न निबाही हो। पर भैया उससे दूर रहे; जबकि वे राज्य के स्वामी भी थे और देश के माने हुए गदायुद्धाचार्य भी। आए भी तो एकदम अंत में और आते ही एक वितंडा खड़ा कर दिया, जिसका परिणाम आज तक हम भोग रहे हैं।"

"हाँ, उनका क्रोध भी मैंने जीवन में पहली बार देखा।" अर्जुन बोला।

"अरे, बड़े क्रोधी हैं। तुम्हें तो सुभद्रा-हरण के समयवाला दृश्य याद ही होगा। किसीसे न डरनेवाला दुर्योधन भी उनके क्रोध से काँपता था। उसी दिन यदि मैं न होता तो तांडव कर देते। यह तो कहो कि उनका मुझपर अक्षय ममत्व है। पता नहीं क्यों, वे मेरे कहने पर शांत हो जाते हैं।" इसी क्रम में मैंने बताया—"एक बार तो उन्होंने जरासंध को बंदी बना लिया था। उसका वध ही कर देते। किसी तरह मेरे मनाने पर मान गए। उन्हें जरा भी सत्ता की लिप्सा नहीं। सोचने की बात है कि द्वारका के इतने बड़े सिंहासन पर उन्हें बैठना था। मूल रूप से उनके ससुर का राज्य था। उसके वास्तविक अधिकारी वही थे। वय में भी मुझसे बड़े हैं। सबकुछ होते हुए भी उन्होंने बड़ी निर्लिप्तता से कहा कि मुझे शासन के झमेले से दूर रखो। मुझे अपनी मस्ती का जीवन जीने दो।" मैंने अर्जुन से कहा, "अब तुम्हीं समझो, कब तक वह द्वारका का प्रशासन सँभाल पाएँगे! जरा सी मुद्रा गड़बड़ाई कि वे सबकुछ छोड़-छाड़कर चल देंगे।"

अर्जुन गंभीरता से विचार करने लगा। उसने स्वीकार किया कि आपकी विचित्र समस्या है, जिसका समाधान भी आप ही निकाल सकते हैं। उसने यह भी

कहा, ''पर भैया की मन:स्थिति ऐसी नहीं है कि आपकी समस्या मैं उनके सामने रखूँ। यदि कभी आप ही कहें और मैं भी वहाँ रहूँ तो हो सकता है कि मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ।'' इसके साथ ही उसका यह भी कहना था—''मुझे विश्वास नहीं है कि वे आपको छोड़ पाएँगे।''

निश्चय हुआ कि आज संध्या को सबकी उपस्थिति में मैं ही उनके समक्ष अपनी समस्या रखूँ।

मैं संध्या के कुछ पहले ही महाराज युधिष्ठिर के शिविर में पहुँचा। वहाँ वातावरण मेरी समस्या से भी गंभीर और भारी था। लगभग सभी चिंतित मुद्रा में विचार-विमर्श में तल्लीन थे।

पता चला कि बात कल के श्राद्ध और तर्पण को लेकर है। परंपरा यह थी कि परिवार का सबसे अधिक आयुवाला व्यक्ति आगे-आगे चलता था। उसे 'अग्रवर्ती' कहते थे। कल युधिष्ठिर ही अग्रवर्ती होंगे। यों इस परिवार में पितामह ही अग्रवर्ती होते थे। जब लाक्षागृह में पांडवों के जल मरने का समाचार मिला था और उनका हस्तिनापुर में श्राद्ध और तर्पण किया गया था, तब पितामह ही अग्रवर्ती थे। इस परंपरा का अंत्येष्टि के समय भी निर्वाह किया जाता था; पर जब युद्ध के समय मृतकों की सामूहिक अंत्येष्टि होती थी, तब ऐसी किसी मान्य परंपरा का अनुसरण नहीं होता था। केवल कोई भी उपलब्ध पुरोधा अंत्येष्टि का कार्यक्रम करा देता था। यह श्राद्धकर्म परिवारजनों का ही होने वाला था। अतएव यह सत्कर्म युधिष्ठिर द्वारा ही पूरा होना चाहिए था।

जब उन्हें इसकी सूचना दी गई तब वे एकदम भावुक हो उठे—''हे भगवान्, अब यह स्थिति आ गई! मुझे स्वजनों के श्राद्ध में अग्रवर्ती बनना पड़ेगा। परिवार में मेरा कोई वयोवृद्ध नहीं रहा। यदि मुझे अग्रवर्ती ही होना था तो प्रभु, तुमने मुझे उनके स्वर्गारोहण में क्यों नहीं अग्रवर्ती बनाया?'' इतना कहते-कहते वे पसीने-पसीने हो गए।

पहले तो मैं समझ नहीं पाया, फिर सोचा, महाराज के लिए ऐसी भावुकता कोई नई बात नहीं है। सामान्यत: उठनेवाली ऐसी लहर ने फिर उन्हें अपने अंक में ले लिया। थोड़ी देर बाद वे स्वत: शांत हो जाएँगे।

इस महायुद्ध के पूरे संदर्भ में दो स्थितियाँ बहुधा अवरोधक हो जाती थीं। एक थी युधिष्ठिर की अतिशय भावुकता और दूसरी थी द्रौपदी की अतिशय प्रतिशोध की भावना। और अंत में उनको शांत करने का दायित्व मेरे ही मत्थे पड़ता था।

आज भी जब मैं पहुँचा और महाराज युधिष्ठिर की यह दशा देखकर सकपकाया, तब कुंती बुआ ने मुझे एक किनारे ले जाकर सारी स्थिति समझाई। मैंने देखा, महाराज शिविर की रेतीली धरती पर बिछी एक कुश शय्या पर लेटे हैं। (महाभारत काल में भी श्राद्धकर्म करनेवाले को धरती पर ही लेटना पड़ता था।) आँखें बंद हैं और उनसे दो-चार बूँदें झलक आई हैं।

आत्मग्लानि और पश्चात्ताप में वे इतने तल्लीन थे कि मुझे देख नहीं पाए।

''कृष्ण आपको प्रणाम करता है।'' मैंने कहा।

वे एकदम हड़बड़ाकर उठ बैठे। रुआँसी आवाज में बोले, ''अब मुझे ही अपने परिवार के श्राद्ध-तर्पण में अग्रवर्ती बनना पड़ेगा! इससे बड़ा मेरा दुर्भाग्य और क्या होगा!''

''यह दुर्भाग्य तो है ही, पर आप क्या कीजिएगा? परिवार में आप ही सबसे वयोवृद्ध हैं।''

''जानते हो, कन्हैया, संसार में कौन सी वस्तु सबसे बोझिल होती है?''

मैं समझ नहीं पाया कि यह संदर्भहीन प्रश्न उन्होंने क्यों उठाया?

उन्होंने स्वयं बताया। उनका स्वर और भीगा था—''अपने कंधों पर अपने पुत्रों का शव—अभिमन्यु का शव, द्रौपदी के पाँच-पाँच पुत्रों का शव। कल के तर्पण में जब मैं अग्रवर्ती होकर जलांजलि के लिए जाऊँगा, तब ये सारे शव मेरे कंधों पर होंगे। मैं अपने पापों की गठरी उठाकर किसी प्रकार चल पा रहा हूँ; क्योंकि यह मेरी अनिवार्यता है, लाचारी है; पर क्या मैं एक साथ अपने पुत्रों का शव लेकर गंगातट तक जा पाऊँगा?''

''अवश्य जा पाएँगे, महाराज, क्योंकि यह भी आपकी अनिवार्यता है।'' मैंने उन्हें सांत्वना भी दी—''आप बिलकुल न घबराएँ, महाराज! वही आपको शक्ति भी देगा, जिसने यह अनिवार्यता दी है।''

इसके बाद वे कुछ शांत दिखे। उनकी आँखें पुनः बंद हुईं; जैसे कुछ सोचने लगे हों। फिर बोले, ''तुम मेरी एक बात मानोगे, कन्हैया?''

''क्या?''

''तुम्हीं कल के श्राद्ध के अग्रपुरुष बन जाओ।''

''जैसा आप कहें।'' मैंने कहा, ''पर यह तो सोचें, मैं आपके परिवार का नहीं हूँ।''

''तुम्हें याद होगा कि राजसूय यज्ञ के समय घोर विरोध होते हुए भी मैंने ही अग्रपूजा की थी।''

''वह स्थिति दूसरी थी और आज की परिस्थिति दूसरी है।'' मैंने कहा, ''आज दिवंगत आत्माओं की शांति का प्रश्न है।''

''पर इतना साहस नहीं हो पा रहा है।'' महाराज बोले, ''मैं तो इतना श्लथ हो गया हूँ जैसे शरीर में प्राण ही नहीं है।''

''थोड़ा हिम्मत बाँधिए। आज आप चुपचाप विश्राम कीजिए।'' मैंने कहा, ''न हो सके तो दो-एक दिन इस कार्यक्रम को टाल दीजिए।''

''यह उचित नहीं होगा।'' सहदेव ने तुरंत प्रतिकार किया—''शास्त्रों के अनुसार, पितरों का श्राद्ध अमावस्या को और देवताओं का श्राद्ध पूर्णिमा को सर्वोत्तम माना गया है—और कल अमावस्या है भी।''

मैंने वातावरण को हलका करने के लिए मुसकराते हुए सहदेव से कहा, ''तुम्हारे धर्मशास्त्रों की व्यवस्था से तो मैं परेशान हूँ।''

''जब धर्म के संस्थापक होकर धर्म की व्यवस्था से आप ही परेशान हो जाएँगे तो समाज का क्या होगा?'' सहदेव बोला और हलकी सी मुसकराहट लोगों के अधरों को छूती हुई निकल गई।

आंतरिक व्याकुलता शांति खोजते-खोजते कहाँ तक चली जाती है, इसका प्राण तो इस कथन से लगता है कि उन्होंने अंत में यहाँ तक कह दिया—''यदि मेरा कोई बड़ा भाई होता तो यह स्थिति न आती।''

''होता, यदि उसे युद्ध निगल न गया होता!'' अब तक चुप बैठी कुंती बुआ के मन में निरंतर जलती आग की एक लपट अचानक बाहर निकल आई।

तुरंत युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया हुई—''क्या सचमुच मेरा कोई बड़ा भाई भी था, जिसे युद्ध निगल गया?''

अब मुझे फिर सँभालना पड़ा—''बुआजी ने तो एक सिद्धांत की बात कही है। जब युद्ध आपके पुत्रों को निगल सकता था तो वह किसीको भी निगल सकता था। वह आपको भी निगल सकता था। तब आप सारी समस्याओं से मुक्त हो जाते।''

''वही तो नहीं हुआ।''

युधिष्ठिर कुछ सामान्य हो चले।

''आप कल का ही कार्यक्रम रखिए।'' मैंने बड़े विश्वास के साथ कहा, ''आपके जिन कंधों पर कल सबसे अधिक बोझ होगा, हो सकता है, उन कंधों को सहारा देने के लिए मैं भी रहूँ।''

''हो सकता है नहीं।'' युधिष्ठिर ने बड़ा जोर देकर कहा, ''आपको

अवश्य चलना पड़ेगा।''

मैं मुसकराता हुआ वहाँ से चल पड़ा। मुझे लगा कि महाराज का मन कुछ हलका हो गया है। मेरे साथ शिविर के बाहर तक मुझे पहुँचाने कुंती बुआ आईं।

उन्होंने मेरे कान में धीरे से कहा, ''कल अवश्य आना, कन्हैया!''

मुझे हँसी आ गई। मैं बोला, ''आप इतनी घबराती क्यों हैं, बुआजी? आपके पांडव जितने थे उतने ही रह गए।''

''वही तो नहीं हुआ, कन्हैया!'' उन्होंने कहा, ''जीवन भर जिसने उपेक्षा सही, अब मरने के बाद भी उसकी आत्मा तो उपेक्षित न हो।'' उनके स्वर में और आर्द्रता आई—''मैं जीवन भर भीतर-ही-भीतर भरती गई, कन्हैया! अब भीतर-ही-भीतर इतना उबाल आ रहा है कि भय है, कहीं मैं फट न जाऊँ।''

मैं कुछ कह नहीं पाया। एक माँ के हृदय की आंतरिक छटपटाहट की ऐसी मौन विवशता से प्रभावित होना स्वाभाविक था।

रथ पर बैठा तो संध्या हो चुकी थी। अँधेरा छा रहा था। उस धुँधलके में पीछे से छंदक दौड़ा हुआ आ रहा था। वह मुसकराता हुआ रथ में बैठ गया।

''क्या बात है, छंदक, बड़े प्रसन्न दिखाई देते हो?''

''आप बुआजी को लेकर बहुत आगे निकल आए थे। पीछे सहदेव ने मुझे रोक लिया था। उसका कहना था कि कल द्वारकाधीश को लेकर अवश्य आ जाइएगा। बड़े भैया को वे ही सँभाल सकते हैं।''

''क्यों, कोई विशेष बात है क्या?''

''उसका कहना है कि कल अमावस्या है और धनिष्ठा नक्षत्र भी। इस नक्षत्र में तर्पण करने पर राज्य-सुख की प्राप्ति होती है।''

मैंने कहा, ''बड़े भैया को सँभालने से कहीं अधिक आवश्यक है बुआजी को सँभालना। यदि मैं नहीं भी गया तो एक दिन बाद ही सही, युधिष्ठिर महाराज रो-गाकर चले जाएँगे; पर बुआजी का क्या होगा?''

''यह क्या रहस्य है?'' उसने बड़ी जिज्ञासा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा।

''इस रहस्य के उद्घाटन के लिए अभी थोड़ी प्रतीक्षा करो।''

□

रात ने पग बढ़ा दिए थे। अमावस्या के पूर्व का घना अंधकार श्मशान में शंकर की तरह समाधिस्थ और स्पंदनहीन था। दूर, बहुत दूर पर एक जलती हुई मशाल मेरे शिविर की पहचान बन गई थी।

छंदक को छोड़ता हुआ मैं अपने शिविर में पहुँचा। भीतर था वही अकेलापन,

वही सन्नाटा, वही काँपता हुआ धुँधलका। ऐसी स्थिति में बाहर का अकेलापन मेरे भीतर एक भीड़ जुटाने में लग जाया करता था; पर आज वैसी स्थिति नहीं हुई।

आज मेरे भीतर कोई भीड़ नहीं थी। उस तेजस्वी पुरुष की उभरती हुई आकृति थी। वह हँसते हुए कह रहा था—'तुमने मुझे जब से जाना तब से परेशान हो न! पर मेरी माँ तो भीतर-ही-भीतर घुट रही थी। यदि वह मेरे बारे में औरों को बता देती तो शायद उसकी घुटन भी औरों में बँट जाती; पर उसने लोक-लज्जा के भय से ऐसा नहीं किया। वह सरल है, सीधी है, तुम्हारी तरह राजनीतिक नहीं, केवल माँ है। वह किसी तरह का नाटक नहीं रच सकती। पर हाँ, जीवन की ढलान पर तुम्हारे नाटक का पात्र अवश्य बन गई। तब उसके प्रेम का पलड़ा अर्जुन की तरफ झुक गया, झुकता गया और काफी झुका।

'माँ तो है ही, अपने बेटों के प्रति उसकी ममता स्वाभाविक है; पर अर्जुन के प्रति तुम्हारी विशेष निकटता मोहवृक्ष की उस डाल को और हरा-भरा करती रही, जिसपर अर्जुन का बसेरा था—और मेरे हिस्से की डाल सूखती गई, सूखती गई। उस समय एकदम ठूँठ हो गई, जब तुमने मेरा कवच और कुंडल माँगने के लिए उसे मेरे पास भेजा। अरे, मैं भी उसका अर्जुन की तरह ही पुत्र था। रिश्ते में मैं भी तुम्हारा वही था, जो अर्जुन है। फिर उसके प्रति उसका इतना झुकाव क्यों? जबकि मैंने उससे स्पष्ट कहा था कि अर्जुन के मारे जाने के बाद भी तुम्हारे लिए पांडव पाँच ही रहेंगे। उनकी संख्या में एक की भी कमी नहीं आएगी। मैं तुम्हें अपनी माँ स्पष्ट घोषित करूँगा; यद्यपि तुम जन्म देनेवाली मेरी माँ ही हो। पर उसका मन इसके लिए तैयार नहीं हुआ।

'मैं भी एक माँ की लाचारी और विवशता को समझता हूँ। जो पुत्र है, उसे वह पुत्र मानती भी है; पर इस सत्य का उद्घाटन आज तक वह कर नहीं पाई। कई बार उसका मोह बाहर आने के लिए जोर मारता रहा; पर हर बार तुमने उसे समझाकर, पुचकारकर फिर भीतर सुला दिया।'

अब तक चुपचाप सुनते-सुनते मैं अचानक बोल पड़ा—'ऐसा करने के लिए भी तो आपने ही निर्देश दिया था।'

'पर कब निर्देश दिया था? जब मुझे पांडवों की दृष्टि एकदम पराया सोच बैठी थी।'

इसके बाद एक प्रगल्भ हँसी उसके मुख से छूटी। फिर उसकी ध्वनि का स्तर सामान्य पर आया—'मैं तुम्हारे सामने कोई वाद लेकर नहीं आया हूँ, न विवाद लेकर आया हूँ। केवल संवाद के निमित्त आया हूँ। अब मेरा आदेश सुनो। भीतर-

भीतर मेरी माँ जो भरती रही है, अब गंगा में वैसे ही उसे बहा देने दो जैसे उसने गंगा में कभी मुझे बहाया था। अब उस घट को ढकने की चेष्टा मत करना। उसे बहाने में उसकी सहायता करो, उसे सँभालो; अन्यथा वह गंगा में स्वयं बह जाएगी। यदि तुम इस संदर्भ को छोड़कर द्वारका चले जाओगे तो अच्छी तरह समझो कि यह अकेले उसके वश का कार्य नहीं है। और फिर तुम्हारे द्वारका जाने का अभी समय भी नहीं आया है।'

इसके बाद वह मुझपर हँसता हुआ एकदम चला गया।

अब मैं समझता हूँ, वह (कर्ण) कहीं बाहर से नहीं आया था। वह मेरे भीतर ही था—और एकांत का लाभ उठाते हुए मेरे अर्द्धचेतन में बैठा हुआ कर्ण स्वयं बाहर निकल आया था।

दूसरे दिन नींद कुछ देर से टूटी। मैं अचकचाकर उठ बैठा। मैंने बाहर की ओर देखा। सामने घास पर पड़ी तुहिन बिंदुओं पर उषा की पहली किरण झिलमिला रही थी। मैं यथाशीघ्र तैयार हुआ और छंदक को लेकर चल पड़ा। उस शीत में शीतल हवा के झोंकों का सामना करना हिमखंडों को छाती से लगाना था।

मुझे संदेह था कि ऐसा न हुआ हो कि लोग निकल गए हों; पर जब पहुँचा, लोग बाहर खड़े मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मेरे पहुँचते ही चल पड़े। अग्रवर्ती युधिष्ठिर ही थे, फिर शेष भाई। उनके पीछे परिवार की महिलाएँ और सबसे पीछे बुआजी को अपने कंधों का सहारा देता मैं। इक्के-दुक्के लोग ही पांडवों के अंतहीन संघर्ष की अंतिम यात्रा देखने के लिए इकट्ठे हुए थे।

किनारे पहुँचते-पहुँचते बुआजी ने धीरे से मेरे कान में कहा, "आज तो अपने परिवार के सभी पितरों को अंतिम जलांजलि दी जाएगी?"

मैंने कहा, "हाँ।"

"लगता है, मरने के बाद यहाँ भी उसका तिरस्कार ही होगा!" उनका संकेत कर्ण की ओर था—"क्या मरने के बाद उसकी आत्मा छटपटाती रह जाएगी?" फिर उन्होंने एक दूसरी समस्या उठाई—"क्यों, राधा और अधिरथ की जलांजलि उस तक नहीं पहुँचेगी?"

मैंने नकारात्मक ढंग से केवल सिर हिलाया और कहा, "यदि आपने शास्त्रोक्त ढंग से राधा और अधिरथ को उसे दे दिया होता और उन्होंने ग्रहण किया होता, तब आपका प्रश्न उचित होता। आपने तो उसे गंगा की धारा को दिया है।"

"हे भगवान्, तो मैं क्या करूँ?"

"साहस कीजिए, बुआजी, और क्या कीजिएगा!" मैंने उन्हें हिम्मत बँधाई—

"आज तक आपने जिस सत्य को छिपाने का अपराध किया है, बुआजी, इस गंगा की धारा में उसका भी प्रायश्चित्त कर लीजिए। फिर घबराती क्यों हैं, मैं तो आपके साथ हूँ ही।"

बुआजी एकदम शांत दिखीं। कुछ बुदबुदाते हुए वे आगे बढ़ीं; मानो दिवंगत आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना कर रही हों।

गंगा भी सुनसान, लहरें भी शांत।

इधर दो-तीन दिनों से ठंडक भी बढ़ गई थी। जब हम जल में उतरे, ऐसा लगा जैसे स्रवित हिम बह रहा हो। कटि तक पहुँचते-पहुँचते जैसे आधा अंग ही जम गया था। बुआजी के पैर डगमगा रहे थे। मैंने उन्हें सँभाल रखा था, शायद गिर जातीं और जल-समाधि भी ले लेतीं।

अब निश्चित स्थान पर पुरोधा ने कर्मकांड भी आरंभ कर दिया था। कुछ ही समय में सारा कृत्य समाप्त हो गया। फिर जलांजलि के लिए हमें गंगा में उतरना था। इस बीच बुआजी की आकृति का रंग कई बार बदला। मुझे फिर बुआजी को सँभालना पड़ा। मेरी जिज्ञासा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी कि बुआजी कैसे और कब रहस्य का उद्घाटन करती हैं।

जब युधिष्ठिर ने जलांजलि आरंभ की तब मेरा हाथ पकड़े-पकड़े बुआजी उनकी बगल में खड़ी हो गईं। जलांजलि आरंभ हुई। पहले परिवार के सदस्य, पितरों को जलांजलि दी गई। फिर निकट संबंधियों को जलांजलि का क्रम आने ही वाला था कि बुआजी अचानक बोल पड़ीं—"अभी एक जलांजलि बाकी है।"

मैंने अनुभव किया कि उनकी आवाज में पता नहीं कहाँ की दृढ़ता आ गई थी।

"किसके लिए?" युधिष्ठिर ने साश्चर्य पूछा।

"कर्ण के लिए।" बुआजी ने जीवन भर का भरा घड़ा जैसे एक साथ उड़ेल दिया।

"कर्ण के लिए!" युधिष्ठिर चौंक पड़े। अन्यों के भी आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

"यह कैसे हो सकता है? वह तो सूतपुत्र था। न उसकी जाति का पता था और न गोत्र का।"

"यही तो आज तक का सबसे बड़ा भ्रम है।" बुआजी ने कहा, "वह तुम्हारा सहोदर था। जैसे तुम सब हो वैसे वह भी था।"

इतना सुनते ही युधिष्ठिर ठगे-से रह गए—"यह मैं क्या सुन रहा हूँ?"

कुंती बुआ के धैर्य का बाँध टूटने ही वाला था कि मैं बोल पड़ा—"यही सत्य है, धर्मराज!" फिर मैंने धीरे-धीरे सारी कहानी विस्तार से सुनाई। लोग बड़े ध्यान से सुनने लगे। उन्हें न जल की शीतलता का बोध रहा और न हिमानी हवा के झोंकों का। जाड़ा भी जैसे जम गया था।

उनके सामने तो जीवन का सबसे बड़ा रहस्य अचानक उद्घाटित हुआ था।

"यदि ऐसा था तो तुमने मुझे बताया क्यों नहीं?"

युधिष्ठिर ने पूछा बुआजी से और बोल मैं पड़ा—"उसने ऐसा करने से मना किया था।"

"हम लोगों के रहते हमारे सहोदर भाई ने ऐसा अभिशप्त जीवन व्यतीत किया। कुल-जाति-गोत्रविहीनों की तरह जीया और मरा। जिस सिंहासन के लिए हमने इतना संघर्ष किया, उसका वास्तविक अधिकारी तो वही था। धिक्कार है हमें! हमारा जीवन जीना व्यर्थ गया! अब हम उस दिवंगत आत्मा से कैसे और किस मुँह से क्षमा माँगें!"

"क्षमा किस बात के लिए?" अब मुझे युधिष्ठिर को शांत करना पड़ा—"आप तो अनजान थे—और इस क्षण तक अनजान थे। यदि आपको बताया न गया होता तो यह रहस्य आज भी अनखुला रह जाता और आपके भाई की आत्मा स्वर्ग में भी तड़पती रह जाती।"

वे कुछ क्षणों तक मौन रहे। फिर ऐसा लगा कि उनके पश्चात्ताप की धारा हमारे सांत्वना के बाँध से टकराकर एकदम उफन पड़ी। उन्होंने कुंती बुआ को संबोधित करते हुए कहा, "मैंने तुम्हारे जैसी माँ नहीं देखी, जिसने इतनी बड़ी बात अपने पुत्रों से छिपा ली! तुम्हारा मातृत्व कैसे इतना निर्मम हो गया था? शायद ही इस देश में तुम्हारे अतिरिक्त कोई और माँ हो, जिसने अपने पेट में इतना गहरा रहस्य अंत तक छिपाए रखा हो।" वे एक क्षण के लिए रुके और फिर आवेश की अंतिम सीमा पर बोले, "जाओ, गंगा में खड़े होकर मैं तुम्हारे माध्यम से पूरी नारी जाति को शापित करता हूँ कि आज से कोई बात उसके पेट में कभी पचेगी नहीं।"

☐

इस घटना के दूसरे दिन मैं पूजन से अभी उठा ही था कि महाराज धृतराष्ट्र का दूत आया और संदेश दिया—"महाराज ने आपको ससम्मान बुलाया है।"

"अरे भाई, ससम्मान मुझे बुलाना उतना आवश्यक नहीं है जितना उन्हें अपने परिवार को।" मैंने यथाविधि दूत की आवभगत करते हुए कहा।

"उन सबको तो बुलाया ही है।" उसने कहा, "मैंने प्रथम सूचना उन्हींके

यहाँ जाकर दी। तब महाराज युधिष्ठिर ने तुरंत पूछा, 'उन्होंने कन्हैया को आमंत्रित किया है या नहीं?'

" 'हाँ, महाराज, किया है।'

"तब युधिष्ठिर महाराज ने कहा, 'तो पहले आप उन्हींको सूचित करें। वे जब भी चलेंगे, हम लोग उनके पीछे हो जाएँगे।' "

अब इसका उत्तर मेरे जैसे व्यक्ति के लिए देना कठिन था, जो हर क्षण इस स्थिति से दूर भागना चाहता हो। छंदक की मनःस्थिति भी लगभग मेरे जैसी थी। उसे भी लग रहा था कि द्वारका छोड़े बहुत दिन हो गए हैं।

मैंने कहा, "हस्तिनापुर यहाँ से कितनी दूर है ही! अरे, घड़ी भर का मार्ग है। जब भी चलूँगा, पहुँच जाऊँगा। हो सकता है, आज चलूँ, कल चलूँ या परसों चलूँ। पांडवों को अपने घर ही तो लौटना है।"

"पर महाराज चाहते हैं कि आप लोगों के आने की सूचना कुछ पहले मिल जाती तो उत्तम होता। आपके स्वागत की उत्तम व्यवस्था हो जाती।" फिर उसने बताया—"महाराज युधिष्ठिर का कहना है कि हम कभी भी चल सकते हैं। बस, द्वारकाधीश के चलने की देर है।"

मैं फिर सोच में पड़ गया।

दूत ने पुनः बताया—"आप लोग शीघ्रता करते तो बड़ी कृपा होती; क्योंकि महाराज काफी अस्वस्थ चल रहे हैं।"

"क्यों, उन्हें क्या हो गया?"

"उस दिन भीमसेन की उस लौह प्रतिमा को छाती से लगाने के समय उनके वक्ष के आंतरिक भाग की जो रक्त शिराएँ फट गई थीं, उनमें अब भी रक्त रिसता है। राजवैद्य चिकित्सा में लगे हैं; पर कोई विशेष लाभ नहीं है। कभी-कभी उनकी दशा और भी गंभीर हो जाती है। सन्निपात में आ जाते हैं।"

"तब हम लोग आज संध्या तक अवश्य आ जाएँगे।" मैंने कहा, "पर लौटते समय मेरे निर्णय की सूचना पांडव शिविर को अवश्य दे दें, जिससे वे तैयार रहें।"

दूत के चले जाने के बाद छंदक ने कहा, "विचित्र स्थिति है। यह तो हर ओर पीड़ा, दुःख, पश्चात्ताप ही दिखाई दे रहा है।"

"यही तो हिंसा की अंतिम परिणति होती है। ऐसे महायुद्धों के बाद कहीं भी किसीको विजय पर्व मनाते हुए न देखा और न सुना। यह तो पश्चात्ताप और शाप पर्व है।" मैंने कहा।

मध्याह्न होते-होते मैं पांडवों के शिविर में पहुँचा। मैंने सभी चाकरों को वहाँ से पहले ही रवाना कर दिया। फिर रथों का क्रम बैठाया गया। मैंने सबसे आगे महाराज युधिष्ठिर का रथ रखा, फिर अन्य भाइयों का और सबसे बाद में अपना एवं छंदक का। पर युधिष्ठिर ने इस क्रम में संशोधन किया। उनकी इच्छा थी कि सबसे आगे मेरा रथ रहेगा।

मैंने कहा, ''आपके परिवार से मेरा सीधा संबंध नहीं है।''

''इससे क्या होता है! आप हमारे पालक हैं, अभिभावक हैं, रक्षक हैं, आराध्य हैं और जो समझिए, वह सब हैं। अब तक आप हर स्थिति में हमारे आगे रहे हैं तो आज भी रहेंगे।''

मैं सोचने लगा, कहाँ मैंने निकल भागने की योजना बनाई थी। अब तो और भी फँस जाना पड़ेगा। पर क्या कर सकता था!

अंत में धर्मराज ने यहाँ तक कहा, ''यह मेरी प्रार्थना भी है और मेरा आदेश भी।'' उन्होंने तुरंत दारुक को आज्ञा दी—''कन्हैया का रथ आगे करो।''

मैं कुछ बोल नहीं पाया। सारी व्यवस्था धर्मराज के आदेशानुसार हुई। सबसे आगे मेरा ही रथ था और उसी पर बुआजी को बैठाया गया। उसके पीछे युधिष्ठिर, फिर भीम। भीम के रथ पर द्रौपदी और अर्जुन के रथ पर सुभद्रा बैठी। पांडवों के रथों के बाद छंदक का रथ था और पीछे अन्य लोग।

मध्याह्न लगभग ढुलक चुका था। जब हम लोग हस्तिनापुर पहुँचे, तब भी सूर्य मस्तक पर चमक रहा था। नगर द्वार पर ही फूल और पत्तियों से सजाया हुआ, उदास-उदास-सा स्वागत द्वार अपनी उपस्थिति की केवल अनुभूति करा रहा था, जिनपर मुँह लटकाए और मुरझाए फूल नगर की स्थिति पर लिखी पुस्तक की भूमिका की तरह दिखे। मैं भीतर बहुत दूर तक निकल गया, कहीं कोई राजकीय व्यक्ति दिखाई नहीं दिया। अमात्य और नगर के अधिकारियों की कौन कहे, सामान्य सैनिक तक नहीं। अलिंदों और गवाक्षों से झाँकती महिलाओं एवं बच्चों की पीड़ा भरी दृष्टि हमारी प्रतीक्षा करती मालूम पड़ी।

जो नगर कभी चहल-पहल से भरा रहता था, जहाँ वैभव और संपन्नता का कल्लोल सदा सुनाई पड़ता था, जहाँ सदा जीवन का उल्लास था वहाँ श्मशान का सन्नाटा, मृत्यु की ऐसी स्पंदनहीनता।

''हे भगवान्, यह क्या हो गया!'' मेरी बगल में बैठी कुंती बुआ बड़े भारी मन से बोलीं।

युधिष्ठिर तो लगभग विक्षिप्त-से लगे।

मैंने कहा, ''अब यही हस्तिनापुर है।'' मैं इस मानसिकता से गुजर चुका था। पहले जब मैं आया था तब मुझे भी कुछ ऐसा ही लगा था।

राजभवन के द्वार पर कुछ प्रहरियों के साथ विदुरजी के कंधों का सहारा लेते और खाँसते हुए श्लथ-से धृतराष्ट्र खड़े थे और उन्हींके पार्श्व में पांडवों के कुल पुरोधा आचार्य धौम्य। कुछ ही क्षणों में महर्षि व्यास आते दिखाई दिए।

उन लोगों को देखकर युधिष्ठिर सबसे पहले रथ से उतरे और आचार्य धौम्य के चरण स्पर्श किए, फिर व्यासजी के। इसके बाद वे महाराज धृतराष्ट्र की ओर बढ़ गए और उनके पैर छूते हुए कहा, ''अरे, आपने आने का कष्ट क्यों किया? आपको तो विश्राम करना चाहिए।''

धृतराष्ट्र कुछ बोल नहीं पाए। उनकी बहती अंधी आँखों से लगा जैसे वे अपने पापों का प्रक्षालन कर रहे हों। अब धर्मराज सहारा देकर उन्हें ले चले।

''बेचारे एकदम टूट चुके हैं।'' हममें से किसीने कहा।

''अरे, अब तक इन्हें मर जाना चाहिए था; पर मरेंगे कैसे!'' भीम बोला, ''न जल्दी पापी मरता है और न जल्दी खंडहर ध्वस्त होता है।''

मुझे तो बड़ा बुरा लगा। मैंने वहीं डाँटा—''तुम्हें इस तरह बोलते हुए लज्जा नहीं आती! हजार बुरे होने पर भी वह तुम्हारे ताऊ हैं। जो हो गया, सो हो गया। उसे छाती से कब तक चिपकाए रहोगे?''

''जब तक मुझे याद आता रहेगा कि यह वही व्यक्ति है, जिसने अपने भ्रातृज को छाती से लगाने के लिए बुलाया और उसे चूर-चूर करने की चेष्टा की।''

''ऐसा सोचते रहोगे तो तुम कभी सुखी नहीं रहोगे।''

''यह तो आपने ही कहा है कि सुख और दुःख तुम्हारे हाथ में नहीं है।''

मैंने स्वयं बात बंद कर दी, इस दुर्विनीत के मुँह कौन लगे। मैं आगे बढ़ गया।

फिर हम लोगों ने महाराज से आग्रह किया कि अब आप विश्राम करें। हमारी बात का समर्थन व्यासजी ने भी किया और बोले, ''आपके परेशान होने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। पांडव यहाँ के लिए कोई नए नहीं हैं। वे तो अपने ही घर आए हैं।''

महाराज के चले जाने के बाद विदुरजी ने हमारी पूरी व्यवस्था की।

□

दूसरे दिन प्रातःकाल से ही राज्याभिषेक की तैयारी आरंभ हो गई। महर्षि

व्यास के निर्देश पर पुरोहित धौम्य ने परंपरानुसार अभिषेक की सामग्री जुटानी आरंभ की। राजसिंहासन के निकट तरह-तरह के रत्न, मृत्तिका और स्वर्ण के सर्वौषधयुक्त पात्र; सभी ऋतुओं, सभी सागरों और सभी नदियों के मिश्रित जल से भरे सोने, चाँदी, ताँबे और मिट्टी के घड़े तथा श्वेत पुष्प, अक्षत, मधु, घृत, गोरस, शमी, पीपल एवं पलाश की समिधाएँ आदि एकत्रित की गई थीं।

विधिवत् कर्मकांड के बाद युधिष्ठिर को महाराज धृतराष्ट्र ने अपना मुकुट पहनाया। द्रौपदी तुरंत मेरे पास आई। उसने एक नई समस्या उत्पन्न करने की चेष्टा की। उसे स्वीकार नहीं था कि युधिष्ठिर के सिर पर महाराज धृतराष्ट्र का मुकुट पहनाया जाए। वह चाहती थी कि महाराज वह मुकुट पहनें, जिसमें अश्वत्थामा के मस्तक की मणि लगाई गई है।

''यह मुकुट धृतराष्ट्र का नहीं है। यह मुकुट राजमुकुट है। इस सिंहासन पर बैठनेवालों के आदि पुरुष का है।'' मैंने कहा, ''चुपचाप वही होने दो, जो परंपरानुसार होता आया है।''

द्रौपदी ने फिर हठ पकड़ लिया।

इस बार मैंने उसे अच्छी फटकार सुनाई—''तुम्हारे हठ का तो यह परिणाम हुआ कि आर्यावर्त्त का सारा पौरुष भस्म हो गया। अब क्या चाहती हो कि यह सिंहासन भी जल उठे? जिस राजमुकुट में आचार्य या आचार्यपुत्र के मस्तक की मणि होगी, वह सिंहासन भभक उठेगा। राज्य में अकाल पड़ेगा, भूकंप आएगा और महामारी का प्रकोप होगा। राजा के पाप का फल प्रजा भोगेगी; क्योंकि आचार्य का अपमान करके कोई राजसत्ता या सामाजिक व्यवस्था कभी जी नहीं पाई है।''

उसका हठ तो समाप्त हुआ, पर उसकी लालसा बनी रही।

मैंने उसे विस्तार से समझाया—''वह मुकुट युधिष्ठिर का निजी है और यह मुकुट कुरुवंश का पैतृक। इस सिंहासन पर बैठनेवाला अनंतकाल से इसीको धारण करता आया है—और आज भी इसीको धारण करेगा।''

अब वह नरम पड़ी। अंत में उससे मैंने यह भी कहा, ''देखो, मुझसे यह बात कही तो कही, पर अब और किसीसे मत कहना। कहीं ऐसा कुछ आचार्यों के कानों में पड़ा तो अनर्थ हो जाएगा।''

वह चुपचाप चली गई।

ईशान दिशा की ओर वेदी बनाई गई। आचार्यों के मंत्रपाठ के बीच अभिषेक का कर्मकांड विधिवत् आरंभ हुआ। फिर समस्या आई कि आचार्यों के अभिषेक के

बाद प्रथम अभिषेक कौन करे ?

युधिष्ठिर ने मुझसे कहा, ''यह कार्य तो आपको ही संपन्न करना होगा।''

''पर इसे करता है परिवार का वृद्ध पुरुष।'' फिर वही समस्या आई। मैंने कहा, ''मैं तो आपके परिवार का भी नहीं—न वंश का और न गोत्र का। वय में भी आपसे छोटा। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा!''

''कहेगा क्या!'' युधिष्ठिर ने कहा, ''कहनेवालों ने तो आपकी अग्रपूजा का भी विरोध किया था।''

जब इस बात की भनक महाराज धृतराष्ट्र के कानों में पड़ी तब वे स्वयं ही बोल पड़े—''मेरी इच्छा है कि परिवार की ओर से प्रथम अभिषेक द्वारकाधीश ही करें।''

मैंने तुरंत पांचजन्य में अभिषेक जल लिया और राजसिंहासन पर बैठाते हुए युधिष्ठिर का अभिषेक किया। फिर पांचजन्य के शेष जल को वहाँ बैठे सभी लोगों पर छिड़का। फिर मैंने महाराज युधिष्ठिर के वाम पार्श्व में बैठी द्रौपदी की ओर मुसकराते हुए देखा। मेरी गंभीर मुसकराहट पिछली बात उसे याद दिला रही थी—'वही राजमुकुट सत्ता के वैभव की गरिमा को सुरक्षित रख सकता है, जिसपर आचार्य-पग की धूलि लगी हो, आचार्य या उसके पुत्र की मस्तक-मणि नहीं।''

इसके बाद महाराज युधिष्ठिर ने वहाँ उपस्थित अतिथियों और प्रजाजनों को संबोधित किया। प्रजा क्या थी, हस्तिनापुर के कुछ शेष बचे पुरुष और नारियों का मामूली समूह। अतिथियों के नाम पर आसपास के राज्यों के कुछ ही लोग थे, जिनमें मैं एकमात्र उद्धव को ही पहचानता था।

महाराज के उद्बोधन में इस महाविनाश और उसके प्रति पश्चात्ताप की ध्वनि आदि से अंत तक थी। उन्होंने आचार्यों, महाराज धृतराष्ट्र एवं मेरे जैसे लोग और प्रजाजनों का सम्मानजनक उद्बोधन करते हुए कहा—

''आप सबके आशीर्वाद और शुभाशंसा से आज मुझे हस्तिनापुर का सिंहासन मिला है। एक ऐसा सिंहासन, जो महानाश का केंद्रबिंदु बना; जो अनेक निरपराधियों के रक्त से अभिसिक्त है; जो विधवाओं और अनाथों के आँसुओं से भीगा है तथा उनकी आहों से निरंतर कंपित है; जिसकी गरिमा की सीमा एक विशाल खंडहर के स्वामी की प्रतिष्ठा से अधिक नहीं रह गई है। इन सबका अपराधी मैं हूँ। मैं जीवन भर इस अपराधबोध से मुक्त नहीं हो सकता।

''पर क्या करूँ, मैं भी मनुष्य हूँ। मनुष्य ने युद्ध कभी नहीं चाहा। उसकी मूल प्रवृत्ति युद्ध के विरुद्ध ही रही। फिर भी युद्ध का अस्तित्व धरती पर तब से है

जब से मनुष्य है—और तब तक रहेगा जब तक मनुष्य रहेगा; क्योंकि उसका अहंकार रहेगा, उसका द्वेष रहेगा, उसकी ईर्ष्या रहेगी, उसका लोभ रहेगा और रहेगी अनंत सुख की उसकी लिप्सा। शायद इन्हीं मानव प्रवृत्तियों का शिकार मैं भी बना और आज भी हूँ। अन्यथा मुझे संन्यस्थ हो जाना चाहिए।

''इस अवसर पर मैं दिवंगत आत्माओं को प्रणाम करता हूँ और अपने अपराध को स्वीकार करते हुए सबके प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ।''

इसके बाद उन्होंने सबके सहयोग की आकांक्षा व्यक्त करते हुए कहा, ''हमें पूरा विश्वास है कि भविष्य में भी सदा आपका सहयोग मिलता रहेगा। भगवान् की कृपा और आपके आशीर्वाद से पीड़ा की यह नाव आँसुओं की सरिता पार कर लेगी।''

और अंत में विदुरजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन्होंने धृतराष्ट्र के लिए कहा, ''हमें आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि ताऊजी की छत्रच्छाया हमपर सदा बनी रहेगी।''

इसके बाद थोड़ी-बहुत करतलध्वनि हुई, 'साधु-साधु' की आवाज उठी; पर यह मात्र एक औपचारिकता से अधिक और कुछ नहीं लगा।

मेरी बगल में बैठा भीम बुदबुदाया—''अभी तक ताऊजी की छत्रच्छाया का आपने कुछ अनुभव किया है और आगे भी करेंगे।''

मैंने फिर भीम का हाथ दबाया।

□

मेरे रहने की व्यवस्था पूर्व के दुःशासन महल में की गई थी। उसकी अद्भुत साज-सज्जा आज भी पुरानी नहीं पड़ी थी। उसको देखते ही मुझे आभास लग गया कि शल्य पर डोरा डालने के लिए उसके शिविर को कौरवों ने कितना सजाया होगा। मुझे भी मिलाने के लिए यह सजावट उस समय की गई थी, जब मैं शांति प्रस्ताव लेकर आया था।

आज कितने दिनों बाद हस्तिनापुर के राजभवन में रात बिताने जा रहा था।

राज्याभिषेक के समय मथुरा से अक्रूर चाचा और उद्धव आए थे; पर अक्रूर चाचा को मैंने पहले देखा नहीं। मुझे तो केवल उद्धव दिखाई दिया था।

उद्धव मेरी छाती से ऐसा लगा कि वह मुझे छोड़ना ही नहीं चाहता था। वस्तुतः मेरा बचपन लौट आया था। मेरी सारी स्मृतियाँ उभर आई थीं। यह दो ऐसे वृक्षों का मिलन था, जो साथ-साथ उगे और साथ-ही-साथ पनपे थे; पर काल देवता ने एक को उखाड़कर समुद्र में फेंक दिया था। वह पता नहीं, वहाँ भी कैसे

जम गया था। हमारे हृदयों ने स्थान की दूरी को कभी स्वीकार नहीं किया। जो पहले भी निकटतम था, वही आज सीने से लगा था।

यद्यपि उद्धव के रहने की व्यवस्था दूसरे स्थान पर की गई थी, फिर भी मैंने उसे अपने पास ही बुला लिया था। वह रात पुरानी स्मृतियों में डूब गई।

मैंने उससे मथुरा का हाल पूछा। वृंदावन की सूचना ली।

उसने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा, ''क्या मथुरा-वृंदावन अब भी तुम्हें याद है?''

''क्या बात करते हो! वह याद ही नहीं, हर क्षण हृदय में बसा रहता है। जब कभी एकांत में बैठता हूँ, उसकी स्मृति मेरे मस्तिष्क पर छा जाती है। फिर मैं अनेक सुनसान पलों को उसीके साथ जीता हूँ।''

''पर गोपियाँ कहती हैं कि श्याम जैसा निष्ठुर व्यक्ति हमने नहीं देखा। जब से वे यहाँ से गए हैं तब से आना तो दूर, हमारी सुधि तक नहीं ली है। द्रौपदी की एक पुकार पर वे द्वारका से हस्तिनापुर आ सकते थे, पर उन्होंने मथुरा में रहकर भी—जो यहाँ से मात्र एक योजन दूर है—कभी पधारने की कृपा नहीं की।''

''मैं यदि वृंदावन नहीं गया तो कौन कहे कि वही मथुरा चली आई थीं।''

उद्धव मेरी बात पर जोर से हँसा और बोला, ''प्रेमी भिक्षा नहीं, प्रतिदान माँगता है। वह समर्पित हो सकता है, पर दास नहीं होता। दासता भी करना उसे स्वीकार है, पर क्रीत दासता उसे पसंद नहीं। प्रेम तो हृदय का सौदा है, वह बराबर का सौदा है। आग दोनों ओर बराबर लगनी चाहिए। यदि किसी ओर से आकर्षण है तो प्रत्याकर्षण होना चाहिए। प्रेमी चरणों पर सिर तो रख सकता है, पर पत्थर पर सिर नहीं मार सकता।'' उसने मुसकराते हुए कहा, ''यदि आप एक बार वृंदावन चले जाते तो गोपियाँ दस बार मथुरा आतीं।''

मैं निरुत्तर था। क्या कहता! चुपचाप उद्धव को सुनता रहा।

''इतना होने पर भी वे आपसे नाराज नहीं हैं। उनका कोई उलाहना नहीं। इसे वे अपने कर्मों का फल ही समझती हैं और श्रद्धा से आपकी स्मृति हृदय से लगाए जी रही हैं।''

''उनकी स्मृति तो मेरे हृदय में भी है।''

उद्धव फिर हँसा। बोला, ''होगी आपके हृदय में; पर उसी हृदय में राजनीति भी होगी, कूटनीति भी होगी, मेरा-तेरा भी होगा, सत्ता-संघर्ष भी होगा। गोपियों की स्मृति तो हृदय के किसी कोने में पड़ी होगी। जब कभी आप सांसारिकता से मुक्त होते होंगे, अकेलेपन की एकांतता बोझिल लगने लगती होगी,

तब मन बहलाने के लिए उनकी स्मृतियाँ निकल आती होंगी और आपका सिर सहलाते हुए सुला देने भर का कार्य करती होंगी।''

मैंने सोचा कि बात लगभग ठीक है। फिर भी मैंने कहा, ''ऐसा नहीं हो सकता कि सारी सांसारिकता बस मेरे ही पास है और वे सांसारिकता से मुक्त होंगी। उन्हें भी जब जगत् की जटिलताएँ अवश कर देती होंगी, तभी मेरी याद आती होगी।''

''ऐसा नहीं है। उनकी मानसिकता का अनुमान यहाँ से बैठकर लगाया नहीं जा सकता।'' उद्धव बोला, ''वे आपकी स्मृति को जाने ही नहीं देतीं। किसी और को न सोचती हैं, न देखती हैं। उनकी आँखों के सामने हर क्षण आप ही रहते हैं।''

''मुझे नहीं लगता कि कोई संसार में रहकर भी सदा के लिए संसार से मुक्त हो। थोड़े समय के लिए तो हो सकता है, पर हर सांसारिक के लिए संसार से दूर होना बड़ा कठिन है।''

''पर वे संसारी होकर भी संसारी नहीं हैं, देही होकर भी विदेही हैं। यह स्थिति कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं। वे सोते-जागते, उठते-बैठते बस आपका ही नाम जपती हैं। आपकी छवि सदा उनके समक्ष रहती है। आपका कोई-न-कोई प्रतीक बड़े पूज्यभाव से अपने पास रखती हैं। किसीके पास आपकी मुरली है, किसीके पास आपकी माला है—यदि पूरी माला नहीं तो उसका मनका ही सही। किसीके पास आपका पीतांबर है—यदि पूरा नहीं तो उसका एक टुकड़ा ही सही। किसीने अपनी वह चोली सुरक्षित रखी है, जिसे कभी आपने खींचकर फाड़ा था। किसीके पास उन कुंज-लताओं की पत्तियाँ हैं, भले ही वे सूख गई हैं, जहाँ आपने केलिक्रीड़ाएँ की थीं। और नहीं तो उस स्थान की धूल तो है ही, जहाँ प्रेम के ताल पर आपने उनके साथ नृत्य किया था।''

उद्धव ज्यों-ज्यों बोलता गया, मैं रोमांचित होता गया। मेरा मन विचलित हो गया। इतना करने पर भी मैंने कभी अपने को युद्धापराधी नहीं समझा; पर इस समय मुझे लगा कि मैं प्रेमापराधी हूँ—बहुत बड़ा प्रेमापराधी।

इस अंतहीन कथा का सिलसिला कहाँ टूटा, पता नहीं। इस बीच नींद ने मुझे अपने प्रभाव में ले लिया। स्वप्न में भी वही सब देखता रहा। माघ का थरथराता शीत जब सवेरे की किरणों से हलका पड़ा तब आँखें खुलीं। उद्धव मुझसे बहुत पहले जाग गया था। मैं आस्तरण पर ही मौन पड़ा रहा।

उद्धव ने पूछा, ''क्या सोच रहे हैं?''

"सोचता हूँ कि गोपियों के प्रेम का प्रतिदान मैं न दे सका। कितना अभागा हूँ! पर विश्वास मानो, मेरे भीतर उनसे कम छटपटाहट नहीं होती। मैं तो उस पक्षी की तरह हूँ, जो हर क्षण उड़कर उनके पास पहुँचना चाहता है; पर जिसके पंख हमेशा परिस्थितियाँ काटती रहती हैं। यही समझो कि मैं पिछले कई दिनों से द्वारका लौटना चाहता हूँ; पर प्रतिदिन कोई-न-कोई नई समस्या आ जाती है।"

इसी क्रम में मैंने आज के आर्यावर्त्त की स्थिति बताई और कहा, "हस्तिनापुर कुरुक्षेत्र में जल गया। अभी भी उसका ताजा धुआँ लोगों की आँखों से बह रहा है। उधर प्रभास में आग लगी है—एक शापित आग, जिसे बुझाया नहीं जा सकता। यादव बुरी तरह भस्म हो रहे हैं। यह आग भी मेरे परिवार के कुकर्मों का फल है। मैं वहाँ भी जाना चाहता हूँ; पर अभी तो कुछ भी संभव नहीं लगता।"

तब तक एक दूत आया। उसने सूचना दी कि राजमाता गांधारी आपको स्मरण कर रही हैं। एक बार तो मेरा मस्तिष्क चकराया। गांधारी किसी विषम स्थिति में ही मुझे बुलाती थी। अवश्य कोई विशेष बात है। मैं जैसे था वैसे ही चल पड़ा। मेरी गति भी तेज थी। जिन्होंने मुझे इस तरह देखा होगा, वे अवश्य चकित हो गए होंगे।

गांधारी के कक्ष में आज युद्ध में मारे गए कई राजाओं की विधवाएँ एकत्र हुई थीं। मैं अभी कक्ष से दूर ही था कि उनके रोने की समवेत ध्वनि सुनाई दी, तो अवंतिराज, कर्ण, बृहद्वल आदि की पत्नियाँ मेरे पहचान की थीं। इनमें सबसे अधिक दुःखी दुःशला और कृपी लगीं। दोनों पछाड़ खा-खाकर रो रही थीं।

मेरे पहुँचते ही गांधारी ने प्रश्न किया। उनकी ध्वनि में क्रोध की ऊष्मा थी। मैं घबराया, हे भगवान्, क्या होने वाला है? क्योंकि मैं अपने पापों और गांधारी के क्रोध से सबसे अधिक घबराता था।

उसने पूछा, "तुम इन्हें पहचानते हो?"

मैं धीरे से बोला, "जी, पहचानता तो हूँ।"

"तो यह भी जानते होगे कि ये इतनी कातर और दुःखी क्यों हैं!" उनका स्वर आरोह पर था—"इन सबके पति युद्धस्थल में मारे गए हैं। ये सब तुमसे पूछती हैं कि आखिर इनका दोष क्या था कि इन्हें इस असमय में वैधव्य स्वीकार करना पड़ा?"

वह बोलती गई—"यह मेरी बेटी दुःशला है। यह मेरे रहते ही विधवा हो गई। मेरे सौ बेटे थे, अंधे की लकड़ी थे। आज उनमें से एक भी नहीं रहा। अब मैं उनमें से किसका सहारा लूँगी? कम-से-कम एक को तो छोड़ दिया होता, जिसके

सहारे मैं शेष जीवन जी लेती।

"यदि तुम कहो कि युयुत्सु को छोड़ दिया है, तो युयुत्सु को तुमने छोड़ा नहीं, वह स्वयं बच गया है। अपनी योग्यता या कायरता से, इसका निश्चय तो भविष्य करेगा। मेरी बात तो जाने दो। मैं तो उसी दिन से कुरुवंश का विनाश देखने लगी थी, जिस दिन तुम संधि का प्रस्ताव लेकर आए थे और तुम्हें बंदी बनाने की कुचेष्टा की गई थी। तब से मैं अपने अधैर्य को चबाती और आँसुओं को पीती रही।"

वह कहती गई—"मैं तो किसी प्रकार जी लूँगी, पर मैं इन्हें क्या उत्तर दूँ? ये कृपी हैं। कौरवों और पांडवों—दोनों की गुरुमाता। इनका कहना है कि मैं तो विधवा हो ही गई, मेरे एकमात्र पुत्र की मस्तक की मणि निकालकर पागलों की तरह भटकने के लिए छोड़ दिया गया।"

"कल महाराज युधिष्ठिर ने सिंहासन पद से दिए गए भाषण में बहुत कुछ कहा है।" मैं बड़ी दबी हुई आवाज में बोला।

"पर उससे इन्हें संतोष हो नहीं पा रहा है। इनका मन नहीं मान रहा है। व्यासजी ने भी इन्हें बहुत समझाया; पर वे भी इनके आँसू पोंछ नहीं पाए।"

ऐसा नहीं था कि मैं निरुत्तर था। मैंने एक बार नहीं, अनेक बार इन शंकाओं का समाधान किया था; किंतु इस समय गांधारी की तेजस्विता के समक्ष मैं कुछ बोल नहीं पा रहा था।

मैंने सारा साहस बटोरकर कहा, "जिनके आँसू कोई नहीं पोंछ पाता, समय उनके आँसू पोंछ देता है, बुआजी! मनुष्य किसी और का नहीं, अपने ही कर्मों का फल पाता है।"

"तो तुम क्या इस सिद्धांत के ऊपर हो? तुम क्या अपने कर्मों का फल नहीं पाओगे?" उसने अपने क्रोध का अग्निबाण मुझपर चलाया।

मेरे पैर की धरती खिसकने लगी। मुझे लगा कि अगला शब्द बस 'शाप' का होगा। मैं आँखें बंद कर उसे सुनने के लिए तैयार हो गया; पर वह चुप हो गई। ऐसा लगा कि कंठ तक आए शब्द को उसने पुनः नीचे ढकेल दिया।

"तुम तो बड़ी दार्शनिक मुद्रा में कहते थे न कि न कोई मारता है और न कोई मरता है!"

"वह तो अब भी कहता हूँ।"

"इतने लोग जो मारे गए हैं, वे वस्तुतः मरे नहीं हैं?"

"मैं तो आज भी अपने वक्तव्य पर दृढ़ हूँ।"

"तो तुम क्या मेरे मरे पुत्रों को मुझे दिखा सकते हो?"

मैं क्या उत्तर दूँ? कुछ सोचने लगा।

जरा सा चुप होते ही गांधारी ने फिर टोका।

तब मैंने कहा, "यदि आपमें प्रगाढ़ इच्छा शक्ति होगी तो आप उन्हें अवश्य देख लेंगी।"

"एक माँ के मन में अपने मरे पुत्रों को जीवित देखने की भला इच्छा शक्ति नहीं होगी! कैसी बात करते हो!"

"यह विषय आपका है, मेरा नहीं है।" इस वार्त्ताक्रम में मैं पहली बार मुसकराया।

उसपर मेरी मुसकराहट का प्रभाव पड़ा और वह बड़ी चमत्कृत दृष्टि से मुझे देखने लगी। फिर बड़े सामान्य ढंग से बोली, "अच्छा, तो कुरुक्षेत्र में मेरे साथ अभी चलकर मेरे पुत्रों को दिखा सकते हो?"

"हाँ, दिखा सकता हूँ; पर एक शर्त है। आपको मेरे साथ अकेले चलना पड़ेगा।"

"तुम क्या कई लोगों के साथ चलोगे?"

"नहीं, मैं भी अकेला रहूँगा और आप भी अकेली रहेंगी।" मैंने उसका विश्वास और भी दृढ़ करने के लिए कहा, "और मैं अपने ही रथ पर चलूँगा।"

इसके बाद मैंने अपना रथ ठीक करने का आदेश दिया और अपने कक्ष में वस्त्र बदलने चला आया। यहाँ उद्धव मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।

उसने कहा, "बड़ी देर लगा दी। सब कुशल तो है न? ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा था, मेरी घबराहट भी बढ़ती जा रही थी।"

"बात कुछ घबरानेवाली ही है।" मैंने कहा, "यदि ईश्वर ने चाहा तो सब ठीक हो जाएगा।"

जब मैं चला तो दिन के दो प्रहर बीत चले थे। पर सूर्य अभी मध्याकाश में नहीं आया था। दक्षिण की ओर झुके सूर्य के कारण मेरे रथ की छाया उत्तर की ओर बहुत छोटी हो गई थी।

शीघ्र ही हम कुरुक्षेत्र में पहुँचे। न यहाँ आज गिद्ध थे, न श्रृगाल, न कुत्ते। धरती पर गिद्धभोज की जूठी पत्तलों की तरह योद्धाओं की हड्डियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हुई थीं।

कुरुक्षेत्र के पुराने पीपल के वृक्ष के नीचे खड़े होकर मैंने कहा, "बुआजी, आप तैयार हैं न? आपकी इच्छा शक्ति में ज्यों-ज्यों दृढ़ता आती जाएगी, आपके पुत्र

आपके सामने आते जाएँगे।''

''क्या बात करते हो! मेरा मन उन्हें देखने के लिए लालायित है।''

''तो यह देखिए, दुर्योधन है, दुःशासन है, दुःशल है, विकर्ण है···।'' मैंने एक-एक कर धृतराष्ट्रपुत्रों का नाम लेना शुरू किया।

अब गांधारी ने अपनी आँखों पर हमेशा से बँधी पट्टी खोलनी शुरू की।

''हें, हें, हें! यह क्या कर रही हैं?'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''जिस पट्टी को आपने जीवन भर नहीं हटाया, उसे इस समय हटाकर संकल्पभ्रष्ट क्यों होना चाहती हैं?''

''यदि पुत्र-दर्शन के लिए संकल्पभ्रष्ट भी होना पड़े तो मैं होऊँगी!''

''पर क्यों?''

''मैंने कहा न कि पुत्र-दर्शन के लिए।''

''जीवन भर जिन्हें आपने बंद आँखों से देखा है, उन्हें क्या आज खुली आँखों से देख सकेंगी?''

''यदि आँखें खोलूँगी नहीं तो उनका शरीर कैसे दिखाई पड़ेगा?''

''तब आप यह कहिए कि आप अपने पुत्रों को नहीं, उनका शरीर देखना चाहती हैं।'' मैंने कहा, ''पुत्रों के शरीर तो आपके पुत्र नहीं हैं। हाथ, पैर, नाक, कान, आँखें आदि सब आपके पुत्रों के हैं; पर आपके पुत्र नहीं हैं। आपने तो मुझसे अपने पुत्रों को देखने की इच्छा व्यक्त की थी!''

इतना सुनते ही गांधारी गंभीर हो गई।

''पर मैं तो अपने पुत्रों को सशरीर देखना चाहती हूँ; क्योंकि मोह और ममता उनके शरीर से ही है।''

''वह नष्ट होनेवाला था, नष्ट हो गया।'' मैंने कहा, ''इसीलिए उनके शरीर के साथ ही आपका मोह भी नष्ट हो जाना चाहिए। यदि अभी तक नहीं हुआ है तो कालांतर में नष्ट हो जाएगा।''

वह सोचने लगी। फिर अचानक भभक उठी—''यहाँ मैं तुमसे विषादयोग की शिक्षा लेने नहीं आई हूँ! फिर ज्ञान बुद्धि का मामला है और मोह हृदय का। दोनों के कार्यक्षेत्र अलग हैं, दोनों का प्रभाव अलग है। जब गोपियों से ऐसी ही बात उद्धव ने कही थी, तब उसके ज्ञान को उन वियोगिनियों ने धूल में मिला दिया था। आज भी तुम्हारा यह ज्ञान विधवाओं के आँसुओं में बह जाएगा।'' इतना कहते-कहते उसका आक्रोश अचानक और बढ़ा—''सबको छलनेवाले! तुम मुझे यहाँ लाकर छल न सकोगे। जाओ, मैं शाप देती हूँ—जैसे हमारा वंश आपस में

लड़कर समाप्त हुआ वैसे शीघ्र ही तुम्हारा भी वंश आपस में लड़कर समाप्त हो जाएगा—और तुम भी एक अकिंचन एवं निस्सहाय की मृत्यु मरोगे।''

''आपने कोई नया आशीर्वाद नहीं दिया है। यह आशीर्वाद महर्षि दुर्वासा मुझे दे चुके हैं।'' मैं हँसा और मैंने फिर अपनी बात दुहराई—''मरनेवाला मैं नहीं, मेरा शरीर होगा। उसे तो किसी-न-किसी दिन मरना ही है। फिर वह आज मरे या कल, क्या अंतर पड़ता है!''

इतना कहते ही मैंने जोर से अट्टहास किया। गांधारी अवाक् रह गई।

□

जब मैं लौटा, मध्याह्न ढल चुका था। मेरे कक्ष में उद्धव, छंदक और अर्जुन मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। दो को तो मालूम था कि मैं गांधारी के साथ गया था, पर किसलिए और किस काम से, इसका उन्हें ज्ञान न था। अर्जुन हम लोगों को भोजन के लिए बुलाने आया था। जब उसने सुना तो वह भी बैठ गया।

मेरा मन तो दुःखी था ही; पर तीनों को देखकर मैंने प्रसन्न मुद्रा बना ली।

''बात क्या थी?'' लोगों का सामूहिक प्रश्न था।

''बात बहुत थी और कुछ भी नहीं थी।'' मैंने नितांत रहस्यमय उत्तर दिया।

वे इस विषय में और कुछ पूछें, इसके पहले ही महाराज युधिष्ठिर का दूत आ गया। उसने कहा कि महाराज भोजन पर आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मैं तुरंत चल पड़ा और मेरे साथ अन्य लोग भी। भोजनालय में आकर देखा कि सभी भोजन पर बैठ चुके हैं। पांडव परिवार के अतिरिक्त धृतराष्ट्र, विदुर चाचा आदि भी। मैंने देखा कि इस बृहत्तर परिवार में कहीं गांधारी नहीं है।

मैंने तुरंत कहा, ''गांधारी बुआ नहीं दिखाई दे रही हैं।''

''उनकी थाली ताऊजी की बगल में लगा दी गई है। उन्हें बुलवाया भी गया है; पर वे नहीं आई हैं!''

''क्यों?''

''उनका कहना है कि आज उन्हें भूख नहीं है। वह कहीं गई थीं। लौटने पर काफी थकी दिखाई दी हैं।'' दूत ने सूचना दी।

''तब मुझे भी भूख नहीं लगी है।'' इतना कहकर मैं खड़ा हो गया।

लोग सकते में आ गए।

बिना किसीको लिये और बिना कुछ कहे मैं सीधे गांधारी के कक्ष में पहुँचा। गांधारी शय्या पर औंधी पड़ी सिसक रही थी। मेरी आवाज सुनते ही उसने अपना मुख और भी छिपाने की कोशिश की; पर मैं माननेवाला कब था। मैंने एकदम

उसे अपनी गोद में उठा लिया।

अब वह लगी फूट-फूटकर रोने। बोली, ''मैंने तुम्हारे साथ बड़ा भारी पाप किया है।''

मैंने उसे सांत्वना दी—''न कुछ पुण्य है और न कुछ पाप है। हमारे भीतर अहंकार के आस्तरण पर कुंडली मारकर बैठा एक आक्रोश का साँप है। जब वह फुफकारता है तब पापकर्मों की ज्वाला उगलता है। पहले हमारा विवेक जलता है तथा फिर उसी आग में औरों को भी जलाता है। जब वह साँप फिर शांत होकर सो जाता है तब हम पश्चात्ताप के आँसुओं में डूब जाते हैं।''

गांधारी की सिसकन बंद नहीं हुई, पर आँसू कुछ अवश्य थम गए। मैंने उसका मुख धुलाया और कंधों का सहारा देकर उसे भोजनालय में ले गया।

लोग अब तक प्रतीक्षा में बैठे रहे। उन्हें जैसे विश्वास हो गया था कि मैं गांधारी को लेकर ही आऊँगा। और जब मैं सचमुच गांधारी को लेकर पहुँचा, लोगों की बाँछें खिल गईं।

गांधारी चुपचाप आकर महाराज की बगल में बैठ गई। भोजन शुरू हुआ। मैंने बातों-बातों में हस्तिनापुर से प्रस्थान करने की चर्चा चला दी। मैंने हर बात विस्तार से बताई कि मेरा यहाँ से जाना क्यों जरूरी है। इसी क्रम में प्रभास में यादवों के युद्ध और सांब के शाप की भी चर्चा आई। देखते-ही-देखते भोजन पर के खिलखिलाते वातावरण पर सन्नाटे की छाया पड़ गई। महाराज युधिष्ठिर ने तो जैसे भोजन करना ही बंद कर दिया। हम लोगों का साथ देने मात्र के लिए कुछ चुगते रहे।

''तुम चले जाओगे तो यहाँ रह कौन जाएगा?'' महाराज धृतराष्ट्र बोले।

''अरे, आप कैसी बात करते हैं!'' मैंने कहा, ''आप सब तो हैं ही। फिर किसी-न-किसी दिन तो मुझे जाना ही है।''

फिर कोई कुछ नहीं बोला। सभी मौन। सबकी आकृति गंभीर। इसी मौन के वातावरण में भोजन समाप्त हुआ।

कक्ष में आने के बाद छंदक ने कहा, ''आप चाहे जितना हाथ-पैर मारें, पर अभी आपको कोई छोड़ना नहीं चाहता।''

''पर परिस्थिति मुझे हस्तिनापुर छोड़ने के लिए विवश कर रही है। अब मेरे लिए एक-एक क्षण यहाँ भारी पड़ रहा है। रह मैं यहाँ रहा हूँ, पर मेरा मन हमेशा द्वारका में ही रहता है।''

''यही मैं सोच रहा था कि उस मन को वृंदावन जाने का अवकाश क्यों नहीं

मिलता!'' उद्धव ने चुटकी ली।

''वृंदावन तो सदा मुझमें रहता है। राधा सदा उसीमें विहार करती है। उसके लिए मुझे कहीं जाने की आवश्यकता ही नहीं है।''

''आपका मन भी एक अद्‌भुत प्रेमिकाओं की सराय है, जहाँ राधा भी है, कुब्जा भी; ललिता भी है, रुक्मिणी भी; सत्यभामा भी है, जांबवती भी—और हैं वे सारी भाव पत्नियाँ, जिन्हें नरकासुर का वध करके आप लाए थे।'' उद्धव बोला।

''सराय नहीं, प्रेमिकाओं का राजभवन कहो। और राधा उस राजभवन की पट्‌टमहिषी है, मेरी स्मृतियों की बस्ती की रानी है। उसके बिना न मैं पूरा होता हूँ और न मेरा नाम पूरा होता है। वंशी तो एक बार छूट भी सकती है, पर राधा नहीं।''

उद्धव से यह आनंददायक बात चल ही रही थी कि सूचना मिली—'महाराज धृतराष्ट्र ने आपको स्मरण किया है। सुविधानुसार मिल लें।'

''कभी गांधारी स्मरण करती हैं और कभी महाराज धृतराष्ट्र। आखिर बात क्या है? फिर भी यहाँ से निकल भागने की बात सोचते हो!'' उद्धव ने फिर चुटकी ली और मेरी वास्तविकता का बोध कराया—''तुम तो सोने के पिजड़े में बंद एक पक्षी हो, जिसका स्वामी उसे प्राणों से अधिक चाहता है।''

मैं केवल मुसकराता रहा।

थोड़ी देर बाद मैं धृतराष्ट्र के महल की ओर चल पड़ा। मैंने अर्जुन से भी साथ चलने का निवेदन किया। वह तैयार भी हो गया; पर उसने कहा, ''मैं साथ चल तो सकता हूँ, पर वहाँ बुलाया गया है आपको। मेरा चलना क्या उचित होगा? यदि चलूँगा भी तो मैं उनके कक्ष में नहीं जाऊँगा।''

यही हुआ। अर्जुन गया तो, पर वह बाहर ही रह गया और मैंने प्रवेश किया। महाराज बड़ी चिंतित मुद्रा में अकेले बैठे रहे। मेरे पहुँचने की सूचना मिलने पर उन्होंने अपने सेवक और सेविकाओं को भी हटा दिया। फिर बड़ी गंभीरता से बोले, ''तुम क्या सचमुच चले जाओगे?''

मैंने अपनी लाचारी बताई और कहा, ''जाने की मेरी इच्छा तो नहीं थी। विवशतावश जाना पड़ रहा है।''

''किंतु यहाँ अभी तुम्हारी बड़ी आवश्यकता है। मेरा तो कहना है कि कुछ दिनों और रह जाते तो अच्छा होता।''

मैं मौन रह गया। मेरी वह मूकता मेरी विवशता को ही व्यक्त कर रही थी।

अब महाराज कुछ और खुले—''तातश्री पहले ही चले गए। अब तुम भी जा रहे हो। फिर मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा? सोचता हूँ, मैं भी हस्तिनापुर छोड़ दूँ

और अरण्यवासी हो जाऊँ।"

"अरे, यह आप क्या सोच रहे हैं! जब मैं चला जाऊँगा और आप भी नहीं रहेंगे, तब तो पांडव अनाथ हो जाएँगे। वे बिना आपकी छत्रच्छाया के नहीं रह सकते। वे आपको पितृवत् मानते भी हैं। यदि कोई कष्ट हो तो बताएँ।"

"कष्ट तो कुछ भी नहीं है। वे हमें मानते भी हैं।" उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा, "पर कभी-कभी हमें भी अपनी करनी का फल भोगना पड़ता है। पर इसमें किसीका क्या दोष!"

मैंने सोचा, कोई बात अवश्य है, जिसकी चोट धृतराष्ट्र को लगी है; पर पूछूँ भी तो कैसे पूछूँ? मैंने कहा, "अब तो पिछली बातें भूलनी ही पड़ेंगी। उन्हें जितना सोचिएगा उतना ही कष्ट पाइएगा।"

"मैं तो बहुत भूलने की चेष्टा करता हूँ। भूलता भी हूँ, पर बीच-बीच में कुछ ऐसी बातें हो जाती हैं कि वे याद हो आती हैं।"

इस संदर्भ में मैंने बहुत पूछा, पर वे हर बार टाल गए। कई बार तो ऐसा लगा कि वे बताना चाहकर भी बता नहीं पा रहे हैं। ज्यों-ज्यों वे छिपाने की चेष्टा करते, मेरी जिज्ञासा बढ़ती जाती।

अंत में उन्हें कहना ही पड़ा—"पांडवों से हमें कोई शिकायत नहीं है। सभी मेरी बड़ी चिंता करते हैं। शायद मेरे पुत्रों से अधिक ही मेरा ध्यान रखते हैं। पर कभी-कभी भीम ऐसा बोल देता है कि जी तिलमिला जाता है। उसके व्यंग्य बाण मर्म पर लगते हैं।"

"आप इसकी चिंता न करें। मैं उसकी व्यवस्था करता हूँ।"

"नहीं-नहीं, ऐसा कुछ मत करना, कन्हैया!" उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा, "हम लोगों ने तुम्हारी बातें जो नहीं मानीं, यह उसीका फल है। तुमने कहा था कि प्रतिशोध का कभी अंत नहीं होता। एक प्रतिशोध दूसरे को जन्म देता है। मैंने अंतिम रूप से अपना प्रतिशोध भीम से निकालना चाहा। ऐन मौके पर तुमने लौह का भीम खड़ा कर दिया। मेरा प्रतिशोध तो उस लौह के भीम से हार गया। अब वह उसीका प्रतिशोध मुझसे निकाल रहा है। मैं चुपचाप उसका हर व्यंग्य बाण सहूँगा। आखिर कभी तो उसका तरकश खाली होगा।"

मैं मौन हो गया। फिर भी सोचता रहा कि इसके लिए कुछ करना पड़ेगा।

"मेरा तो आग्रह है, कन्हैया, अभी कुछ दिन और तुम हस्तिनापुर में रह जाओ। पांडवों के लिए ही नहीं, मेरे लिए भी तुम्हारी आवश्यकता है।"

अब मैं सोच में पड़ गया। वहाँ से आकर मैंने मित्रों से इसकी चर्चा की।

उनका भी कहना था कि इस समय महाराज धृतराष्ट्र के आग्रह की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वे वयोवृद्ध हैं, शरीर और मन दोनों स्तरों पर काफी टूटे हुए हैं।

अब मैं विचित्र द्विविधा में पड़ा। एक ओर यादवी युद्ध का भयंकर तांडव, दूसरी ओर उत्तरदायी शासन के अभाव में अनाथों की तरह पड़ी द्वारका। करूँ तो क्या करूँ? मैंने छंदक को समझाया कि अब एक ही बात हो सकती है कि तुम प्रभास चले जाओ और वहाँ की स्थिति का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करते हुए मुझे सूचना दो।

उसने मेरी बात मान ली और दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में अपनी यात्रा आरंभ की। मैं उसे हस्तिनापुर के नगर द्वार तक छोड़ने गया और उधर से विदुरजी के आवास की ओर भी मुड़ गया। वे अभी-अभी पूजा से उठे थे। जलपान करने जा रहे थे। मुझे भी वहीं बैठा लिया। मैंने उनसे अपने मन की द्विविधा कही। सारी स्थिति विस्तार से स्पष्ट की। उन्होंने स्वीकारा कि तुमने छंदक को भेजकर अच्छा किया। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पास और कोई विकल्प ही नहीं था।

भीम के व्यवहार से वे भी बड़े दुःखी लगे। उनको आश्चर्य था कि महाराज धृतराष्ट्र ने इसकी चर्चा किसीसे नहीं की और न किसीको आभास तक होने दिया। शायद गांधारी से भी नहीं।

''गांधारी बुआ ने आपसे कुछ कहा है?'' मैंने शापवाले संदर्भ में जानना चाहा।

''कोई विशेष बात तो नहीं कही।'' विदुरजी बोले, ''आजकल पता नहीं क्यों, वे पहले जैसी फिर दुःखी रहने लगी हैं।''

मैंने समझ लिया कि वह भी शाप के पश्चात्ताप का कड़ुवा घूँट पी रही हैं। विचित्र स्थिति है। पति-पत्नी दोनों भीतर-ही-भीतर दुःखी हैं—कोई किसी कारण से, कोई किसी कारण से।

विदुरजी ने एक नई बात और बताई—''सुना है, पांडव अश्वमेध यज्ञ करना चाहते हैं।''

''पर इसकी सूचना मुझे नहीं है। अश्वमेध करने की इच्छा उनमें उसी समय थी, जब उन्होंने राजसूय यज्ञ किया था। फिर इसके बाद से वे उलझते चले आए हैं। अब यदि महाराज युधिष्ठिर ने सोचा हो तो आश्चर्य नहीं है।''

''यह सोच महाराज युधिष्ठिर का नहीं है।'' विदुरजी ने बताया—''यह सोच भी भीम का है। वे तो संप्रति इसके विरोधी हैं। उनका कहना है कि विनाश की इस सीमा पर अश्वमेध यज्ञ करना उचित नहीं है।''

"महाराज युधिष्ठिर का सोचना ठीक है।" मैंने कहा, "पर यह दृष्टि उनकी ही हो सकती है। सामान्य व्यक्ति की प्रकृति कुछ दूसरी ही होती है—और भीम तो सामान्य में भी सामान्य है।"

विदुरजी ने इसपर कुछ नहीं कहा। वे मौन रह गए।

अब मैं सोचने लगा कि इच्छाओं का कोई अंत नहीं। एक इच्छा पूरी हुई नहीं कि तुरंत दूसरी ने जन्म लिया। अब हस्तिनापुर का सिंहासन मिला तो अश्वमेध दिखाई पड़ने लगा। मानव लिप्सा का यह अंतहीन सिलसिला है। जो इस मरीचिका के पीछे दौड़ा, अंत में मरीचिका ही उसे निगल गई।

□

मैंने तो किसीसे कुछ नहीं कहा, पर यह बात दूसरे ही दिन अरण्याग्नि की तरह फैल गई कि मैं शापित हो चुका हूँ।

उद्धव ने कहा, "तुमने यह मुझे भी नहीं बताया।" उसने व्यंग्य भी किया—"तुम्हारा पेट कुंती बुआ से भी गहरा है!"

अर्जुन तो यह सुनते ही हक्का-बक्का रह गया। वह सुभद्रा के कक्ष में जाकर आस्तरण पर निढाल हो गया। मुझे शीघ्र ही महाराज युधिष्ठिर के यहाँ बुलाया गया। जो दूत मुझे लेने आया था, वह भी चिंतित लगा।

उसका कहना था—"राजप्रासाद अभी कुछ समय पूर्व अश्वमेध की योजना बनाने में व्यस्त था। आपके शापित होने के समाचार से उसकी प्रसन्नता पर तुषारपात हो गया।"

मैंने उस दूत से पूछा, "यह सब महाराज को कैसे ज्ञात हुआ?"

"उन्होंने भी कहीं से उड़ती खबर पाई है। शायद वे आपसे ही इसकी प्रामाणिकता जानना चाहते हैं।" दूत ने कहा।

जब मैं युधिष्ठिर के कक्ष में पहुँचा तब वे सिंहासन के सामने ही नितांत चिंतित मुद्रा में टहल रहे थे। मेरे पहुँचते ही उन्होंने पूछा, "जो सब सुन रहा हूँ, क्या वह सत्य है?"

"जब धुआँ है तो अग्नि भी कहीं-न-कहीं होगी ही।" मैंने बड़े सहजभाव से मुसकराते हुए कहा, "पर इसमें चिंतित होने की क्या बात है? यह तो मेरे जीवन का पश्चात्ताप और शाप पर्व है। पश्चात्ताप तो मैं कभी करता ही नहीं; क्योंकि पश्चात्ताप तो किसी भूल रूपी बीज का वृक्ष है। जब मैं स्वयं कर्ता नहीं तो भूल मुझसे क्या होगी! कर्ता तो कोई और है, मैं तो उसका 'करण' हूँ, माध्यम हूँ। जिसके लिए मैं माध्यम बना, यह शाप भी वही भोगेगा।"

विभिन्न स्थानों पर कही हुई बात को उन्होंने पुनः दुहराया—"तुम्हारे इस दर्शन की पहुँच तो बुद्धि तक है, कन्हैया! हृदय को यह छू नहीं पाता। मेरा हृदय तो यही मानता है कि इस शाप के कारण भी हमीं हैं; हमारी आकांक्षाएँ हैं, हमारी राज्यलिप्सा है। न मैं इस लिप्सा के पीछे दौड़ता, न तुम मेरी सहायता में खड़े होते और न तुम्हें शापित होने का दंड भोगना पड़ता।"

"पर यह सब सोचने का अब अर्थ क्या है?" मैंने मुसकराते हुए ही कहा, "अब तो बाण छूट चुका है। वह लौटकर तो आएगा नहीं।"

"पश्चात्ताप तो हम सबको है।"

"आपको ही नहीं, उनको भी है, जिन्होंने मुझे शापित किया है।" फिर मैंने गांधारी की मनःस्थिति बताई। कल उसके भोजन पर न आने का कारण बताया।

युधिष्ठिर कुछ शांत अवश्य हुए, पर दुःखी तो थे ही। अब तक हम दोनों टहलते ही रहे। अब मैंने उन्हें ले जाकर सिंहासन पर बैठाया। उन्होंने भी मुझे अपनी बगल में बैठा लिया। अब मैंने अवसर देखा और अपनी मुख्य समस्या उनके सामने रखी। प्रभास में यादव कलह की चर्चा की। शासनविहीन द्वारका की सत्ता का उन्हें ध्यान दिलाया।

वे फिर गहरी चिंता में डूब गए। बोले, "लोग अश्वमेध की तैयारी कर रहे हैं और तुम चले जाओगे! फिर यज्ञ कैसे होगा?"

"उसमें मुझे क्या करना है?"

"करना तो तुम्हें कुछ नहीं है।" युधिष्ठिर बोले, "पर बिना तुम्हारे मेरा कोई कार्य पूरा नहीं होता।" इस संदर्भ में उन्होंने अपने सभी पुत्रों के मारे जाने पर द्रौपदी के कथन की याद दिलाई—"जब-जब तुम नहीं थे, हमें अनर्थ का सामना करना पड़ा।"

मैं मौन हो कुछ समय तक बैठा रहा।

फिर युधिष्ठिर ही बोले, "तुम्हारी समस्या भी गंभीर है। तुमने भीम और अर्जुन से भी बातें की हैं?"

"इधर मुझसे भीम से बातें नहीं होतीं। वह मेरे पास आता भी नहीं है। बस काम से काम रखता है। लगता है, मुझसे कुछ अप्रसन्न है।"

"क्यों?"

"आप तो उसका स्वभाव जानते हैं। महाराज धृतराष्ट्र पर हमेशा व्यंग्य किया करता है। मैंने दो-तीन बार उसे डाँटा, शायद इसीसे वह नाराज है।"

"यह बात तो मुझे नहीं मालूम।" उन्हें एक चोट और लगी—"पर यह सारी योजना उसीकी है। उसीकी इच्छा थी कि अश्वमेध करना चाहिए; पर आश्चर्य है कि उसने आपसे सलाह नहीं की। सुना है, उसने महर्षि व्यास से इस संबंध में चर्चा की थी, तो उन्होंने कहा कि तुम्हारे पूज्य पिता की अश्वमेध करने की बड़ी इच्छा थी। तुम लोग यदि कर लोगे तो तुम्हारे पिता की आत्मा प्रसन्न होगी।"

युधिष्ठिर ने पुन: कहा, "जब भीम ने मेरे समक्ष इस यज्ञ का प्रस्ताव रखा तो एक बार मेरे मन में आया कि मैं इस समय इस अनुष्ठान को टाल दूँ; पर मुझे अपने पूज्य पिताजी को दिए गए वचन की याद हो आई। मैंने उनसे यह यज्ञ करने का वादा किया था। पर एक बार टालने पर उनके जीवनकाल में टलता ही गया। अब मैंने सोचा कि किसी प्रकार इसे संपन्न करा दिया जाए। शुभं शीघ्रम्। कहीं फिर टला तो फिर कभी अवसर मिले, न मिले।"

"तब तो आपके लिए आवश्यक भी है। यह भी अच्छा ही हुआ कि व्यासजी तैयार हो गए; क्योंकि इस समय आर्यावर्त्त में व्यासजी से अच्छा कोई अश्वमेध का पुरोधा नहीं है। यह यज्ञ हमारे पुरोहित धौम्यजी के वश का नहीं है।"

"हाँ, मैंने उनसे आग्रह किया है कि जो कुछ होगा, आपके निर्देश में ही होगा—और उन्होंने इसे स्वीकार भी कर लिया है।"

यह सुनकर मुझे बड़ी शांति मिली। चलो, मैं बंधनमुक्त हुआ। इस समय मस्तिष्क किसी प्रकार का नया बोझ उठाने के पक्ष में नहीं था। मैं तो यथाशीघ्र हस्तिनापुर छोड़ना चाहता था; पर लगता है, अभी छोड़ नहीं पाऊँगा। एक तो कुछ दिनों के लिए अर्जुन को मैं अपने साथ ले जाना चाहता था। दूसरे यज्ञ के अवसर पर तो बाहर से लोग आएँगे। उस समय मेरी अनुपस्थिति बाहर के लोगों को खलेगी। कुछ लोग ऐसा भी सोच सकते हैं कि इतने भयंकर युद्ध में प्रमुख भूमिका निबाहनेवाला ही नहीं है। अवश्य कोई बात है। फिर तरह-तरह की शंकाएँ और अफवाहें जन्म लेंगी। अतएव मुझे रहना तो पड़ेगा ही। पर इस यज्ञ में मैं मात्र द्रष्टा रहूँगा, निरपेक्ष द्रष्टा।

दूसरे दिन महाराज युधिष्ठिर के विनम्र आग्रह पर व्यासजी पधारे। मैं भी बुलाया गया। योजना बनने लगी। महर्षि व्यास ने बताया—"यज्ञ की समुचित व्यवस्था मैंने कर ली है। मैं स्वयं प्रधान ऋत्विज् रहूँगा। मेरे अतिरिक्त बक, दाल्भ्य, पैल, ब्रह्मा, वामदेव आदि सोलह ऋत्विज्* और रहेंगे।"

---

* जैमिनी अश्वमेध में इन सोलह ऋत्विजों के नाम दिए गए हैं।

महाराज सोच में पड़ गए। बोले, ''तब तो यह बड़ा विशाल यज्ञ होगा!''

''तब आप क्या समझते हैं, यह कोई छोटा-मोटा यज्ञ है! अरे, महाराज, अब इस यज्ञ के करानेवाले मिलते कहाँ हैं! इन सोलह ऋत्विजों का जुगाड़ मैंने कैसे किया है, यह तो मैं ही जानता हूँ।''

''मेरी चिंता मात्र यही है कि इतने बड़े यज्ञ के लिए धन कहाँ से आएगा? हस्तिनापुर का कोष तो लगभग रिक्त है। धरती भी इस साल बंजर पड़ी है। मेरे सामने सबसे बड़ा संकट उन परिवारों के भरण-पोषण का है, जिनके परिवार में कोई कमानेवाला नहीं बचा।'' इसी सिलसिले में युधिष्ठिर ने एक और रहस्य खोला—''अब तक के युद्धों में राजा और उनकी सेना लड़ती थी। जो कुछ हानि-लाभ होता था, उसके भागीदार वे ही थे; पर इस बार मेरे कौरव बंधुओं ने प्रजा को भी युद्ध में झोंक दिया। नगर प्रमुख ने इसका विरोध किया तो उसकी हत्या करा दी गई। प्रजा को निजी व्यय से शस्त्र बनवाने पड़े और सेना के पीछे उन निरीहों को संख्या बढ़ाने के लिए खड़ा होना पड़ा।''

इसी संदर्भ में उन्होंने कहा, ''माधव, तुमने शायद इसपर ध्यान दिया हो कि जब कौरव सेना की अंतिम पंक्ति टूटती थी तो भगदड़ मच जाती थी; क्योंकि वहाँ सेना नहीं, अप्रशिक्षित प्रजा होती थी। वे लड़ना क्या जानें! पितामह के सेनापतित्व में यह सब नहीं हुआ। इसीलिए तब युद्ध की भयंकरता अद्भुत थी। फिर आचार्य के समय प्रजा खड़ी की जाने लगी थी; पर उनके युद्ध-कौशल ने हमें अंतिम पंक्ति तक पहुँचने ही नहीं दिया। फिर तो उनके धराशायी होते ही युद्ध ही जैसे धराशायी हो गया।

''कर्ण के समय वास्तविक सेना बहुत कम रह गई थी। इसीसे उसके जैसा महारथी भी फिर युद्ध को सँभाल नहीं पाया। शल्य मामा क्या करते, दंतहीन सर्प की तरह केवल फुफकारते ही रहे। प्रजा रूपी सेना में भगदड़ मचती रही और निरपराध-निरीह लोग कटते रहे।''

मैंने कहा, ''मुझे ऐसा कुछ अनुभव अवश्य हुआ था; पर इसपर मैंने अधिक ध्यान नहीं दिया। हाँ, मुझे कौरवों की सेना की संख्या पर भी आश्चर्य था। मैंने इस रहस्य का पता भी लगाना चाहा; पर मेरा सारा गणित असफल हो जाता।''

''हाँ, यह रहस्य ही ऐसा था।'' महाराज बोले, ''इसका पता मुझे पहले ही लग गया था; पर मैंने इसका रहस्य इस भय से उद्घाटित नहीं किया कि इससे हमारी सेना के मनोबल पर प्रतिकूल असर पड़ता।'' फिर वे अचानक चुप हो गए। कुछ क्षणों बाद बड़ी गंभीर मुद्रा में बोले, ''हमारी विवशता तो देखो, माधव, हम

अपनी ही प्रजा को काटते रहे और उनपर शासन करने की आकांक्षा पालते रहे। इतना बड़ा युद्ध जीतने पर भी मुझे लगता है, हमने केवल पानी छाना है।'' वे बोलते गए—''अब आज हमारी वास्तविक स्थिति क्या है? एक विपन्न प्रजा का विपन्न राजा, जो सम्राट् होने का स्वप्न देख रहा है।''

सचमुच मुझे दया आ गई। व्यासजी भी द्रवित हुए। वे बोले, ''राजन्! मुझे राजकीय कोष की दयनीय स्थिति का अनुमान तो था ही, पर मुझे प्रजा की वास्तविक स्थिति का भी ज्ञान था। आप घबराएँ नहीं। मैंने पहले से ही हिमवान् पर्वत के मरुतों को धन एकत्रित करने के लिए कहा है। वे ठीक समय से आ जाएँगे और यज्ञ में किसी भी प्रकार का आर्थिक संकट उत्पन्न होने नहीं देंगे।''

महाराज का तनाव ढीला पड़ा। एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गई।

''यह तो आपने बड़ा अच्छा किया।'' युधिष्ठिर ने व्यासजी को धन्यवाद देते हुए कहा, ''मेरी बहुत बड़ी समस्या हल करा दी। कर्मकांड पर तो मुझे कुछ सोचना ही नहीं है। अब रह गईं अन्य व्यवस्थाएँ, उनपर क्या किया जाए?''

''जब तक द्वारकाधीश आपके पास हैं तब तक उसपर भी आपको कुछ सोचना नहीं है।'' व्यासजी बोले।

अब मेरे सामने एक और झमेला आ गया। अब मैं एक दिन भी हस्तिनापुर में रुकना नहीं चाहता था। पर यह बात व्यासजी से कहूँ तो कैसे कहूँ? मैंने धीरे-धीरे बड़ी विनम्रतापूर्वक अपनी स्थिति समझाई और कहा, ''मैं पारथी का पक्षी हूँ, जिसके पंख फँसे हैं, पर जो हर समय उड़कर भाग जाना चाहता है।''

महर्षि ने मेरी विवशता समझी। उनके कान में भी मेरे शापित होने की बात पहुँच चुकी थी, इसलिए उन्होंने मुझे बिलकुल नहीं दबाया। बोले, ''तुम उपस्थित तो रहोगे, बस पांडवों के लिए इतना ही बहुत है।''

फिर उन्होंने उसी समय शेष पांडवों को बुलाकर यज्ञ की सारी अतिरिक्त व्यवस्था समझा दी। उसके अनुसार, यज्ञ के अश्व के रक्षण का दायित्व अर्जुन को दिया गया।

''पर क्या केवल अर्जुन से यह कार्य हो सकेगा?'' महाराज ने शंका की।

महर्षि तुरंत ही बोल पड़े—''क्यों नहीं होगा! अब पूरे आर्यावर्त्त में आपके अश्व को पकड़ने का साहस किसमें रह गया है? आपके मन में राजसूय यज्ञ की कल्पना है; पर आज की स्थिति उससे एकदम भिन्न है। अश्व की तो बात जाने दीजिए, आज किसीमें साहस नहीं है कि अर्जुन का रथ ही रोक ले।''

मैंने भी व्यासजी के अटूट विश्वास का समर्थन किया। बात आगे बढ़ी।

अतिथियों की आवभगत और देखरेख का पूरा कार्य भीम को सौंपा गया। हस्तिनापुर की शासकीय व्यवस्था में नकुल और कौटुंबिक व्यवस्था में सहदेव लगाया गया।

□

कई दिन हो गए, पर छंदक प्रभासक्षेत्र से नहीं लौटा। मेरा चिंतित होना स्वाभाविक था। कुछ बात है, जो वह नहीं आ पा रहा है। कहीं कोई अनहोनी तो नहीं हो गई। मेरी व्यग्रता बढ़ती गई। पर करूँ तो क्या करूँ? उसी रात सोते समय मैंने इसकी चर्चा उद्धव से की।

वह भी सोच में पड़ा। बोला, ''आपने ही बताया था कि दुर्वासा का शाप लगभग इतने दिनों बाद पड़ेगा; पर वह समय आपने स्पष्ट नहीं बताया था। यदि आपको कुछ याद हो तो उससे गणना कीजिए। वह समय आ तो नहीं गया।''

''दुर्वासा के शाप में कुछ कालावधि अवश्य थी; पर क्या थी, मुझे स्पष्ट याद नहीं।'' फिर भी मैंने अनुमान लगाना आरंभ किया। मैंने सोचना शुरू किया और कहा, ''उस शाप के बाद कितनी घटनाएँ घटीं। इसी बीच मेरे शाप से मुक्त होने के लिए सांब ने चंद्रभागा नदी के किनारे लंबी तपस्या भी की थी। हो सकता है, यादव वंश उस काल सीमा में आ गया हो।''

''यदि ऐसा है तो हम व्यर्थ की चिंता क्यों करें!'' उद्धव बोला, ''जो होना है, वह तो होगा ही।''

उसके इतना कहते ही मेरी मानसिकता एकदम बदल गई। मन काफी हलका हो गया; जैसे सिर पर से किसीने बोझ हटा लिया हो—और फिर आँखें झपकने लगी थीं।

गहरी नींद भी नहीं थी और मैं जाग भी नहीं रहा था वरन् तंद्रा की स्थिति में था। मुझे ऐसा लगा जैसे किसी अज्ञात पर्वत से कोई जलधारा आ रही है और मेरी बगल से निकल जा रही है। मैं इसे स्वप्न कहूँ या अपने अवचेतन की सहसा उभरी स्थिति कहूँ। पर मैं अभी तक यह समझ नहीं पाया था कि यह क्या है। मुझे उस तंद्रिल अवस्था में ही सुनाई पड़ा—'मैं अनंत काल से प्रवाहित समय की अजस्र धारा हूँ, जो अनंत काल तक इसी प्रकार बहती रहेगी। मैं हजारों साम्राज्यों और सभ्यताओं को निगल चुकी हूँ, निगल रही हूँ और निगलती रहूँगी। यह चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र—सब मेरे वशवर्ती हैं। मेरी ही गति का एक अंश लेकर यह पृथ्वी गतिवान् हुई है। वह अपने दिन-रात कच्चे सूत से सदैव मुझे नापने की असफल चेष्टा करती है और स्वयं एक दिन मेरी धारा में बह जाती है। उसका अस्तित्व तक भी शेष नहीं रहता। मैं ही संसार के सारे जड़-चेतन और स्थावर-जंगम की जीवन

अवधि निश्चित करती हूँ। उसके बाद ही उसे इस अवधि रेखा के साथ बहा ले जाती हूँ। फिर भी मैं अदृश्य हूँ। तुम्हें केवल दिखाई देता है वर्तमान, जिसे तुम भूत और भविष्य के साथ बाँटते हो। भूत, जो तुम्हारा होकर भी अब तुम्हारा नहीं रहा। भविष्य भी तुम्हारा नहीं है। वह किस रूप में तुम्हारा होगा, इसका भी ज्ञान तुम्हें नहीं है। फिर भी तुम सपनों की नींव पर अनंत काल की योजनाएँ बनाते हो; मानो तुम अनश्वर हो। तुम यह भूल जाते हो कि मेरी लहर का एक थपेड़ा भी तुम्हें निगल जाने के लिए काफी है।

'इस संसार में यदि कुछ चिरंतन है तो मैं हूँ; शाश्वत है तो मैं हूँ; अनश्वर है तो मैं हूँ। और कुछ भी नहीं। बस, मुझे जो कुछ कहना था, कह चुकी। तुम तो स्वयं युगद्रष्टा हो। अब कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। तुमने जिसकी गति देखी है, अब उसकी दुर्गति भी देखोगे।'

इतना कहकर वह कल-कल निनाद अब धीरे-धीरे अदृश्य हो गया। अब मेरी नींद भी एक गहन स्तब्धता में डूब गई।

□

सवेरे-सवेरे ही आँखें खुलीं। फिर भी मैं शय्या पर पड़ा ही रहा। चैत्र का मलयानिल मुझे सहलाता रहा।

वातायन से आती धूप की मृदु उष्णता का संस्पर्श पा उद्धव जाग पड़ा था। उसने मेरी ओर देखा। मैं अब भी ध्यानावस्थित लेटा था।

उसने व्यंग्य करते हुए कहा, "शय्या पर ही शवासन कर रहे हैं क्या?"

मैं मुसकराता ही रहा।

उसने दूसरा परिहास बाण मारा—"तब आज स्वप्न में राधा आ गई थी क्या? और नींद खुलने के पहले चली गई!"

"राधा नहीं, जीवन की एक शाश्वत बाधा आ गई थी, जिसने मुझे झकझोरकर जगाया।"

वह कुछ समझ नहीं पाया। वह भी मौन हो गया। निश्चित उसके सोच में आया होगा कि मैं यादवी युद्ध के विषय में ही चिंतित हूँ। वह चुपचाप उठकर किसी काम से बाहर निकला। उसने देखा कि बगल के कक्ष में छंदक लेटा है। वह रात को ही आ गया था, पर उसने किसीको जगाना उचित नहीं समझा।

उद्धव उसे लिये ही चला आया। मैंने उससे बड़े सहजभाव से पूछा, "ये तुम्हें कहाँ मिले?"

उसने फिर मेरी मुद्रा बदलने के लिए व्यंग्य किया—"मैं योगबल से प्रभास

चला गया था और इन्हें लेकर चला आया।''

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, ''मूर्ख, योगबल से जाया जा सकता है, पर किसीको लेकर आया नहीं जा सकता।''

हँसा तो छंदक भी, पर उसकी हँसी चिंता का आस्तरण ओढ़े थी। मैं समझ गया कि यह कोई अशुभ सूचना ही लाया है। उसने जो बताया, वह हृदयविदारक था। उसके कथनानुसार—प्रभास की ऐसी गति है, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। लोग मैरेय के मद में चूर होकर मार और मर रहे हैं; जैसे अपना-पराया कुछ सूझ ही नहीं रहा है। न शत्रु दिखाई दे रहा, न मित्र। अंधों की तरह एक-दूसरे का विनाश करने में लगे हैं।

''तब तो यादव वंश का नाश निश्चित है। लगता है, अवधि समाप्त हो रही है।'' रात्रि का दृश्य एकदम मन पर उभर आया। मेरे मुख से निकल पड़ा—''अब सबको वह धारा बहा ले जाएगी।''

''कौन सी धारा?''

''आप लोग उसे नहीं जानते।'' मैंने कहा और छंदक से पूछा, ''कितने लोग मारे गए होंगे?''

''इसका कोई हिसाब नहीं।'' छंदक बोला, ''अब न वहाँ कोई भाई है और न बंधु; न बाप है, न चाचा। सारे रिश्ते-नाते समाप्त हो गए हैं। केवल एक पहचान रह गई है—कोई भोज है, कोई अंधक है और कोई वृष्णि।''

''तब तो बड़ी भयंकर स्थिति हो गई होगी।'' उद्धव मुझसे भी अधिक व्यग्र हो उठा।

''अरे, आप स्थिति की भयंकरता इसीसे समझ सकते हैं कि सात्यकि ने कृतवर्मा की हत्या कर दी। किसीने सात्यकि को मार डाला।''

''अरे, सात्यकि मारा गया! वह तो मेरा दूसरा अर्जुन था। हे भगवान्, अब क्या होगा?'' मुझे गहरा आघात लगा। मेरे मन में रातवाली वह आवाज अचानक उभरी—'मैं समय की सरिता हूँ। मैं न अपना देखती हूँ और न पराया। वस्तुतः मेरा कोई अपना-पराया होता भी नहीं।'

इस आवाज ने मुझे अत्यधिक व्यग्र कर दिया था। शायद मैं लड़खड़ाया भी। शीघ्र ही मुझे लगा कि कोई मुझे सँभाल रहा है। मैं सँभला भी। व्यग्रता की ज्वाला को सहजता की राख से ढकता हुआ मुसकराया। फिर मैं छंदक से बोला, ''अब मैं सबकुछ समझ गया। अब मुझे कुछ मत बताओ और यहाँ किसीसे कुछ मत कहना।''

"यदि लोग पूछेंगे तो?" छंदक बोला, "आपने किसी-न-किसीसे कहा ही होगा कि मैंने छंदक को प्रभास भेजा है।"

"हाँ, कहा तो है।" मैंने कहा, "तब तुम हर पूछनेवाले से कहो कि मुझे जो सूचना देनी थी, वह कन्हैया को दे चुका हूँ। उनका कहना है कि यह सबकुछ अभी गोपनीय रखा जाए।"

अब छंदक चुप रह गया। उसकी मुद्रा से ऐसा लगा कि अभी उसके पास बताने को बहुत कुछ है। वह बताना भी चाहता है; पर मैंने उसके अधरों पर अँगुली धर दी है।

वह चिंता में डूबा ही था कि मैंने उससे कहा, "अब तुम जाओ और नित्यकर्म से निवृत्त होकर आओ। मेरे साथ चलना है।"

उसने यह भी नहीं पूछा कि कहाँ।

थोड़ी देर बाद ही हम महाराज युधिष्ठिर के यहाँ पहुँचे। वहाँ लगभग सभी लोग बैठे थे। महर्षि व्यासजी भी थे। अश्वमेध के संबंध में ही विचार हो रहा था।

महाराज युधिष्ठिर ने छंदक को देखते ही कहा, "आप आ गए! सब ठीक-ठाक है न?"

छंदक कुछ बोले, इसके पहले ही मैंने मुसकराते हुए कहा, "जो कुछ है, वह अभी गोपनीय है। मैंने दो कारणों से यह गोपनीयता बरती है। एक तो यदि मैं स्पष्ट बता दूँगा तो अश्वमेध की सारी योजना खटाई में पड़ जाएगी। दूसरे, कुछ ऐसे लोग भी हो सकते हैं, जो यह कहने लगेंगे—देखा, कुरुक्षेत्र की अग्नि की राख अभी ठंडी नहीं पड़ी कि इनका घर जलने लगा। अपनी करनी का परिणाम सद्यः सामने आया। अफवाहों के केवल पंख होते हैं, महाराज, मस्तिष्क नहीं होता।"

"हम लोग तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे।" व्यासजी ने मुझसे कहा, "अभी तक जो विचार किया गया है, उसमें लोगों ने मेरी ही व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है। इसके अनुसार, अर्जुन को अश्वरक्षण का कार्य सौंपा गया है। यदि तुम भी उसके साथ चले जाते तो कोई चिंता न रहती।"

"आप कहते तो ठीक हैं, मुनिवर, पर जिसका घर स्वयं जल रहा हो उसे दूसरे के कुएँ की रक्षा करने क्या जाना चाहिए? यदि उसे आप जैसे पूज्यजनों की आज्ञा-पालन के लिए जाना भी पड़ेगा तो वह चला जाएगा; पर उसके मस्तिष्क में घर की आग तो सुलगती ही रहेगी।"

महर्षि व्यास और महाराज युधिष्ठिर—दोनों ने मेरी विवशता को समझा। मैं धीरे-धीरे कहता ही गया—"स्थिति ऐसी है कि मेरे लिए यहाँ रहना पल-

पल भारी हो रहा है।''

''फिर क्या यह कार्य केवल अर्जुन के वश का है?''

''मेरे विचार से तो बिलकुल वश का है। और इस समय जब इतना बड़ा संग्राम पांडवों ने जीता है तब आर्यावर्त्त में किसका साहस हैं कि हमारा अश्व पकड़ ले!'' मैंने अपने कथन को और विस्तार दिया—''कुरुक्षेत्र में जो राजे-महाराजे हारे हैं, वे तो हारे हुए हैं ही। उनके यहाँ अश्व भेजना मेरी दृष्टि से बहुत आवश्यक नहीं है। जिन्होंने हमारे विरोध में अपनी सेना भेजी थी, वे शांत रहने में ही अपनी कुशल समझेंगे तथा जो हमारे पक्ष में लड़े थे, वह तो हमारा स्वागत ही करेंगे। मेरी समझ से तो पांडवों के लिए अश्वमेध करने का इतना अनुकूल समय और अवसर फिर कभी नहीं आएगा।''

सभी ने मेरी बात का मौन समर्थन किया। फिर मैंने कहा, ''वस्तुतः इस समय मेरी आवश्यकता अर्जुन को नहीं वरन् अर्जुन की आवश्यकता मुझे है। मैं तो चाहूँगा कि वह अश्व लेकर शीघ्रातिशीघ्र लौटे और यज्ञ भी निर्विघ्न समाप्त हो।''

महर्षि ने हँसते हुए कहा, ''जब तुमने शीघ्रता की बात कही है तब तुम्हारे मन में इसके लिए कोई योजना भी होगी।''

''अवश्य है।'' मैंने ऐसे ढंग से मुसकराते हुए कहा कि सभी हँस पड़े। मैंने बताया—''जैसाकि मैंने पहले संकेत दिया था कि आप चाहें तो अश्वयात्रा भी संक्षिप्त कर सकते हैं। जो हमसे हारे हुए राजे-महाराजे हैं या जिन्होंने कुरुक्षेत्र में वीरगति पाई है, वहाँ अश्व भेजने की आवश्यकता नहीं है। जो स्वयं नहीं आए थे और उनकी सेना को पराजय का मुख देखना पड़ा, उनके यहाँ भी अश्व भेजने की कोई आवश्यकता नहीं। उनके यहाँ एक पत्र भेजना पर्याप्त है, जो उनके लिए आपका सादर निमंत्रण भी होगा और अश्व आमंत्रण की विनम्र चुनौती भी।''

लोगों का आश्चर्य एकटक मुझे देखने लगा।

मैंने अपने कथन को विस्तार दिया—''आप अपने पत्र में उन्हें लिखें कि भगवान् के आशीर्वाद और आप महानुभावों की असीम कृपा से हम अपने स्वर्गीय पिताजी की आकांक्षा की पूर्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करने जा रहे हैं। हम आपको अपना सुहृद और मित्र समझकर अश्व का मार्ग बदल रहे हैं, जो आपके रास्ते नहीं जाता। यदि ऐसा करने में हम कोई भूल कर रहे हैं तो आप अवश्य सूचित करें। आप इस पत्र को अपने लिए और अपनी अनुशासित प्रजा के लिए यज्ञ में उपस्थित होने के निमित्त सादर निमंत्रण भी समझने की कृपा करें।''

पत्र की भाषा की सबने बड़ी प्रशंसा की। व्यासजी ने कहा, ''यही तो है

कूटनीतिज्ञ सूझ-बूझ। पत्र प्रापक एक ओर अपनी पराजय भी स्वीकार करेगा और दूसरी ओर यह उसके लिए विनम्र निमंत्रण भी हो जाएगा।''

मेरी यह योजना भी स्वीकार कर ली गई।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा, ''इस तनावपूर्ण मन:स्थिति में द्वारकाधीश का मस्तिष्क इतना संतुलित होगा, इसका मुझे विश्वास नहीं था।''

□

मेरी युक्ति कारगर हुई। जिस अश्व के लौटने में वर्षों लग जाते थे, वह कुछ ही दिनों में लौट आया। जो कुछ विरोध हुआ, वह त्रिगर्त और प्राग्ज्योतिषपुर में ही हुआ। गांधार और मणिपुर में तो अहं का सामान्य टकराव था। मणिपुर में अर्जुन को अपने पुत्र बभ्रुवाहन से ही युद्ध करना पड़ा। किसीने उसे समझा दिया था कि अश्वमेध के अश्व को अवश्य पकड़ना चाहिए, चाहे वह किसीका भी क्यों न हो। ऐसा न करनेवाला वास्तव में यज्ञ के निष्फल होने का दोषी होता है। बस पिता और पुत्र के बीच तलवारें टकराने लगीं; पर ज्यों ही वास्तविकता का ज्ञान हुआ और बभ्रुवाहन को वस्तुस्थिति समझाई गई, वह तुरंत अपने पिता के चरणों पर गिर पड़ा। बाद में वह यज्ञ में भी उपस्थित हुआ।

काशी, मगध और कोशल में भी विरोध हुआ; पर वह विरोध सागर के सामने बावड़ी या सरोवर जैसा था। अंततोगत्वा उन्हें सागर में ही मिलना पड़ा।

अंत में जब वह लौटा तो गर्व से फूला न समा रहा था। अन्य लोग भी उसके पुरुषार्थ की प्रशंसा कर रहे थे। उसी दिन संध्या को वह मुझसे मिलने आया।

छंदक इधर हर समय अशांत रहता था। उसकी छटपटाहट यह थी कि वह अपनी पूरी बात मुझे बता नहीं पाया था। उसने कई बार बताने की चेष्टा की। एक बार वह बताने भी लगा, तब मैंने उसे रोकते हुए कहा, ''तुमने महानाश की पुस्तक की भूमिका पढ़ा दी। अब मेरी संवेदनशीलता स्वयं उपसंहार तक पहुँच चुकी है। अब तुम मुझे शेष पुस्तक पढ़ाकर क्या करोगे!''

वस्तुत: अब मैं कुछ जानना नहीं चाहता था; क्योंकि जितना जानता उतना ही परेशान होता।

बीतते चैत्र की सुहावनी संध्या थी। मैं चुपचाप राजकीय उद्यान में चला गया। पीपल के नीचे पड़े शिलाखंड पर लेट गया। डूबते दिन की शीतल वायु मेरी व्यथा को सहला रही थी। एकाकी देखकर मेरी आंतरिक घबराहट निर्द्वंद्व होकर उभर आई थी। सामने अंतिम साँस लेते सूर्य पर लाल-सा कफन पड़ चुका था। दिन भर कितनों को ऊष्मा बाँटी और अब स्वयं ठंडा होने जा रहा है। सबकुछ करने के

बाद मेरी भी यही गति होने वाली है। अंतर केवल इतना होगा कि वह अरुणांबर में लपेटा जा रहा है और मैं पीतांबर में लपेटा जाऊँगा। सारे रंग उसके यहीं छूट रहे हैं। मेरे भी सारे रंग यहीं छूट जाएँगे। मेरी क्या, सभी की यही गति होती है।

''आपका सेवक, मित्र और अनुज यह अर्जुन आपको प्रणाम करता है।''

अचानक मैं जैसे झकझोरकर जगाया गया। मैंने बगल में देखा, अर्जुन खड़ा है। उसने बताया कि पहले वह मेरे कक्ष में गया था। उसने उद्धव और छंदक से भी मेरे बारे में पूछा; पर किसीने कुछ नहीं बताया। केवल अनुमान के आधार पर वह राजकीय उद्यान में चला आया। उसका कहना था कि वह कब से खड़ा है। मुझे ध्यान में मौन देखकर चुप रह गया।

''लगता है, आप किसी गंभीर सोच में हैं।'' उसने कहा।

''सोचता हूँ कि इसी संध्या की तरह मेरी भी संध्या आ रही है। मेरी ही नहीं, सारे यादव वंश की संध्या।'' मैंने कहा और प्रभास में हो रहे यादवों के तांडव की चर्चा की।

''हाँ, कभी आपने दुर्वासा के शाप के बारे में बताया था।''

''मेरी गणना के अनुसार वह समय लगभग आ चुका है।'' अर्जुन भी चिंतित हुआ। मैंने उसे समझाया—''चिंता की कोई बात नहीं है। मैंने तुम्हींसे युद्धस्थल में कहा था कि जो जन्म लेता है, वह मरेगा ही और जो मरेगा वह जन्म लेगा। यह अपरिहार्य है। तो फिर सोच किस बात का? यदि सोच है तो बस इसका कि आनेवाली पीढ़ियाँ कहेंगी कि मदिरा के नशे में यादवों ने न भाई को चीन्हा, न पुत्र को और न पिता को। आपस में ही कट मरे। स्वयं बरबाद हो गए। आखिर वे लोग कहाँ थे, जिनके हाथों उस समय समाज ने अपने नेतृत्व की बागडोर सौंपी थी? उनका कोई कर्तव्य नहीं था? क्या उन्हें भी मदिरा ने अपने वश में कर लिया था?'' मैंने स्वयं को और स्पष्ट किया—''मेरी चिंता मृत्यु या विनाश के संबंध में नहीं है। मेरी वास्तविक चिंता मृत्यु के माध्यम के संबंध में है। उस शाप और मदिरा के संबंध में है, जो विनाश का कारण बन रही है।''

अर्जुन भी गंभीर हो गया।

तब मैंने कहा, ''मेरी इच्छा तुम्हें भी अपने साथ ले चलने की है; क्योंकि तुम स्वयं में जो कुछ हो, वह तो हो ही, उससे भी अधिक तुम मेरे अंतरंग मित्र भी हो। इस समय मुझे मित्र की जितनी आवश्यकता है उतनी किसी और की नहीं।''

अर्जुन तैयार हो गया; पर उसका कहना था—''आपकी समस्या तो शीघ्रातिशीघ्र यहाँ से चल पड़ने की है, पर मैं तो यज्ञ के बाद ही मुक्त हो पाऊँगा।''

"और मैं क्या यज्ञ के पहले मुक्त हो सकता हूँ!" मैंने हँसते हुए कहा, "अब यज्ञ समाप्त होने में कितने दिन ही लगेंगे! अश्वमेध में तो केवल समय अश्वयात्रा में ही लगता है, वह तुमने यथाशीघ्र समाप्त कर ली। अब तीन-चार दिनों का झमेला और है।" मैंने अँगुली पर गिनते हुए कहा, "महर्षि व्यास के मुहूर्त के अनुसार, कल चैत्र पूर्णिमा है। कल से यज्ञ आरंभ हो जाएगा। तीन दिन उसमें लगेंगे। चौथा दिन अनुष्ठान के ऋत्विजों का पूजन, महाराज को उनका आशीर्वाद और ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन में समाप्त हो जाएगा। बाहर से पधारे राजे-महाराजे महाराज युधिष्ठिर को पाँचवें दिन उपहार आदि देंगे। पाँचवाँ दिन उसमें व्यय होगा और छठवें दिन बिदाई होगी। उसी दिन हम भी बिदाई ले लेंगे।"

"लोग देंगे तब तो।"

"यदि नहीं देंगे तो मुझे बड़ों की अवज्ञा करनी पड़ेगी।" मैंने कहा, "मुझे एक-एक दिन भारी पड़ रहा है।"

"आप स्वयं नहीं खाली हो सकेंगे।" अर्जुन बोला, "लोगों का मिलना-जुलना, उनसे बिदा लेना क्या एक दिन में संभव है?"

"क्यों नहीं संभव है! मैं पहले ही व्यासजी से और महाराज से यज्ञ में निरपेक्ष रहने की अनुमति ले चुका हूँ। इस बीच सबसे मिलता-जुलता रहूँगा और वहाँ से छठवें दिन चल पड़ूँगा।" मैंने कहा।

"यदि ऐसा है तो मुझे भी यही करना पड़ेगा।" अर्जुन ने कहा और हम उद्यान से चल पड़े।

उस दिन जब हम राजप्रासाद में आए तो रात्रि का पहला प्रहर चल रहा था।

दूसरे दिन यज्ञ आरंभ हुआ। हम लोगों की कल्पना से अधिक भव्य, गरिमामय एवं महिमामंडित। राजाओं और महाराजाओं की उपस्थिति इतनी थी, जिसपर किसीको भी गर्व हो सकता था। स्पष्ट लगा कि अब हस्तिनापुर की छत्रच्छाया में पूरा आर्यावर्त्त आ गया है। महर्षि व्यास का प्रधान ऋत्विज् के आसन पर विराजमान होना ही अपने में एक बड़ी बात थी।

तीन दिनों तक यज्ञ विधिवत् चलता रहा। इसी बीच मैंने भी सबसे मिल-जुलकर अपने चलने की तैयारी कर ली। चौथे एवं पाँचवें दिन का कार्यक्रम एक तरह से बिदाई और आशीर्वाद दिवस था। पांडव फूले नहीं समा रहे थे। वे युद्ध जीतकर भी इतने प्रसन्न नहीं थे जितने आज दिखाई दे रहे थे। यह उपलब्धि उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

महाराजाओं को बिदा करते समय महाराज युधिष्ठिर के मुख से निकला—

''आज हम लोगों ने जो कुछ किया, वह अद्‌भुत था। इतना बड़ा कार्य न हमारे पूर्वज कर सके और न आर्यावर्त्त में आज कोई कर सकता है।''

इतना सुनते ही मुझे झटका-सा लगा। मुझे महाराज के कथन की मुद्रा और स्वर में अहंकार की झलक दिखाई दी। मैंने सोचा, जब महाराज का यह हाल है तब तो अन्य भाइयों का पग ही धरती पर नहीं होगा। यह हस्तिनापुर के लिए शुभ लक्षण नहीं है।

मैं अब वहाँ रह नहीं पाया। चुपचाप उठा और अपने कक्ष में चला आया। आपको आश्चर्य होगा कि मेरी अनुपस्थिति को भी किसीने गंभीरता से नहीं लिया। यह उनके द्वारा नहीं, उनके अहंकार द्वारा मेरी उपेक्षा थी। अब मुझे लगा कि हस्तिनापुर एक कुएँ से निकलकर दूसरे में गिरने जा रहा है; क्योंकि अहंकार वह अरण्याग्नि है, जो उसी जंगल से पैदा होकर उसीको जला डालती है।

घड़ी भर बाद जब भोजन पर बैठने का समय आया तब मेरी खोजाई होने लगी। छंदक दौड़ा हुआ आया और बोला, ''अरे, आप यहाँ विश्राम कर रहे हैं, वहाँ आपकी खोजाई हो रही है। लोगों का कहना था कि अभी वे यहाँ ही थे, फिर चले कहाँ गए। स्वास्थ्य तो ठीक है न?''

''शरीर तो ठीक है, केवल मन अस्वस्थ हो गया।'' मैंने कहा।

''क्यों, उस नेवले को देखकर?'' छंदक बोला।

''किस नेवले को देखकर?'' मैंने अनभिज्ञता व्यक्त की।

''अरे, आपको नहीं मालूम!'' छंदक ने बड़े विस्मय से कहा, ''शायद आप चले आए थे। वहाँ यज्ञशाला में एक बड़ी विचित्र घटना घटी—वरन् चमत्कार हो गया। एक अद्‌भुत चमत्कार, जिसे जिसने देखा नहीं, वह तो विश्वास कर ही नहीं सकता।''

''कभी-कभी ऐसा ही होता है कि वह घट जाता है, जो मन और बुद्धि से परे है; क्योंकि मन और बुद्धि की एक सीमा होती है। उसके सामर्थ्य की परिधि के पार की जब कोई घटना घटती है तब हमें लगता है, यह चमत्कार है। आखिर ऐसा हुआ क्या?''

''पता नहीं कहाँ से यज्ञस्थल पर एक नेवला आ गया था। उसका आधा शरीर सोने का था। वह यज्ञकुंड के चारों ओर चक्कर लगाने लगा। लोग बड़े विस्मय से उसकी ओर आकृष्ट हुए। विस्मय की सबसे अधिक छाया महाराज युधिष्ठिर पर थी।

'' 'लगता है, यह किसी दैवी शक्ति का चमत्कार है।' व्यासजी ने कहा।

'' 'ऐसा लगता है कि यज्ञ के भस्म में लोटने से इसका आधा तन सोने का हो गया।' महाराज के इतना कहते ही एक अट्टहास सुनाई दिया। मैं कह नहीं सकता, वह अट्टहास नेवले का था या किसी अदृश्य देवदूत का।''

इतना कहते-कहते छंदक जैसे सिहर उठा। वह क्षण भर के लिए रुका। फिर उसने बताया—''ऐसा चमत्कार जीवन में पहली बार देखा था।

''फिर वही अट्टहास एक गंभीर आवाज में परिवर्तित हो गया—'राजन्, तुम्हें यह अहंकार हो गया है कि तुमने इतना बड़ा यज्ञ किया, जितना तुम्हारे परिवार में किसीने नहीं किया। तुम तो धर्म के गूढ़ रहस्य को जानते हो। अहंकार मनुष्य के सारे कर्मफल को नष्ट कर देता है। तुम्हारे यज्ञ का फल भी इस यज्ञ की अग्नि के साथ सुलगने लगा है। अब इसमें उतनी भी शक्ति नहीं रही, जितनी उस ब्राह्मण के उच्छिष्ट सत्तू में थी, जिसमें लोटने से मेरा आधा शरीर सोने का हो गया।'

''लोग बड़े विस्मय से नेवले की बात सुनने लगे। नेवला कहता गया—'आप मेरी बात सुनकर चमत्कृत हो गए न! पर हुआ ऐसा ही है।' इसके बाद उसने पूरी कथा सुनाई—'इसी हस्तिनापुर की राज्य-सीमा के भीतर अरण्य के उस छोर पर एक ब्राह्मण परिवार रहता है। निरंतर पूजा-पाठ और तपश्चर्या में रत। न ऊधो का लेना और न माधो का देना। अनाज के पौधों को भी वे कभी नहीं काटते थे वरन् उसके जो दाने झड़ जाते थे, उसीसे उनका पूरा परिवार अपना पेट भरता था। इधर दुर्योधन के शासनकाल में निरंतर अकाल पड़ा। अब अन्न के एक-एक दाने के लिए लाले पड़ गए। परिवार भूखों मरने लगा। अंत में उन्होंने भिक्षावृत्ति अपनाई।' ''

छंदक ने बताया—''मैं निरंतर नेवले की ओर देखता रहा। उसका मुँह तो चल रहा था, पर आवाज उसकी नहीं लग रही थी। नेवला बोलता गया—'एक दिन कहीं से उन्हें थोड़ा सा सत्तू मिल गया। कई दिनों की भूख को राहत देने की संभावना दिखाई दी। भगवान् को भोग लगाने के बाद ज्यों ही वे खाने बैठे त्यों ही एक व्यक्ति आया। उसने ब्राह्मण से अनुरोध किया कि मैं कई दिनों का भूखा हूँ। बड़ी कृपा होती, यदि आप मेरी क्षुधा शांत कर देते।

'' 'ब्राह्मण ने अपना सत्तू तुरंत उस व्यक्ति को खिला दिया। फिर भी उसका पेट नहीं भरा। तब उसकी पत्नी ने कहा कि भूखे को तो भरपेट खिलाना चाहिए, इसलिए हे स्वामी, आप मेरा भी सत्तू अतिथि देवता को खिला दें।

'' 'वह व्यक्ति उसकी पत्नी का भी सत्तू खा गया। फिर भी उसकी क्षुधा शांत न हुई। अंत में उस व्यक्ति ने ब्राह्मण के बच्चों के हिस्से का भी सत्तू खा लिया, तब कहीं वह संतुष्ट हुआ।' नेवले ने बताया—'भूखे रह जाने पर भी उस

ब्राह्मण परिवार में अद्भुत संतोष था, प्रसन्नता थी। उसे अपने इस त्याग पर जरा भी अहंकार नहीं हुआ, वरन् इसके विपरीत उसका सोचना यही था कि भगवान् की बड़ी कृपा थी कि उसने मुझे ऐसा अवसर प्रदान किया और उस व्यक्ति ने मेरा सत्तू स्वीकार किया।'

"नेवला कहता गया—'मुझपर भी प्रभु की कृपा थी, जो मुझे भी यह निरहंकार त्याग देखने का अवसर मिला। फिर मैं उधर से गुजरा, जहाँ उस भूखे व्यक्ति ने सत्तू खाया था। वहीं धरती पर कुछ उच्छिष्ट सत्तू बिखरा था। मेरे शरीर में अद्भुत रोमांच हुआ। जहाँ-जहाँ वह सत्तू लगा, वह स्वर्णिम हो गया। फिर मैं उसी भूमि पर लोटने लगा। मेरा आधा तन स्वर्णवर्णी हो गया। शायद और सत्तू होता तो मैं पूरा सोने का हो गया होता।

" 'इस घटना के कुछ ही दिनों बाद मैंने सुना कि धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। सोचा, क्यों नहीं मैं वहाँ चलकर यज्ञ की भस्म और उच्छिष्ट हवि पर लोटूँ, शायद मेरा शेष तन भी सोने का हो जाए। पर मेरा यहाँ आना व्यर्थ हुआ। आपका अहंकार ही आपका पुण्य निगल गया।'

"इतना कहने के बाद वह नेवला एकदम अदृश्य हो गया।" छंदक बोला, "अब लोगों की दृष्टि धर्मराज की आकृति पर गई। उनका रंग एकदम उड़ गया था। प्रसन्नता का हिम पिघल गया था और मनस्ताप से चेहरा लाल हो गया था। वे कुछ बोल नहीं पाए। न वहाँ ठहर सके। महर्षि व्यास के चरण छूकर चले गए।"

मैं मुसकराता हुआ सबकुछ सुनता रहा।

फिर अचानक छंदक ने पूछा, "क्या सोने का नेवला हो सकता है?"

"क्या सोने का मृग हो सकता है?" हँसते हुए ही मैंने प्रश्न पर प्रतिप्रश्न कर दिया।

उसे इस प्रकार के उत्तर की आशा न थी। उसने हँसते हुए ही उत्तर दिया—"यदि कहीं श्रीराम मिल जाते तो उनसे भी पूछता, पर वह तो मायावी मृग था।"

"तो क्या मायावी नेवला नहीं हो सकता?" मैंने कहा। फिर अचानक मेरी मुद्रा गंभीर हो गई। मैं बोला, "यदि मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया होता तो यह घटना न घटती।"

"आपका तात्पर्य?"

"तात्पर्य यही कि मैंने अनुभव किया था कि युधिष्ठिर को अहंकार हो गया है। मैं चुपचाप वहाँ से चला आया था। मेरा कर्तव्य था कि मैं उस अहंकार के प्रति उनका ध्यान आकृष्ट करता। वे स्वयं सँभल जाते; क्योंकि युधिष्ठिर का अहंकार

स्वभावजन्य नहीं, आकस्मिक परिस्थितिजन्य था।'' फिर मैंने हँसते हुए अपनी बात आगे बढ़ाई—''वह नेवला न तो सोने का था और न सोना बनने आया था वरन् वह नेवला उस अहंकाराग्नि को बुझाने आया था, जिसमें उनके पुण्य का सोना पिघलकर बह रहा था।''

□

बिदाई के दिन प्रात: से ही मैंने हस्तिनापुर से चलने की तैयारी आरंभ की। दारुक, छंदक आदि को मैंने पहले ही इसकी सूचना दे दी थी। वे सब भी तैयार थे। फिर मैं उद्धव से मिला। यज्ञ के निमित्त वह भी हस्तिनापुर आया था।

मैंने उससे पूछा, ''तुम इस महायुद्ध के किनारे-किनारे ही रहे। क्या तुम मेरे जीवन-युद्ध में भी किनारे रह जाओगे?''

''यह कैसे हो सकता है!'' उसने कहा।

''तब मेरे साथ चलो।''

वह तुरंत तैयार हो गया।

वस्तुत: उद्धव मेरी सबसे बड़ी दुर्बलता थी। वह जहाँ भी मुझे मिलता था, मैं उसको अपने साथ ही रखना चाहता था। मैं स्वयं उसे छोड़ नहीं पाता था; क्योंकि उसके साथ मेरी वृंदावन की यादें थीं, गोपियों की प्रेम भरी उलाहनाएँ थीं और थे यमुनातट की करील कुंजों में मेरे राग-रस भरे दिन, जिनकी चर्चा से मैं अघाता नहीं था।

सबसे पहले मैं महाराज युधिष्ठिर के कक्ष में गया। वे बड़े उदास-उदास-से लगे। मेरी प्रार्थना सुनकर वे इतना ही बोले, ''मेरा मन तो तुम्हें छोड़ने का नहीं है, कन्हैया! फिर भी मैं तुम्हें रोक नहीं सकता; क्योंकि मुझे अपने गुप्तचरों द्वारा सूचना मिल चुकी है कि प्रभास जल रहा है। फिर सोचता हूँ, मुझे सँभालनेवाला कौन रह जाएगा? भूल करूँगा तो कौन उसे सुधारेगा?''

''इसके लिए आपको चिंता करने की आवश्यकता है क्या?'' मैंने बड़े सहजभाव से हँसते हुए ही कहा, ''फिर कहीं से एक नेवला चला आएगा।''

मैंने देखा, महाराज की आकृति पर हँसी क्या, मुसकराहट की एक रेखा भी नहीं उभरी। मैं समझ गया कि मेरे व्यंग्य से धर्मराजजी तिलमिला उठे हैं। अब मैंने उन्हें बड़ी गंभीरता से समझाया—''ज्ञान-अज्ञान, पुण्य-पाप तथा सफलता-विफलता जहाँ एक ओर व्यक्ति के अपने कर्मों से जुड़े रहते हैं वहीं दूसरी ओर एक अज्ञात अदृश्य से भी। वही उसे करने की प्रेरणा देता है और उसे सँभालता भी है—कभी कृष्ण को भेजकर और कभी नेवले को।''

इस बार मेरे साथ वे भी मुसकराए।

इसके बाद मैं धृतराष्ट्र के पास गया। वहीं गांधारी भी मिल गई और विदुरजी भी। इस बार मैंने विस्तार से अपनी परिस्थिति बताई और चलने की अनुमति माँगी। कोई कुछ बोला नहीं।

''अब तुम भी चले जाओगे, कन्हैया! मैं सोचता हूँ कि अब मैं भी वन का रास्ता पकड़ूँ और उस समय की प्रतीक्षा करूँ, जब कालदेवता मुझे वहाँ ले जाने के लिए पधारेंगे, जहाँ मेरे पुत्र पहले से पहुँच गए हैं।''

मैं समझ गया कि धृतराष्ट्र अभी भी पांडवों को अपना पुत्र नहीं समझ पाए हैं। शायद इसमें पांडवों की ही कमी है। मैंने अनुभव किया कि उनके मन में महाराज के लिए पूरा आदरभाव और सम्मान होते हुए भी उन्हें पूर्णरूप से पुत्र स्वीकार कर नहीं पाए हैं।

मैंने चुपचाप धृतराष्ट्र को सुन लिया, पर कुछ बोला नहीं।

फिर मैं कुंती बुआ और द्रौपदी के पास गया। मेरी बात सुनते ही दोनों बिलख पड़ीं। कुंती बुआ तो मुझे छाती से लगाकर बहुत देर तक सिसकती रहीं। उनसे भी खराब स्थिति द्रौपदी की थी। यदि कुंती बुआ न होतीं तो वह भी मुझे ऐसा पकड़ती कि छुड़ाना मुश्किल हो जाता।

मेरी भी आँखों में आँसू आ गए। वियोग की नितांत कारुणिक स्थिति में मैं कक्ष से निकला। अंतःपुर के गलियारे में थोड़ी दूर बढ़ने के बाद मैंने पीछे मुड़कर देखा, द्रौपदी द्वार पर खड़ी बड़ी कातर दृष्टि से मुझे देख रही थी। मेरे पास इस मोह-बंधन में पड़ने का अवसर नहीं था। मैंने एक दृष्टि उसपर डालने के बाद ही आँखें हटा लीं। फिर भी उसकी आँखें मुझसे चिपकी ही रहीं।

कुछ और आगे बढ़ने पर मुझे अर्जुन दिखाई दिया। मैंने परिहास करते हुए उससे कहा, ''अरे, दिन में तो अंतःपुर का रास्ता छोड़ दिया करो।''

पर वह गंभीर था और गंभीर ही रह गया। उसने कहा, ''सुभद्रा के यहाँ मैं जा रहा हूँ। जब से यादवी युद्ध के बारे में उसने सुना है, वह घबराई हुई रहती है। रात को भी वह सो नहीं पाती। यदि जरा सी झपकी लगती भी है तो अशुभ सपने आते हैं। यदि आप भी उससे मिल लेते तो शायद उसे कुछ सांत्वना मिलती।''

''स्थिति ऐसी है कि शायद मैं भी उसे सांत्वना न दे पाऊँगा वरन् इसके विपरीत उसकी आग और भी भभक पड़ेगी।''

मैं वहाँ एकदम नहीं रुका। सीधे अपने कक्ष या कभी के दुःशासन के महल में आया। वहाँ अक्रूर चाचा पहले से बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

वह देखते ही मुझसे पूछ बैठे—"यहाँ से सीधे द्वारका जाओगे?"

"नहीं, प्रभास होता हुआ जाऊँगा।"

"तब मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।" अक्रूर चाचा ने कहा, "इस महासमर में तो मैं तुम्हारा अधिक साथ न दे सका, पर सोचता हूँ, उस महासमर में मैं अंतिम समय तक तुम्हारा साथ दूँगा।"

मेरी इच्छा तो अकेले ही अपने पुत्र के कर्मों का फल देखने की थी; पर मैं उन्हें रोक नहीं पाया।

थोड़ी देर बाद ही अर्जुन भी दौड़ा हुआ आया और बोला, "मैं भी साथ चलूँगा और सुभद्रा भी।"

"तुम चलते हो, चलो, पर सुभद्रा के साथ चलने की स्थिति नहीं है।"

"मैं क्या करूँ!" अर्जुन ने बताया—"मैंने तो उसे बहुत समझाया, पर वह मानती ही नहीं है।"

"पर तुम तो समझो। हम यहाँ से प्रभास जाएँगे—और युद्धक्षेत्र में किसी नारी को ले जाना वर्जित है।"

"मैं तो सब समझता हूँ, पर सुभद्रा समझे तब न!"

अब मैं बड़े संकट में पड़ा। क्या करूँ?

"अच्छा, तुम उसे भी ले चलो। तुम सीधे उसे लेकर द्वारका चले जाना। मैं प्रभास की ओर मुड़ जाऊँगा।"

अर्जुन ने उस समय बात मान ली।

मैंने उससे कहा, "पर यह जान लो कि अब मैं जरा भी विलंब करने के पक्ष में नहीं हूँ। अतएव शीघ्रता करो।"

यह सब करते-कराते मध्याह्न हो गया। राजभवन में भोजन के लिए बुलाहट हुई। अन्न को भी छोड़कर जाना उचित नहीं। हम जब वहाँ पहुँचे, भोजनालय में लोग उपस्थित हो चुके थे। कुछ विशेष स्थान पर आज स्वर्ण पात्रों का प्रयोग किया गया था। चुपचाप सब लोग भोजन पर बैठ गए।

आप विश्वास करें, इतने लोगों के बीच आज जैसे सन्नाटे का सामना मैंने जीवन में बहुत कम किया है। किसीके मुँह में जैसे जबान ही नहीं; जबकि भोजन पर ही सारी राजनीति विचारित होती थी। घंटों विचार-विमर्श चलता था। आज सब चुप, मानो किसीको भोजन की इच्छा नहीं। आज सबकी आँखें गीलीं। पूरा कौर भी कोई उठा नहीं रहा था। केवल चिड़ियों की तरह चुग रहे थे। चिड़ियों में भी दाना चुगते समय जो उछल-कूद और प्रसन्नता होती है, उसका

यहाँ एकदम अभाव; जैसे सभी किसी मृत्युभोज पर बैठे हों। पर वहाँ भी कुछ बातें होती हैं—मृत्यु की अनिवार्यता पर, जीवन की निस्सारता पर—और कुछ नहीं तो मृतक व्यक्ति के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष पर। पर यहाँ सब चुप, सब शांत, सारे मुख निष्कंप।

आज भोजन परोसने का कार्य द्रौपदी और सुभद्रा कर रही थीं। सारे परिचारक पीछे एक पंक्ति में खड़े थे। जब कुछ मँगाना होता था तब ये नारियाँ उन्हें संकेत करती थीं और वे ले आते थे।

पर आज इसकी भी आवश्यकता नहीं पड़ी।

द्रौपदी सब ओर से लौट-लौटकर बार-बार मेरे पास आती थी और चाहती थी कि वह मुझे अधिक-से-अधिक खिलाए। एक बार तो उसने कहा भी—''आज आप कुछ ग्रहण नहीं कर रहे हैं!''

''जब नमक कहीं से छूटता है तब यही स्थिति होती है। लगता है, आज हस्तिनापुर का नमक छूट रहा है।'' मैंने कहा और लोगों की आँखें भर आईं। कुछ के तो आँसुओं का बाँध टूट गया।

वियोग के क्षणों में सभी की ममता समवेत होकर एक बिंदु पर घनीभूत हो जाती है। उसी घनीभूत ममता ने राजभवन से हमें बिदाई दी।

हम सब चल पड़े। मैं, उद्धव, अक्रूर चाचा, अर्जुन और सुभद्रा तथा छंदक—ये छह रथी और तीन सारथि—दारुक, पूरु (अर्जुन का सारथि) और अक्रूर चाचा के सारथि को मिलाकर हम सभी नौ थे—और मात्र तीन रथों पर। मेरे रथ पर उद्धव था। अर्जुन के रथ पर सुभद्रा और अक्रूर चाचा के साथ छंदक।

इन तीन रथों के अतिरिक्त मेरे पीछे-पीछे मुझे बिदाई देनेवाले महाराज और शेष पांडवों के रथ थे। सबसे अंतिम रथ पर धृतराष्ट्र और विदुरजी बैठे थे। यह मुझे अच्छा नहीं लगा; पर यह धृतराष्ट्र की निर्लिप्त होती मानसिकता का प्रतीक था। इसीलिए मैं भी मौन का घूँट पीकर रह गया।

हस्तिनापुर की प्रजा मुझे बिदाई देने राजपथ पर आ गई थी। जब मैंने देखा कि वह मेरे साथ दौड़ रही है तब मैंने अपने रथ की गति और मंद करा दी। मेरे पीछे के सभी रथों ने मेरा अनुसरण किया। नगर द्वार तक वे मेरे साथ-साथ आए।

नगर द्वार पर मैं अपने रथ से उतर गया। सभी नागरिकों का मैंने झुककर अभिवादन किया और बड़े आर्द्र स्वर में इतना ही बोल पाया—''आप सबकी ममत्व भरी आत्मीयता के समक्ष मैं नतमस्तक हूँ। यदि मुझसे कभी कोई भूल हुई हो तो क्षमा कीजिएगा।'' मुझे ऐसा लगा कि यदि मैं आगे कुछ बोलूँगा तो रो

पड़ूँगा। जीवन में कभी न रोनेवाला व्यक्ति आज रो देने की स्थिति में था।

फिर पता नहीं मेरी भावुकता को क्या सूझा कि मैंने हस्तिनापुर की एक मुट्ठी धूल उठा ली और अपने रथ में बैठ गया।

पर वहाँ उद्धव नहीं था। उसे महाराज युधिष्ठिर ने संकेत से बुला लिया था और कुछ देर तक उससे बातें करते रहे।

कुछ देर बाद ही उद्धव आया। हम लोग बढ़े। उसने किसी प्रसंग में कहा, ''चलते समय हस्तिनापुर की मिट्टी उठा लेने में आपका क्या रहस्य था, लोग समझ नहीं पाए।''

''ठीक वैसे ही तुम जब व्रज से धूल-धूसरित होकर लौटे थे तब उस धूल का रहस्य हम नहीं समझ पाए थे।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''पर महाराज युधिष्ठिर ने उसका दूसरा ही अर्थ लगाया। उनका कहना था कि श्रीकृष्ण ने इस बात का संकेत दिया है कि इतना बड़ा संघर्ष, इतना तू-तू, मैं-मैं करने के बाद भी क्या हाथ लगा—एक मुट्ठी धूल ही न!

''विदुरजी ने जब यह घटना धृतराष्ट्र को बताई तो उनका सोचना भी कुछ ऐसा ही था। वे कह रहे थे—'जब अंत में इसी धूल में मिलना है तो इतना संघर्ष क्यों, इतनी हाय-हाय क्यों?'

''पर प्रजा का कुछ दूसरा ही सोचना है। उसके विचार से अब द्वारकाधीश हस्तिनापुर नहीं आएँगे, इसीलिए स्मृतिस्वरूप यहाँ की धूल लिये जा रहे हैं।''

□

वृष का सूर्य हमारे सिर पर चमक रहा था। इस तपती दोपहरी में यात्रा करना कठिन था। इसलिए गंगा पार अरण्य के गहन प्रकोष्ठ में हम विश्राम करने के लिए रुके और संध्या होते ही फिर चल पड़े। मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर ग्राम पड़ते गए। हर जगह एक सिसकती हुई उदासी दिखाई पड़ी। जीवन का स्पंदन जैसे लुप्त था।

जब हमारे रथ किसी ग्राम से गुजरते थे तब महिलाएँ और बच्चे अपने द्वार से झाँकते दिखाई देते थे। उनकी भयाक्रांत दृष्टि घोंसलों से टुकुर-टुकुर ताकती उन चिड़ियों के परिवार जैसी थी, जिनके पिता या पत्नी संध्या होने के बाद भी अभी न लौटे हों और जो तने पर चढ़ते किसी सर्प को देख रहे हों। हमारे प्रति उनका श्रद्धाभाव ऐसे ही भय में तिरोहित हो गया था। पर मैं क्या कर सकता था, चुपचाप सिर झुकाए आगे बढ़ता रहा।

दिन भर तपन के बाद यह पहाड़ी प्रदेश सूर्यास्त होते-होते ठंडा होने लगता

है। इसी ठंडी हवा में संध्या का रंगीन आँचल लहराने लगा और फिर एकदम उड़ गया। अँधेरा बढ़ चला।

ज्यों-ज्यों रात घिरती गई, मौसम सुहावना हो गया और उद्धव की घबराहट बढ़ती गई। अंत में उसने कहा भी—''अब हमें कहीं रात बिताने की व्यवस्था करनी चाहिए; क्योंकि रात अँधेरी और रास्ता अनजान है।''

''तुम्हारे लिए अनजान है, मैं तो इधर से अनेक बार आया-गया हूँ।'' मैंने कहा।

''आप घबराएँ नहीं, सबकुछ मेरा जाना-समझा है।'' दारुक बोला, ''यहाँ से थोड़ी दूर पर एक सरोवर है और उसीके किनारे खंडहरनुमा एक शिव मंदिर है। हम लोगों ने पिछली यात्रा में वहीं रात बिताई थी। बस घड़ी भर का रास्ता है।'' इतना कहने के बाद उसने रथ की गति और तेज की। अब ठंडी हवा के स्पर्श की मादकता बढ़ गई थी।

''लगता है, कहीं वर्षा हुई है।'' उद्धव बोला।

''कहीं ही नहीं, अब यहाँ भी वर्षा की संभावना बनती जा रही है।'' दारुक ने कहा, ''इस प्रदेश की ऐसी प्रकृति है कि दो-तीन दिनों तक खूब तपता है और फिर वर्षा हो जाती है।''

सचमुच निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते-पहुँचते बादल घिर आए। प्रकृति और सुहावनी हो गई। हम लोग जब शिव मंदिर पर पहुँचे तब आकाश पिघलने लगा था। हम रथ से उतरे। अश्व खोल दिए गए। आम्र की सघन छाया में उन्हें वृक्षों के तनों से बाँध दिया गया और एक विशाल वट के नीचे रथ खड़े कर दिए गए।

उस सरोवर में एक पहाड़ी झरने से पानी आता था; पर आज झरना सूख गया था और सरोवर में भी बहुत कम जल रह गया था। उसीसे हम लोग निवृत्त हुए और मंदिर के विशाल जगत पर पकवान की वे गठरियाँ खोली गईं, जो हस्तिनापुर से चलते समय हमारे रथों में रख दी गई थीं।

अब वर्षा और तेज हो गई थी। मौसम की मुद्रा एकदम बदल गई थी। वायु के झोंकों से उड़कर आते शीतल जल की फुहार में सारी थकावट धुल गई।

वर्षा अप्रत्याशित थी, पर थी बड़ी घनघोर। उसने मेरे तन-मन को झकझोर दिया। अब मैंने वंशी निकाली और मल्हार की अवतारणा की। आज बहुत दिनों पर वंशी अधरों पर आई थी। वह न मुझे छोड़ पा रही थी और न मैं उसे। मेरे साथ के थके-माँदे लोगों की आँखें झपकने लगीं। धीरे-धीरे सब सो गए।

मैं तो इस संसार में था ही नहीं। जब घटा घनघोर हो, वायु उन्मत्त होकर

चीखती हुई वृक्षों को झकझोर रही हो, रसाल टपक रहे हों, ऐसे में वृंदावन की सघन कुंजों में मेरे मन का पहुँच जाना स्वाभाविक था—और मैं पहुँच भी गया। संसार की सुधि नहीं रही।

अब मैं उन कुंजों में पहुँच गया। प्रतीक्षा करती राधा मिली। मुझे देखते ही उसने कहा, 'मैं जानती थी कि किसी-न-किसी दिन तुम अवश्य आओगे।' इतना कहते-कहते वह मेरे तन से लिपट गई और ऐसी लिपटी कि छोड़ न सकी। हम सब स्वर्गिक आनंद में खो गए। वर्षा होती रही। हम भीगते हुए भी कुंजों की घनी छाया में पड़े रहे।

'अच्छा, अब मुझे जाने दो। मैं फिर मिलूँगा।' अच्छी तरह उसकी बाँहों में कसे अपने को छुड़ाते हुए मैं बोला।

'कालचक्र इतना विपरीत घूम रहा है कि अब तुम नहीं मिलोगे।' उसने कहा और जकड़कर मुझे पकड़ लिया—'अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी, भले ही मुझे अपना तन छोड़ देना पड़े।'

मैंने अपने को छुड़ाने के बहुत प्रयत्न किए, पर उसने नहीं छोड़ा। अब मैंने बलात् उससे मुक्त होना चाहा और हो भी गया। मैं चलने लगा।

'तुम चले तो मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।' इतना कहते हुए वह झम से यमुना में कूद गई। देखते-देखते बड़ी क्षिप्रता से यमुना उसे निगल गई। मैं एकदम घबरा गया। 'राधा, राधा! यह तुमने क्या किया, राधा?' मैं नींद में ही चिल्लाने लगा।

लोगों ने मुझे झकझोरकर जगाया। मेरा हाथ अब भी वंशी पकड़े वक्ष पर था; जैसे किसीको प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध किए होऊँ।

सुभद्रा मेरा सिर सहलाने लगी। अर्जुन भी अपनी प्रकृति के अनुसार मेरे चरणों की ओर आ गया।

अक्रूर चाचा ने पूछा, ''क्या बात है?''

''कोई बात नहीं।'' सुभद्रा बोली, ''भैया का हाथ सीने पर था। सोते समय जब सीने पर हाथ होता है तब बड़े भयानक सपने आते हैं।''

फिर भी मेरा सीने पर से हाथ नहीं हटा। मैंने उन लोगों से कहा, ''आप लोग जाइए, विश्राम कीजिए। उद्धव को मेरे पास भेज दीजिए।'' मुझे अब भी राधा की आवाज सुनाई दे रही थी—'अब तुम्हारा कालचक्र विपरीत घूम रहा है। अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी, भले ही अपना तन छोड़ना पड़े।'

उद्धव मेरे सिरहाने ही खड़ा था। वह बोला, ''मैं यहीं हूँ।''

"तुम कहाँ हो? जब मेरा कालचक्र विपरीत घूमने लगा तब तुम भी दूर हो गए। तुम यहाँ आओ, मेरी बगल में लेटो। इस समय मुझे तुम्हारी बड़ी आवश्यकता है।" मैंने उसे स्वप्न की सारी बातें बता दीं। फिर बड़ा भावुक होकर बोला, "राधा ने मेरे लिए अपना तन छोड़ दिया। वह मुझमें समा गई, उद्धव। अब वह मेरी हर साँस में रहेगी। उसके बिना मेरा कोई भी काम अधूरा रहेगा। मैं अधूरा रहूँगा।"

उद्धव मेरा सिर सहलाता रहा। मुझे सुलाने की चेष्टा करता रहा। पर अब नींद कहाँ!

वर्षा थम चुकी थी। ब्राह्म मुहूर्त भी ढल चुका था। अच्छी तरह नहाए और भीगे वृक्षों पर पक्षी चहचहाने लगे थे।

□

अभी सूर्योदय नहीं हुआ था कि हम चल पड़े। आज मन बड़ा उदास था। रह-रहकर यही बात मन में उठती थी कि कालचक्र अब विपरीत घूम रहा है। अब तो कुछ वैसा लगने भी लगा था। मार्ग में पड़नेवाले जिन गाँवों में मेरा कभी स्वागत होता था, मेरी आरती उतारी जाती थी, अब वहाँ जलपान के लिए पूछने भी कोई सामने नहीं आता था; जैसे मैं किसी पुराने राजभवन की गिरती दीवार हो गया था, जिससे हर कोई बचना चाहता था।

अपराह्न होते-होते मैं उस स्थान पर आ गया था, जिससे प्रभास को रास्ता फूटता था। यहीं से अन्य लोगों को द्वारका भेजकर प्रभास की ओर जाने की योजना थी। मैंने उनसे कहा, "आप लोग द्वारका चलिए। मैं प्रभास होकर आता हूँ।"

अक्रूर चाचा, उद्धव, अर्जुन और छंदक—सबने मेरे साथ चलने का वादा किया। यहाँ तक कि सुभद्रा भी मुझे छोड़ने को तैयार न थी। धीरे-धीरे उनका आग्रह हठ में बदल गया।

अब मैंने डाँटते हुए कहा, "यह मेरी सलाह नहीं, आज्ञा है।"

"पर मैं तुम्हारी आज्ञा मानने के लिए विवश नहीं हूँ।" अक्रूर चाचा बोले।

मुझे हँसी आ गई और मैं लज्जित भी हुआ।

"क्षमा कीजिए। मैंने आपको नहीं कहा था। आप तो मेरे चाचा हैं। मैं भला आपको आज्ञा दे सकता हूँ!" फिर मैंने उन्हें समझाया—"मेरी सूचना के अनुसार, मेरा सारा परिवार प्रभास में आ चुका है। इस समय द्वारका में न बलराम भैया हैं, न प्रद्युम्न है और न सांब है। सत्ता भी दो वृद्धों पर रह गई। एक तो मेरे नाना उग्रसेनजी परम वृद्ध हैं। शायद ही वे राजभवन से बाहर निकलते हों। दूसरे मेरे पिता हैं। उनकी भी ऐसी स्थिति नहीं है कि वे उस द्वारका की बागडोर सँभाल सकें, जिसपर

जल दस्युओं की नित्य ही चढ़ाई होती रहती है। सारा सागर प्राकृतिक दृष्टि से असुरक्षित है।

"फिर आप लोगों के द्वारका जाने से मेरे परिवार को बड़ा ढाढ़स मिलेगा, विशेषकर मेरी पत्नियों को, जिनके पुत्र जीवन-मरण के संग्राम में व्यस्त हैं।"

उन सबको मेरी बात समझ में आ गई। इसके बाद उन्होंने कोई विवाद नहीं किया और चले गए।

छंदक और अक्रूर चाचा को लेकर अब मैं प्रभास की ओर मुड़ा। यहीं से मरुस्थल का सिलसिला शुरू हो जाता था। आगे मारवाड़ पड़ता था। धीरे-धीरे हवा शुष्क और गरम होती गई। अब ग्राम भी दूर-दूर पर थे। दूर तक पानी का अभाव था। मार्ग रेतीला था। अश्वों के खुर धँस जाते थे। रथ के पहिए बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि इसके अतिरिक्त प्रभास जाने का और कोई मार्ग भी नहीं था।

हम लोग आगे बढ़े जा रहे थे। कहीं विश्राम की आवश्यकता थी; क्योंकि मध्याह्न का सूर्य हमारे माथे पर आ गया था। एक राही ने बताया कि अब आगे ही मरुद्यान है।

लगभग अर्द्धयोजन के बाद ही उस उद्यान के दर्शन हो गए। हम उसमें घुसने ही वाले थे कि सामने से आते महा तपस्वी उत्तंग मुनि दिखाई दिए। इस मरुखंड में शायद वे सप्ताग्नि तप कर रहे थे। रथ से उतरकर हम सबने उनके चरण छुए।

आशीर्वाद देते हुए उन्होंने हमारा स्वागत किया। अंत में पूछा, "किधर से आ रहे हो?"

मैंने कहा, "हस्तिनापुर से।"

"वहाँ सब कुशल तो है? धृतराष्ट्र और उनके पुत्र आनंद से तो हैं? पांडव कैसे हैं? शायद तुम उनमें संधि कराकर आ रहे हो! तुमने यह बहुत बड़ा कार्य किया, अन्यथा आर्यावर्त्त का सबसे संपन्न राज्य नष्ट हो जाता—और फिर ऐसा शक्ति का असंतुलन पैदा होता कि इस भूखंड की शेष सत्ताएँ भी आपस में लड़ मरतीं; जैसे प्रभास में यादव लड़-मर रहे हैं।"

उत्तंग मुनि बड़े अंतर्मुखी थे। वे सदा अपनी तपस्या में ही तल्लीन रहते थे। उन्हें बाहरी संसार से कुछ लेना-देना नहीं था। इधर-उधर से उड़ती सूचनाएँ जो पहुँच जाती थीं, उनकी सांसारिक जानकारी उसी पर सीमित रहती थी।

उनके व्यक्तित्व की दूसरी कमी या विशेषता यह थी कि वे बड़े क्रोधी थे।

लोग उन्हें दूसरा दुर्वासा कहते थे। इसीलिए मैं उन्हें चुपचाप सुनता रहा।

वे कहते गए—"तुमने हस्तिनापुर को महान् रक्तपात से बचा लिया। यदि कहीं दोनों परिवार लड़ गए होते तो क्या स्थिति होती, भगवान् ही जाने!"

मैं अब भी सिर नीचा किए सुनता रहा। मेरी जिह्वा पर बर्फ जम गई थी। मेरे गंभीर मौन ने उन्हें शंकाकुल कर दिया। वे व्यग्र हो उठे।

"तुम बड़े चुप हो। बोलते क्यों नहीं?" उनकी आवाज पहले से तेज हुई।

"मेरे पास कुछ बोलने को है ही नहीं, क्या बोलूँ!" सिर नीचा किए-किए मैं धीरे से बोला।

"क्या, तुम्हारे पास कुछ कहने को है ही नहीं!" उनकी आवाज और भी भभकी—"इसका तात्पर्य?"

"तात्पर्य स्पष्ट है, मुनिवर!" मैंने बड़ी विनम्रता से कहा, "आपके सपने को मैं साकार कर नहीं पाया।" फिर जो कुछ हुआ था, मैंने सब बता दिया।

वे आगबबूला हो उठे—"तुम्हारे रहते यह हो गया! अवश्य ही इसमें तुम्हारी कोई दुरभिसंधि रही होगी। यदि तुम चाहते तो दोनों को बलात् मनवा सकते थे। तुम्हारी एक ललकार पर तो वे काँप उठते। यह क्यों नहीं कहते कि तुमने चाहा नहीं!"

"मैंने चाहा तो बहुत, मुनिश्रेष्ठ, कि समस्या सुलझ जाए, पर नियति के सामने असफल रह गया।"

"व्यर्थ नियति पर दोष मत मढ़ो। मैं तुम्हारी शक्ति जानता हूँ। तुमने चाहा ही नहीं होगा कि संधि हो जाए। तुमने संधि कराने का नाटक अवश्य किया होगा; पर तुम्हारी मंशा कुछ और रही होगी।" इसके बाद उनकी दृष्टि जैसे अग्नि उगलने लगी—"अच्छा बताओ, तुम युद्ध में भागीदार रहे या नहीं?"

मैं फिर चुप रह गया।

"चुप क्यों हो? बोलते क्यों नहीं?" उन्होंने इतनी तेज डाँटा कि मैंने युद्ध में भागीदार होना स्वीकार कर लिया—और बात भी सही यही थी।

"जब तुम युद्ध में स्वयं भागीदार थे तो तुम संधि क्या कराते!" वे आग उगलते रहे—"जब लोग तुम्हारी बात नहीं मान रहे थे तो तुम्हें भी अपने भाई बलराम की तरह युद्ध से विरत हो जाना चाहिए था। छोड़ देते सबकुछ नियति पर। तब तुम्हें कोई दोष नहीं देता—और परिणाम भी वही होता, जो हुआ है। अरे भाई, इससे अधिक और क्या होता? तुम्हारे भाग लेने पर भी कितने लोग बचे—पाँच पांडव, एक धृतराष्ट्रपुत्र, एक आचार्य और एक आचार्यपुत्र ही न!"

मैं फिर कुछ नहीं बोला।

"कन्हैया! तुमने बड़ा भारी पाप किया है यह युद्ध कराकर। तुम उसका सद्यः परिणाम भोगोगे।" मुनिवर क्रोध से काँप रहे थे—"मेरा मन इतने से ही शांत नहीं होगा। मैं तुम्हें शापित करूँगा।"

शाप का नाम सुनकर मैं जैसे जल उठा। अभी रात के स्वप्न की छाया मुझपर भरपूर थी। विपरीत घूमता कालचक्र मेरी आँखों के सामने था। यदि यह मुनि मुझे शापित करना चाहेंगे तो शापित करें। एक शाप और सही। क्या हो जाएगा इससे मेरा? मैं भी आवेश में आ गया—"आप किसे शापित करेंगे, मुझे? मैं वह नहीं हूँ, जो आपको दिखाई दे रहा हूँ।" तुरंत मेरी भाषा बदल गई। मेरी आँखों से अंगारे बाण की तरह छूटने लगे। मुझमें मेरे विराटत्व का आभास हुआ। मुझे कोई तपस्वी मुनिवर नहीं, एक अदना व्यक्ति दिखाई देने लगा।

मैंने कहा, "मुझे देखना हो तो तूफानी सिंधु की उत्ताल तरंगों में देखो। हिमालय के उत्तुंग शिखर पर मेरी शीतलता का अनुभव करो। सहस्रों सूर्यों का समवेत ताप मेरा ही ताप है। एक साथ सहस्रों ज्वालामुखियों का विस्फोट मेरा ही विस्फोट है। शंकर के तृतीय नेत्र की प्रलयंकर ज्वाला मेरी ही ज्वाला है। शिव का तांडव मैं हूँ; प्रलय में मैं हूँ, लय में मैं हूँ, विलय में मैं हूँ। प्रलय के वात्याचक्र का नर्तन मेरा ही नर्तन है। जीवन और मृत्यु मेरा ही विवर्तन है। ब्रह्मांड में मैं हूँ, ब्रह्मांड मुझमें है। संसार की सारी क्रियमाण शक्ति मेरी भुजाओं में है। मेरे पगों की गति धरती की गति है। आप किसे शापित करेंगे, मेरे शरीर को? यह तो शापित है ही—बहुतों द्वारा शापित है; और जिस दिन मैंने यह शरीर धारण किया था उसी दिन यह मृत्यु से शापित हो गया था।"

और तो और, उद्धव एवं अक्रूर चाचा भी मेरी वाणी की इस ऊष्मा पर चमत्कृत हो गए। मुनिवर की मुद्रा भी एकदम परिवर्तित हो गई। उनका शापित करनेवाला क्रोध मेरे प्रति पूज्यभाव में बदल गया। उन्हें मुझमें ईश्वरत्व दिखाई देने लगा। उन्होंने विधिवत् मेरा सत्कार किया। उस मरुभूमि में जो मिला, उसे खिलाया-पिलाया। हमने दोपहरी वहीं बिताई।

संध्या को जब हम चलने लगे तब उन्होंने पूछा, "किधर जा रहे हैं?"

"प्रभास की ओर, जहाँ यादवी युद्ध हो रहा है। देखूँ, मैं उसमें क्या कर सकता हूँ!"

"अब वहाँ क्या धरा है, जो आप जा रहे हैं!"

"हमारा पूरा परिवार उसमें संलग्न है।" मैंने कहा।

वे मुसकराने लगे। उनकी मुसकराहट में एक बड़ी वितृष्णा थी। संसार की नश्वरता की झलक थी।

मुझे संदेह हुआ। मैंने कहा, "मेरे परिवार की द्वारका तो वही है।"

उनकी मुसकराहट अब हास में बदल गई।

"क्यों, आपको विश्वास नहीं है?" मैं बोला, "वहाँ मेरा पुत्र प्रद्युम्न है, सांब है।"

"अब वे नहीं रहे।"

"क्याऽऽ!" मुझे तो जैसे चक्कर आ गया। फिर मैं सँभला। बोला, "मेरे भाई बलराम भी वहाँ हैं।"

"उनका भी कहीं पता नहीं।"

"तो क्या वे भी मारे गए?"

"यह मैं नहीं कह सकता।"

अब मेरी आवेश भरी व्यग्रता और बढ़ी। मेरी आवाज तेज होती गई—"मेरा अंतरंग मित्र सात्यकि है, चारुदेष्णा है…"

मैं और नाम लेने वाला था कि वे बीच में ही बोल उठे—"इनमें से कोई नहीं बचा।"

मैं और घबराया। मैंने पूछा, "यह सब आपको कैसे मालूम?"

"मैं तो वहीं था।"

"तब आपने युद्ध रोकने की चेष्टा नहीं की?"

"चेष्टा तो बहुत की, पर कोई किसीकी सुनने वाला हो तब तो! मैरेय के नशे में विनाश उनके सिर पर सवार हो गया है। कौन किसको मार रहा है, यह भी उन्हें पता नहीं।"

मेरे मन ने कहा, 'दूसरों को उपदेश देना सरल है; पर जब सिर पर पड़ती है तब पता चलता है। अभी आप कौरव-पांडवों का युद्ध न रोक पाने के लिए मुझे शापित कर रहे थे। अब मैं क्या करूँ आप जैसे तपस्वी द्वारा यादवी विनाश न रोक पाने के लिए?' पर मैं कुछ बोला नहीं।

मुनिवर ही बोलते गए—"शायद आप सुन नहीं पाएँगे, जो-जो वहाँ हुआ और जो वहाँ हो रहा है।"

मेरी जिज्ञासा और बढ़ी। वे कहते जा रहे थे—"मृत्यु का ऐसा तांडव तो मैंने देखा नहीं, जिसमें भाई-भाई को मार रहा हो, पुत्र पिता को मार रहा हो, पिता पुत्र को मार रहा हो। यदि आप सुन सकते हैं तो सुनिए, सांब को प्रद्युम्न ने मारा। प्रद्युम्न

को भोजों ने मारा। कृतवर्मा को सात्यकि ने मारा।''

''प्रद्युम्न को किसने मारा?'' जैसे मुझे विश्वास ही न हो।

''उसे भी भोजों ने मारा। सात्यकि, चारुदेष्णा, अनिरुद्ध, गद—सभी भोजों द्वारा मारे गए।''

गद का नाम सुनते ही जैसे मेरी नस-नस में विद्युत् दौड़ गई। वह मेरा सौतेला भाई था। अद्‌भुत योद्धा था और मुझे प्रिय भी। उसकी मृत्यु के समाचार ने तन-मन में आग लगा दी।

हम तुरंत वहाँ से चल पड़े। मुनिवर के रोकने पर भी रुके नहीं। रह-रहकर मेरे मन में यही बात उठने लगी कि मेरा सारा परिवार मारा गया और मैं कुछ कर नहीं सका। दूसरों की आग बुझाने के पीछे मेरा घर स्वयं जल गया।

मेरा रथ वायु की गति से चला जा रहा था। जो भी देखता, वह दंग रह जाता। पहिए और गतिशील हुए। अश्वों के पगों से उठती रेत के बीच इतना गतिशील रथ जिसने देखा होगा, उसे भागते बवंडर की तरह लगा होगा।

इसी गति से दिन-रात चलते हुए हम प्रभास पहुँचे। वहाँ का दृश्य बड़ा बीभत्स था। पूरा नगर रक्तस्नान किए मरण पर्व मनाता दिखा। नगर का हर कोना युद्धक्षेत्र बन गया था। जो सामने दिखाई देता, लोग उसीको मार रहे थे। हमारे पहुँचते ही लोग हमपर भी हिंस्र पशुओं की तरह झपट पड़े। सोचने तक का समय नहीं। मैंने भी आँखें मूँदकर सुदर्शन चलाना आरंभ किया। अक्रूर चाचा भी आक्रामक हो बहुत आगे बढ़ गए। छंदक मेरे ही रथ पर मेरी सुरक्षा में था।

मैंने मारना शुरू किया और छंदक ने रोकना। बहुधा वह मेरे आगे ढाल किए रहता; क्योंकि मुझे कवच धारण करने का अवसर ही नहीं मिला था। शत्रुओं से घिरे घनघोर युद्ध की यह सबसे अच्छी रणनीति थी।

दिन भर युद्ध चलता रहा। संध्या होते-होते आक्रमण अत्यधिक ढीला पड़ा। स्पष्ट लगा कि अब तो न कोई आक्रामक रहा और न कोई आक्रांता। यादवों का संपूर्ण नाश निकट मालूम हुआ।

छंदक का बचाव भी विलक्षण था। वह ढाल पर तो रोकता ही था, बहुत से बाण अपने तन पर भी रोकता था। अंत में लहूलुहान हो गया। अचानक कहीं से एक शेल फेंका गया, जिसका लक्ष्य मैं था। छंदक ने अपने वक्ष पर उसे ले लिया और मेरी गोद में ढुलक गया।

शायद यह शेल आज के युद्ध का अंतिम शस्त्र था। मैंने छंदक के वक्ष से उसे निकालते हुए कहा, ''तू तो शस्त्रों से बेतरह छिद गया है, छंदक!''

जीवन की अंतिम मुसकराहट उसके अधरों पर आई और वह टूटती आवाज में बोला, ''नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि··· ।''

मुझे लगा कि उसके भीतर मैं ही बोल रहा हूँ।

वह लड़खड़ाती आवाज में कहता गया—''मैं आपकी छाया हूँ। जैसे अँधेरे में छाया वस्तु में समा जाती है वैसे मैं भी आप पर छा रहे अंधकार के समय अब आपमें समा रहा हूँ।''

फिर सबकुछ शांत हो गया। यादवी युद्ध भी शांत, छंदक भी शांत, प्रकृति भी शांत। यदि कोई अशांत था तो मैं।

मैंने व्यग्रता में दारुक से कहा, ''दारुक, अब सहा नहीं जाता। छंदक का बिछुड़ना असह्य हो रहा है।''

''पर छंदक बिछुड़ा कहाँ है! वह तो आपमें ही समा गया।''

मेरा मन बोल उठा—'दारुक ठीक कह रहा है। वह राधा की तरह मुझमें ही समा गया। जैसे राधा का मेरे सिवा संसार में कोई नहीं था—और जो था, उसे छोड़कर वह मेरी हो गई थी वैसे ही छंदक का भी कोई नहीं था। उसे किसीको छोड़ना नहीं पड़ा। वह मेरा ही था और मुझमें ही समाविष्ट हो गया।' फिर मैं बड़ी देर तक रथ पर ही शांत बैठा रहा।

अंत में दारुक को ही कहना पड़ा—''अब शांत बैठने से क्या होगा! हमें शीघ्र द्वारका चलना चाहिए। अब तो संपूर्ण यादवों का विनाश हो गया।''

''संपूर्ण मत कहो, दारुक! अभी तो मैं जीवित हूँ।'' मैंने कहा, ''क्या तुम अक्रूर चाचा के संबंध में कुछ बता सकोगे? वह आक्रामक होकर बहुत आगे बढ़ गए थे।''

वह तुरंत रथ से उतरकर युद्धक्षेत्र में आगे बढ़ गया। थोड़ी देर बाद लौटकर उसने बताया—''अक्रूर चाचा का धड़ तो कटा हुआ एक जगह पड़ा है और जिस कटे हुए हाथ को देखकर मुझे संदेह हुआ, वह भी शायद उन्हींका रहा हो।''

''चलो, सब समाप्त हो गया।'' यह अंतिम आवाज थी मेरी। फिर प्रभासक्षेत्र में मैं कुछ बोला नहीं।

मैं वहाँ से चल पड़ा। अँधेरा हो गया था। आज का अंधकार बड़ा गाढ़ा लग रहा था। चारों ओर अंधकार, बाहर अंधकार, भीतर अंधकार, ऊपर अंधकार, नीचे अंधकार। अंधकार के सिवा अब मेरे लिए कुछ नहीं था। मैं उसी रथ पर ढुलक गया। मेरा शरीर तो स्थिर था; पर मन गति की उस सीमा पर था, जहाँ हर वस्तु स्थिर दिखाई देती है—रथ के पहिए की तरह।

थोड़ी देर बाद मैंने दारुक से कहा, ''सबका पता तो चल गया, पर बलराम भैया का कोई पता नहीं है।''

''उनके बारे में कोई कह रहा था कि वे बड़े दु:खी और खिन्न होकर समुद्र की ओर चले गए हैं। उन्होंने अपने हितैषियों से यह भी कहा है कि अब मुझे कोई खोजने की चेष्टा मत करना।''

''इसका तात्पर्य है कि उन्होंने जल-समाधि ले ली।'' मैंने कहा।

अब मेरे पास कुछ भी सोचने को नहीं रहा। सबकुछ शांत हो गया—एकदम शांत। जीवन का सारा कोलाहल मौत के सन्नाटे में बदल गया और मैं उस अपूर्व सन्नाटे का कड़ुवा घूँट पीता रहा।

दिन-रात चलता रहा। रास्ता लंबा था। बीच-बीच में ग्राम पड़ते गए। मैं रथ में ढुलका पड़ा रहा। वायु वेग से भागते उस वाहन में मैं किसीको दिखाई पड़ा होऊँगा और किसीको नहीं भी। जिसने देखा होगा, उसने अस्वस्थ समझा होगा।

न मस्तिष्क में शांति थी और न मन में चैन। तन का ताप भी बढ़ गया था! न मैंने कुछ खाया-पिया, न दारुक ने। बीच-बीच में जल की अवश्य आवश्यकता पड़ती थी, जिसे मैं दारुक से मँगवा लिया करता था।

जब मैं द्वारका की परिधि के निकट पहुँचा, सवेरा हो चला था। अर्जुन और उद्धव मंद गति से आते हुए दिखाई दिए। शायद वे मेरी प्रतीक्षा करते चले आए थे। उनके निकट पहुँचते ही दारुक ने रथ रोक दिया।

दोनों ने दौड़कर मुझे उठाया। उन्हें लगा कि मैं घायल हो गया हूँ। उन्होंने मेरा सारा शरीर टटोला; पर कहीं कोई घाव नहीं।

''मेरा शरीर घायल नहीं है, मित्र! पर मन बुरी तरह घायल है। बेतरह टूट चुका हूँ। अब न तन में शक्ति रही और न मन में।'' इतना कहते हुए मैं उद्धव से लिपट गया और धीरे-धीरे सारी कथा कह सुनाई।

फिर द्वारका के बाहरी उद्यान में मैं अपने चिर साथी अश्वत्थ वृक्ष के नीचे लेट गया। इस वृक्ष से मेरा बड़ा पुराना लगाव है। यहाँ मुझे शांति मिलती है। आज मैंने इसीका सहारा लिया।

''आप यहाँ क्यों लेट रहे हैं?'' अर्जुन ने कहा, ''द्वारका में चलकर राजभवन में आराम से विश्राम कीजिए।''

''अब कौन सा मुँह लेकर द्वारका जाऊँ? क्या कहूँगा रुक्मिणी से? क्या कहूँगा सत्यभामा से? क्या कहूँगा जांबवती से कि तुम्हारे बच्चों की बलि चढ़ाकर आ रहा हूँ? फिर कैसे सामना करूँगा रेवती भाभी का? मुझे यहीं विश्राम करने

दो। मैं थका-हारा हूँ। टूटा हुआ हूँ। एक ऐसा लुटा हुआ जुआरी हूँ, जो जीतकर भी हारा है।''

फिर उन दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। अर्जुन सदा की तरह मेरे पैर सहलाने लगा और उद्धव सिर। मैं कई दिनों का जगा था। शीघ्र ही आँखें लग गईं।

अब क्या देखता हूँ कि चिर परिचित मुशल मेरे सामने अट्टहास कर रहा है। उसी अट्टहास से एक आवाज उभरती है—'मुझे पहचानते हो? मैं एक तपस्वी के संताप से जनमा हूँ। काल का प्रतिनिधि हूँ। मैंने सारे यादवों का विनाश किया है। कहाँ रह गया तुम्हारा ईश्वरत्व? किस भ्रम में तुम पड़े थे? और अभी क्या देखते हो! तुम्हारी महान् कृति द्वारका शीघ्र ही समुद्र में समा जाएगी। इसे समुद्र वैसे ही निगल जाएगा जैसे महाकाल सृष्टि निगल जाता है।'

आवाज और तेज होती है—'इसे याद रखो कि यह मृत्युलोक है। यहाँ एक तपोनिष्ठ की निष्काम तपस्या के समक्ष ईश्वरत्व भी निष्प्रभावी हो जाता है।'

मैं एकदम हड़बड़ाकर जाग उठा। लोग घबरा गए।

''क्या हुआ? क्या हुआ? आप अभी तो सोए हैं। एक घड़ी भी तो नहीं हुई!'' उद्धव ने भी पूछा और अर्जुन ने भी।

''जो हुआ उसे छोड़ो, अर्जुन! तुम द्वारका जाकर सूचना दो कि लोग यथाशीघ्र द्वारका छोड़ दें। द्वारका समुद्र में जाने वाली है।''

तब तक दारुक आया। उसने बताया—''महाराज, आपका रथ अदृश्य हो गया है।''

□

अंतिका
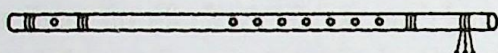
आखिरकार इस आत्मकथा का अंत हो ही गया। जिसका आदि होता है उसका अंत भी होता ही है; पर जो अनंत है उसका आदि-अंत क्या! उस अनंत को इस आदि-अंत की आत्मकथा में बाँधने का प्रयास वैसा ही है जैसा सिंधु को एक बड़े पात्र में समेटने का या हिमगिरि को पगों से नापने का अथवा समय को भूत और भविष्य से अलग कर केवल वर्तमान में ही रखने का।

फिर क्या मेरी यह चेष्टा व्यर्थ है? शायद नहीं। सागर भले ही पात्र में न समाए; पर पात्र में जो कुछ होगा, वह सागर का जल ही होगा। हिमगिरि भले ही पगों से न नापा जा सके; पर जो यात्रा होगी, वह हिमगिरि की ही होगी। समय भले ही भूत-भविष्य से अलग न हो सके; पर वर्तमान तो रहेगा ही और वर्तमान को जीने का आनंद भी।

इस आत्मकथा के पहले भी कथा थी और बाद में भी कथा चलती रहेगी—'हरि अनंत हरि कथा अनंता'।

⌘

यह उपन्यास है, शास्त्र नहीं। फिर भी यदि आपकी मानसिकता इसे या इसके किसी अंश को शास्त्र समझ बैठती है तो भी मुझे प्रसन्नता ही होगी; क्योंकि इसमें जो कुछ है, वह शास्त्रसम्मत ही है। कथा की बनावट, बुनावट तथा रूपांकन मेरा है; पर सही तो यह है कि मेरे द्वारा किया गया है, कर्ता तो कोई और है।

⌘

कृष्ण के साथ छाया की तरह लगा छंदक काल्पनिक चरित्र है; जैसे सुदामा और राधा। सुदामा का जिक्र तो 'श्रीमद्भागवत' में थोड़ा सा आता है—और कहीं नहीं है; पर राधा तो कहीं दिखाई ही नहीं देती। फिर भी कृष्ण के साथ कैसे आ गई, उनपर इतनी कैसे छा गई—आज भी शोध का विषय है; यद्यपि इसपर शोध हुए हैं और हो रहे हैं।

⌘

कृष्ण कथा के अनेक अंश अनेक ग्रंथों में अनेक तरह से हैं। किसी विशेष ग्रंथ में उसकी तलाश करना उचित न होगा। कथाएँ आपस में इतनी उलझी हैं कि उन्हें सुलझाकर एक सूत्र में लाना बड़ा कठिन है। स्वयं महाभारत में अनेक बातें अनेक स्थलों पर अनेक तरह से कही गई हैं। उदाहरणार्थ—केवल धृतराष्ट्रपुत्रों के नामों की तीन सूचियाँ बनती हैं, जिनमें काफी भिन्नता है।

शायद इन्हीं कारणों से कृष्ण पर अब तक जितनी पुस्तकें आई हैं, उनके रचयिताओं ने कृष्ण की समग्रता को नहीं छुआ है। कोई बालकृष्ण पर मुग्ध है तो कोई रासबिहारी कृष्ण पर, तो कोई महाभारत के कृष्ण पर। किसीने कुरुक्षेत्र पर स्वयं को सीमित रखा है तो किसीका मन वृंदावन में रमा है, तो कोई यशोदा के आँगन में रस लेता रह गया है।

क्या यह छोटे मुँह बड़ी बात होगी, यदि मैं यह कहूँ कि आठ खंडों की इस आत्मकथा में मैंने समग्र कृष्ण को अपने दृष्टि-पथ में रखा है?

१९२८ की शरत् पूर्णिमा को अकबरपुर (अब अंबेडकर नगर), फैजाबाद (उ.प्र.) में जनमे हनुमान प्रसाद शर्मा लेखन जगत् में 'मनु शर्मा' नाम से विख्यात हैं। लगभग डेढ़ दर्जन उपन्यास, दो सौ कहानियों और अनगिनत कविताओं के प्रणेता श्री मनु शर्मा की साहित्य साधना हिंदी की किसी भी खेमेबंदी से दूर, अपनी ही बनाई पगडंडी पर इस विश्वास के साथ चलती रही है कि 'आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो बरसों बाद मैं डायनासोर के जीवाश्म की तरह पढ़ा जाऊँगा।'

अनेक सम्मानों और पुरस्कारों से विभूषित श्री मनु शर्मा ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लिखा है; पर कथा आपकी मुख्य विधा है। 'तीन प्रश्न', 'मरीचिका', 'के बोले माँ तुमि अबले', 'विवशिता' एवं 'लक्ष्मणरेखा' आपके प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। 'पोस्टर उखड़ गया' सामाजिक कहानियों का संग्रह है। 'मुंशी नवनीतलाल' और अन्य कहानियों में सामाजिक विकृतियों तथा विसंगतियों पर कटाक्ष करनेवाले तीखे व्यंग्य हैं। 'द्रौपदी की आत्मकथा', 'अभिशप्त कथा', 'कृष्ण की आत्मकथा' (आठ भागों में), 'द्रोण की आत्मकथा', 'कर्ण की आत्मकथा' और अब यह अत्यंत रोचक कृति—'गांधारी की आत्मकथा'।

सम्मान और अलंकरण—गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट. की मानद उपाधि और उत्तर प्रदेश हिंदी समिति द्वारा 'साहित्य भूषण' विशेष उल्लेख्य हैं।